प्रकाशक
शारदा प्रकाशन, भागलपुर-२

मुद्रक :
शारदा प्रेस, भागलपुर

आवरण चित्रकार
रामसिंह

प्रथम संस्करण
२२०० प्रति १९५७

मूल्य—पूर्वार्द्ध ९)
उत्तरार्द्ध ९)



सकलकलोद्भासितपत्तद्वय - सकलोपधा-
विशुद्ध-मखशतपूत-प्रसन्नमूर्ति-स्थिरोन्नत होमकरज्वल-
ज्योतिर्ज्योतिर्मुख-स्वाधीनोदारसार-स्थगितनृपराजन्य-
शतशतपरिलुठन्मौलिमाणिक्यरोचिचरण - प्रियवाचा-
मायतन-साधुचरितनिकेतन-लोकाश्रयमार्गतरु- भारत-
गणपतिर्भौमब्रह्ममहाराजाभित्र - श्रीराजेन्द्रप्रसादाय-
ह्यजातशत्रवे अथगणतन्त्राब्धे पुण्याहे भौमे माघमासे
सितदले तृतीयायां वैक्रमीये-कलाधरेश्वरशून्यनेत्राब्दे,
निवेदयामि साञ्जलिस्वीयसाहित्य-कृतिं वयंरक्षाम
इतिसामोदमहं चतुरसेनः ।

परिच्छेद-सूची



पूर्व-निवेदन

मेरे हृदय और मस्तिष्क में भावों और विचारों की जो आधी शताब्दी की अर्जित प्रज्ञा-पूंजी थी, उस सब को मैंने 'वय रक्षामः' में झोंक दिया है। अब मेरे पास कुछ नहीं है। लुटा-पिटा-सा, ठगा-सा, श्रान्त-क्लान्त बैठा हूँ। चाहता हूँ—अब विश्राम मिले। चिर न सही, अचिर ही। परन्तु यह हवा में उड़ने का युग है। मेरे पिताश्री ने बैलगाड़ी में जीवन-यात्रा की थी, मेरा शैशव इक्का-टांगा-घोड़ों पर लुढ़कता; तथा यौवन मोटर पर दौड़ता रहा। अब मोटर और वायुयान को अतिक्रान्त कर आठ सहस्र मील प्रति घंटा की चालवाले राकेट पर पृथ्वी से पांच सौ मील की ऊंचाई पर मेरा वार्धक्य उड़ा चला जा रहा है। विश्राम मिले तो कैसे? इस युग का तो विश्राम से आचूड़ वैर है। बहुत घोड़ों को, गधों को, बैलों को बोझा ढोते-ढोते बीच राह मरते देखा है। इस साहित्यकार के ज्ञानयज्ञ की पूर्णाहुति भी किसी दिन कहीं ऐसी हो जायगी। तभी उसे अपने तप का सम्पूर्ण पुण्य मिलेगा।

गत ग्यारह महीनों में दो-तीन घन्टों से अधिक नहीं सो पाया। सम्भवतः नेत्र भी इस ग्रन्थ की भेंट हो चुके हैं। शरीर मुर्झा गया है, पर हृदय आनन्द के रस में शराबोर है। यह अभी मेरा पैंसठवां ही तो वसन्त है। फिर रावण जगदीश्वर मर गया तो क्या? उसका यौवन, तेज, दर्प, दुस्साहस, भोग और ऐश्वर्य, जो मैं निरन्तर इन ग्यारह मासों में रात-दिन देखता रहा हूँ, उसके प्रभाव से कुछ-कुछ शीतल होती हुई रक्तबिन्दु अभी भी नृत्य कर उठती हैं। गर्म राख की भांति अभी भी उनमें गर्मी है। आग न सही, गर्म राख तो है।

फिर अभी तो मुझे मार खानी है, जिसका निमन्त्रण मैं पहले दे चुका हूँ। मार तो मैं सदैव ही खाता रहा हूँ। इस बार का अपराध तो बहुत भारी है। 'वय रक्षाम' में प्राग्वेदकालीन जातियों के सम्बन्ध में सर्वथा अकल्पित-अतर्कित नई स्थापनाएं हैं, मुक्त सहवास है, विवसन विचरण है, हरण और पलायन है। शिश्न-देव की उपासना है, वैदिक-अवैदिक अश्रुत मिश्रण है। नर-मांस की खुले बाजार में बिक्री है, नृत्य है, मद है, उन्मुक्त अनावृत यौवन है। यह सब मेरे वे मित्र कैसे बर्दाश्त करेंगे भला, जो अश्लीलता की सम्भावना से सदा ही चौंकायमान रहते हैं।

परन्तु मैं तो भयभीत नहीं हूँ। जैसे आपका शिव-मन्दिर में जाकर शिव-लिङ्ग-पूजन अश्लील नहीं है, उसी भांति मेरा शिश्न-देव भी अश्लील नहीं है। उसमें भी धर्म-तत्त्व समावेशित है। फिर वह मेरा नहीं है, प्राचीन है, प्राचीनतम है। सनातन है, विश्व की देव, दैत्य, दानव, मानव आदि सभी जातियों का सुपूजित है।

सत्य की व्याख्या साहित्य की निष्ठा है। उसी सत्य की प्रतिष्ठा में मुझे प्राग्वेदकालीन नृवंश के जीवन पर प्रकाश डालना पड़ा है। अनहोने, अविश्रुत, सर्वथा अपरिचित तथ्य आप मेरे इस उपन्यास में देखेंगे, जिनकी व्याख्या करने के लिए मुझे उपन्यास पर तीन सौ से भी अधिक पृष्ठों का भाष्य भी लिखना पड़ा है। फिर भी आप अवश्य ही मुझसे सहमत न होंगे। परन्तु आपके गुस्से के भय से तो मैं अपने मन के सत्य को मन में रोक रखूंगा नहीं। अवश्य कहूंगा और सबसे पहले आप ही से।

साहित्य जीवन का इति-वृत्त नहीं है। जीवन और सौन्दर्य की व्याख्या का नाम साहित्य है। बाहरी संसार में जो कुछ बनता-बिगड़ता रहता है, उस पर से मानव-हृदय विचार और भावना की जो रचना करता है, वही साहित्य है। साहित्यकार साहित्य का निर्माता नहीं, उद्गाता है। वह केवल बांसुरी में फूंक भरता है। शब्द-ध्वनि उसकी नहीं, केवल फूंक भरने का कौशल उसका है। साहित्यकार जो कुछ सोचता है, जो कुछ अनुभव करता है, वह एक मन से दूसरे मन में, एक काल से दूसरे काल में, मनुष्य

की बुद्धि और भावना का सहारा लेकर जीवित रहता है। यही साहित्य का सत्य है। इसी सत्य के द्वारा मनुष्य का हृदय मनुष्य के हृदय से अमरत्व की याचना करता है। साहित्य का सत्य ज्ञान पर अवलम्बित नहीं है, भाव पर अवलम्बित है। एक ज्ञान दूसरे ज्ञान को धकेल फेंकता है। नए आविष्कार पुराने आविष्कारों को रद्द करते चले जाते हैं। पर हृदय के भाव पुराने नहीं होते। भाव ही साहित्य को अमरत्व देता है। उसीसे साहित्य का चिर सत्य प्रकट होता है।

परन्तु साहित्य का यह सत्य असल सत्य नहीं है। असल सत्य और साहित्य के सत्य में भेद है। जैसा है वैसा ही लिख देना साहित्य नहीं है। हृदय के भावों की दो धाराएं हैं, एक अपनी ओर आती है, दूसरी दूसरों की ओर जाती है। यह दूसरी धारा बहुत दूर तक जा सकती है। विश्व के उस छोर तक। इसलिए, जिस भाव को हमें दूर तक पहुँचाना है, जो चीज दूर से दिखानी है, उसे बडा करके दिखाना पडता है। परन्तु उसे ऐसी कारीगरी से बड़ा करना होता है,जिससे उसका सत्य रूप बिगड़ न जाय, जैसे छोटे फोटो को इन्लार्ज किया जाता है। जो साहित्यकार मन के भाव के इस छोटे-से सत्य को बिना विकृत किए इतना बड़ा इन्लार्ज करके प्रकट करने की सामर्थ्य रखता है कि सारा संसार उसे देख सके, और इतना पक्का रंग भरता है कि शताब्दियां-सहस्राब्दियां बीत जाने पर भी वह फीका न पड़े, वही सच्चा और महान् साहित्यकार है।

केवल सत्य की ही प्रतिष्ठा से साहित्यकार का काम पूरा नहीं हो जाता। उस सत्य को उसे सुन्दर बनाना पडता है। साहित्य का सत्य यदि सुन्दर न होगा तो विश्व उसे कैसे प्यार करेगा? उस पर मोहित कैसे होगा? इस लिए, सत्य में सौन्दर्य की स्थापना करनी पड़ती है। सत्य में सौन्दर्य की स्थापना के लिए आवश्यकता है संयम की। सत्य में जब सौन्दर्य की स्थापना होती है, तब साहित्य कला का रूप धारण कर जाता है।

सत्य में सौन्दर्य का मेल होने से उसका मंगल रूप बनता है। यह मंगल रूप ही हमारे जीवन का ऐश्वर्य है। इसीसे, हम लक्ष्मी को केवल

ऐश्वर्य की ही देवी नहीं, मंगल की भी देवी मानते हैं। जीवन जब ऐश्वर्य से परिपूर्ण हो जाता है, तब वह स्वयं आनन्द-रूप हो जाता है। और साहित्यकार ब्रह्माण्ड के प्रत्येक कण को 'आनन्दरूपममृत' के रूप में चित्रित करता है। इसी को वह कहता है 'सत्य-शिव-सुन्दरम्'।

'वैशाली की नगरवधू' लिखकर मैंने हिंदी-उपन्यासों के सम्बन्ध में एक यह नया मोड़ उपस्थित किया था, कि अब हमारे उपन्यास केवल मनोरंजन की तथा चरित्र-चित्रण भर की सामग्री न रह जायगे। अब यह मेरा नया उपन्यास 'वयं रक्षाम:' इस दिशा में अगला कदम है। इस उपन्यास में प्राग्वेदकालीन नर, नाग, देव, दैत्य, दानव, आर्य, अनार्य आदि विविध नृवंशों के जीवन के वे विस्मृत पुरातन रेखाचित्र हैं, जिन्हें धर्म के रंगीन शीशे में देखकर सारे संसार ने उन्हें अंतरिक्ष का देवता मान लिया था। मैं इस उपन्यास में उन्हें नर-रूप में आपके समक्ष उपस्थित करने का साहस कर रहा हूँ। 'वयं रक्षाम:' एक उपन्यास तो अवश्य है, परन्तु वास्तव में वह वेद, पुराण, दर्शन और वैदेशिक इतिहास-ग्रन्थों का दुस्सह अध्ययन है। आज तक कभी मनुष्य की वाणी से न सुनी गई बातें, मैं आपको सुनाने पर आमादा हूँ। मैं तो अब यह काम कर ही चुका। अब आप कितनी मार मारते हैं, यह आपके रहम पर छोड़ता हूँ। उपन्यास में मेरे अपने जीवनभर के अध्ययन का सार है, यह मैं पहले ही कह चुका हूँ।

उपन्यास में व्याख्यात तत्वों की विवेचना मुझे उपन्यास में स्थान-स्थान पर करनी पड़ी है। मेरे लिए दूसरा मार्ग था ही नहीं। फिर भी प्रत्येक तथ्य की सप्रमाण टीका के बिना मैं अपना बचाव नहीं कर सकता था। अत: ढाई सौ पृष्ठों का भाष्य भी मुझे अपने इस उपन्यास पर रचना पड़ा। अपने ज्ञान में तो मैं सब कुछ कह चुका। पर अन्तत: मेरा परिमित ज्ञान इस अगाध इतिहास को साङ्गोपाङ्ग व्यक्त नहीं कर सकता था। संक्षेप में, मैंने सब वेद, पुराण, दर्शन, ब्राह्मण और इतिहास के प्रासों की एक बड़ी-सी गठरी बाँधकर इतिहास-रस में एक डुबकी दे दी है। सबको इतिहास-रस

में रँग दिया है। फिर भी यह इतिहास-रस का उपन्यास नहीं 'अतीत-रस' का उपन्यास है। इतिहास-रस का तो इसमें केवल रंग है, स्वाद है अतीत-रस का। अब आप मारिए या छोड़िए, आपको अख्तियार है।

एक बात और, यह मेरा एक सौ तेईसवां ग्रन्थ है। कौन जाने, यह मेरी अंतिम कलम हो। मैं यह घोषित करना आवश्यक समझता हूँ कि मेरी कलम और मैं खुद भी काफी घिस चुके हैं। प्यारे पाठक और लगुड़हस्त मित्र यह न भूल जायं।

ज्ञानधाम-प्रतिष्ठान
दिल्ली-शहादरा
२६ जनवरी १९५५

—चतुरसेन

उसे, किसी ने स्वर्ण-दान देते हुए स्पर्श किया उसका कमल-कोमल करतल। किसी पर उसने भ्रूपात किया, किसी पर कटाक्षपात। किसी पर बंकिम दृष्टि दी, किसी को देखकर हंस दी।

स्वर्ण-खण्ड कमर में बंधे चर्मकोष में बांधे और स्वर्ण पैजनियों को कच्छप चर्म उपानत पर किंकिरित करती हुई वह चली मद्य की हाट पर। बहुत जन विमोहित-विमूढ़ हो उस उन्मत्त अनावृत उन्मुख यौवन को आंखों से पीते आगे-पीछे इधर-उधर चले। मद्य की हाट पर जाकर उसने पीठ पुरुष से कहा—'दे मद्य!'

"ला स्वर्ण।"

"कैसा स्वर्ण?"

"वह, जो अभी चर्मकोष में बांधा है।"

"वह तो मातृ-चरण के लिए है।"

"तो मद्य यहां कहां है?"

"इन माण्डों में क्या गरल है?"

"स्वर्ण जो नहीं देते उनके लिए गरल है।"

"तो गरल ही दे।"

"गरल देने की नगरपाल की आज्ञा नहीं है। मद्य लेना हो तो ले।"—पीठ पुरुष ने दांत निकाल दिए।

"ला फिर मद्य दे।"

"तो ला स्वर्ण।"

"अरे मूढ, कैसा स्वर्ण?"

"मद्य क्या यों ही बटता है, शुल्क दे।"

"नृत्य क्या देखा नहीं तूने?"

"क्यों नहीं, नेत्रों को अवश देखना पड़ा, पर इसमें मेरा दोष नहीं। तू मेरी हाट के सामने आकर क्यों नाची?"

इतने में एक तरुण भीड़ से आगे आया। उसका किशोर वय था, उज्ज्वल श्याम वर्ण, काकपक्ष ग्रीवा पर लहरा रहे थे,

कमर में कृष्णाजिन, कन्धे पर धनुष-तूणीर, हाथ में शूल, विशाल वक्ष, बड़ी-बड़ी आंखें, प्रशस्त ललाट, भींगती मसें, कुंचित भृकुटि, हरि-सी कटि, कठोर पिंड़लिएँ, अभय मुद्रा, सुहाससिक्त अभिनन्दित मुखश्री।

तरुण ने एक स्वर्ण पीठ पुरुप के सामने फेककर कहा—स्वर्ण, मैं देता हूँ—उसे तू मद्य दे।"

पीठ पुरुष ने हंसकर स्वर्ण को परखा और मंजूषा में रख, मद्यभाण्ड उठा कर तरुणी को दे दिया। भाण्ड को मुँह में लगा कर तरुणी गटागट मद्य पीने लगी। आधा भाण्ड पीकर उसने तृप्त होकर सांस ली, जीभ से होठों को चाटा—हंसी, फिर दो कदम आगे बढ़, अपना अनावृत, उन्मुख यौवन तरुण के बज्र वक्ष से बिल्कुल सटा कर घूर्णित, मदरंजित कटाक्ष तरुण पर फेंक, दोनों भुजाओं में मद्यभाण्ड थाम, ऊँचा कर, उसे तरुण के होठों से लगाकर कहा—"अब तू पी।"

तरुण ने अपनी भुजाओं मे तरुणी को समेट लिया। एक ही सांस मे वह सारा मद्य पी गया। फिर उसने तरुणी के लाल-लाल होठों पर अपने मदसिक्त अधर रखकर कहा—"अब चल।" तरुणी हंस दी। उज्ज्वल हीरकावलि के समान उसकी धवल दन्तपंक्ति बिजली-सी कौंध उठी। उसने मद्यभाण्ड फेक तरुण के कण्ठ में अपनी भुजवल्लरी डालकर कहा—"चल।"

दोनों परस्पर आलिंगित हो एक ओर को चल दिए। नर, नाग, देव, दैत्य, असुर, मानुष, आर्य, व्रात्य सब नगर-नागर पीछे रह गए।

तरुण ने पूछा—"तेरा ग्राम यहां कहां है?"

"उस उपत्यका में, अर्जुना के तट पर।"

"कब वह आया है।"

"इसी शरदतु में।"

"कहां से?"

"काश्यप सागर-तट से।"

"काश्यप सागर-तट पर क्या तेरा पुर है?"

"वहां मातृकुल रहता है।"

"किस पुर में?"

"हिरण्यपुर में।"

"तू क्या असुर-कुल से है?"

"नहीं, दैत्य-कुमारी हूँ, और तू?"

"मैं ऋषिकुमार हू। पर मातृकुल मेरा भी दैत्य-कुल से है।"

"और पितृकुल?"

"आर्य व्रात्य।"

"कहां का है तू?"

"आन्ध्रालय का"।

"तो यहां बलिद्वीप में कैसे घूम रहा है?"

"तेरे ही लिए"—तरुण ने हसकर उसे और कसकर वक्ष से सटा लिया।

तरुणी ने उसे ठेलते हुए कहा—"धिग्विपन्न, सत्य कह।"

"अब तो सत्य यही है, मैं तुझ पर विमोहित हूँ।"

"कब से?"

"इसी क्षण से।"

"तो उधर चल।"

"क्या ग्राम में?"

"नहीं, उपत्यका के उस अचल में।"

"वहां क्या है?"

"विजन वन है, सघन छाया है, एक सरोवर है, उसमें शतदल

कमल खिले हैं। चक्रवाक, सारस का आखेट वहां बहुत है। हरिण भी हैं। आखेट अच्छा होगा। आखेट खाएंगे और रमण करेंगे, चल।"

"चल।"

दोनों उस गहन बन में घुस गए। परस्पर गुथे हुए-से।

२

तू न प्रथम है न अन्तिम

उपत्यका का वह प्रान्त विजन और सघन था। वहां निर्मल जल का सरोवर था, सरोवर में शतदल कमल खिले थे। ताल तमाल हिन्ताल की सघन छाया में मध्याह्न की धूप छन कर—शीतल होकर सोना-सा बखेर रही थी। मन्द पवन चल रहा था। सरोवर में चक्रवाक, सारस, हंस, आदि नाना विहंग थे। तरुणी एक विशाल शाल्मली वृक्ष के नीचे सूखे पत्तों पर लेट गई। हंसते हुए उसने कहा—अब तू आखेट ला।

तरुण ने धनुष पर हाथ डाला। गर्दन ऊंची कर इधर-उधर देखा। वह लम्बे-लम्बे डग भरता हुआ बन में घुस गया। एक हरिण और कुछ पक्षी मार कर वह लौटा। तरुणी ने फुर्ती से अरणी घिसी—सूखे ईंधन में अग्न्याधान किया। तरुण ने आखेट के मांस खण्ड किए। दोनों ने मांस भून-भून कर खाना आरम्भ किया। तरुणी बहुत भूखी थी, वह रुच-रुच कर मांस खाने लगी। कभी आधा मांसखण्ड खाकर वह तरुण के मुंह में ठूंस देती, कभी उसके हाथों से छीनकर स्वयं खा जाती। खा-पीकर तृप्त होकर वह तरुण की जांघ पर सिर रख कर लेट गई। दोनों भुजा ऊंची करके उसने तरुण की कटि लपेट ली। वह बोली—"बड़ा हस्तलाघव है तुझमें।"

"मुझे प्रयास करना ही न पड़ा। आखेट सहज ही मिल गया।" तरुण ने हंसकर कहा।

"तू किस कुल का आर्य है?"

"वैश्रवण पौलस्त्य हूं।"

"तूने कहा था—तेरा मातृकुल दैत्यकुल है।"

लगाकर कहा—"अब उठ।"

तरुण ने तरुणी के होठों पर होठ रखकर वक्ष पर भार डालते हुए, होठों ही में कहा—"ठहर तनिक।"

"अब नहीं, देखता नहीं, सूर्य की किरणें तिरछी हो चलीं।' उसने धकेलकर तरुण को अपने से पृथक किया और हंसती हुई उसे खींच कर जल में धस गई।

दोनों विवसन, विजन वन के अगम जल में क्रीड़ा करने लगे। अमल नील जल आन्दोलित हो उठा। दोनों एक दूसरे के पूरक—एक दूसरे के एकान्त साक्षी थे। दोनों के मुक्त यौवन, कभी जल-तल पर और कभी जल-गर्भ मे मिथुन मीन से विचरने लगे। कभी तरुणी जल में डुबकी लगाती—तरुण उसे ढूँढ़ लाता। कभी दोनों तैरने चले जाते दूर तक। कभी दोनों संश्लिष्ट हो तैरते। कभी उनके वक्ष परस्पर टकराते, कभी अधरोष्ठ। कभी तरुणी जल की बौछार तरुण पर मारती। कभी तरुण उसके विवसन अनावृत गात्र को दोनों बलिष्ट भुजाओं मे सिर से ऊंचा उठा कर जोर से किलकारी मारता।

सूर्य क्षितिज पर झुक चला। श्रान्तक्लान्त तरुणी तरुण का हाथ थाम जल से निकली। जल-बिन्दु दोनों के अंगों पर ढर-ढर कर मोती की भांति इधर-उधर भूमि पर बिखरने लगे।

वह एक शिलाखण्ड पर अलस भाव से उत्तान लेट गई। अपराह्न की पीली धूप उसके सम्पूर्ण विवस्त्र गात्र पर फैल गई। तरुण भी वहीं आ खड़ा हुआ। जल उसके लौहगात से टपक रहा था। उसके बाहुपाश में बहुत से शतदल कमल पुष्प थे। उन्हें उसने तरुणी पर बखेर दिए। तरुणी ने उसके गात को भरपूर दृष्टि से पीते हुए कहा—"कमनीय है तू रमण, प्रिय है, प्रियतम है, आ, शृंगार दे मुझे। कपोलों पर लोध्र-रेणु मल दे, कुचों को शैलेय से चित्रित कर, सघन जघन को अरविन्द-

मकरन्द से सुरभित कर, चरणतल को लाक्षारंजित कर, कुन्तल वृत्त में ये शतदल कमल गूँथ, पिंडलियों में मृणाल मसल। आ, मेरे निकट आ, परिरम्भण दे मुझे, विश्रान्त कर, ओ प्रिय—प्रियतम।"

तरुण ने विधिवत रमणीय रमणी को शृंगारित किया। कुचों को शैलेय से चित्रित किया। कपोलों में लोध्र-रेणु मला, अधरों पर लाक्षा रस, केशों में कमल गूंथे। जघन को मकरन्द से सुरभित किया। भुजाओं में मृणाल-वलय लपेट दिए। रमणीय रमणी वह शृंगारित हो, मूर्तिमती, सान्ध्य-वनश्री-सी दिप उठी। तरुणी का शृंगार सम्पन्न करके तरुण ने हंसते हंसते पूछा—"अब और तेरा क्या प्रिय करूं ?" तरुणी ने अपने भारी-भारी पलकों में बंकिम कटाक्ष भर कर, आपाद तरुण को विवसन देख, दांतों में लाल-लाल जीभ को दबाकर सीत्कार-सी करते हुए मन्द स्वर में कहा—"अब परिरम्भण दे, आप्यायित कर, चुम्बन कर, सर्वांग चुम्बन कर।" उसने दोनों भुज-मृणाल ऊंचे फैला दिए। तरुण ने आह्लाद अतिरेक से आवेशित सा होकर सान्ध्य वनश्री-सी उस कमनीय कामिनी को अपनी बलिष्ट बाहुओं में अधर उठा कर वक्ष में समेट लिया, और उसके प्रत्येक अंग के अगणित चुम्बन ले डाले। आनन्दविभोर हो रमणी ने अपनी भुजवल्लरी रमण के कण्ठ में लपेट शत-सहस्र प्रतिचुम्बन दिए। वह जैसे तरुण के अंग-प्रत्यंग में सम्पूर्ण धंस गई। जगत जैसे खो गया।

अस्तंगत सूर्य की रक्तिम रश्मियां वनश्री को रंजित करने लगीं। तरुण ने धीरे से रमणी को शिलाखण्ड पर बैठाकर अधोवस्त्र दे नीवी बन्धन किया। स्वयं कटिबन्ध पहना—मृगाजिन धारण किया, फिर उसके लाक्षारंजित चरणयुगल गोद में लेकर कच्छप चर्म निर्मित उपानत चरणों में डाल चर्मरज्जु बांधने लगा। तरुणी ने चरण-नख का तरुण के वक्ष पर आघात करके कहा—

"कमनीय है तू रमण।"

"सच ?"

"सच, ऐसा और नहीं देखा।"

"और भी देखे हैं तूने ?"

"बहुत।"

"कितने ?"

"मैंने गिना तो नहीं।"

"इतने ही से यौवन में ?"

"मुझे इसमें अभिरुचि है।"

"काहे में ?"

"नित नए यौवनों के आस्वादन में।

"पर अब तो तू मेरी है ?"

"वाह, ऐसा भी कभी होता है ? मैं दैत्यकन्या हूं, दैत्यबाला की यह मर्यादा नहीं है।"

"कैसी मर्यादा ?"

"जहां मेरा मन होगा रमण करूंगी।"

"और मैं ?"

"तू कमनीय है, रमणीय है, तेरा मातृकुल और पितृकुल वरिष्ठ है, तेरा सहवास सुखकर है, तू भी आ जब जी चाहे।"

"मैं तुझे प्यार करता हूं।"

"प्यार क्या होता है ?"

"जो प्राणों में प्राणों का विलय करता है।"

"तो तू प्यार कर, अनुमति देती हूं। किन्तु तू ही कुछ पहला पुरुष नहीं है, तुझसे पहले बहुत आ चुके हैं, तू ही अन्तिम नहीं है, और अनेक आएंगे।"

तरुण के नेत्रों से अग्निस्फुलिंग निकलने लगे। क्रोध से उसके नथुने फूल गए। उसने तरुणी के चरण गोद से गिरा कर

उसे जोर से शिलाखण्ड पर धकेल दिया और खड़े होकर कहा—"नहीं, अब और नहीं आएंगे। अब जो तुझे छुएगा उसी के साथ तेरा भी मैं तत्क्षण वध करूंगा। मेरी यह मर्यादा है कि एक स्त्री एक ही पुरुष की अनुबन्धित हो।"

धक्का खाकर गिरने से तरुणी को आघात लगा। उसका शृंगार खण्डित हो गया। उसने सर्पिणी की भांति चपेट खाकर उठते हुए, वेग से तरुण के वक्ष पर पादाघात किया। पादाघात खाकर तरुण लुढ़कता हुआ भूमि में गिर गया। उसके उठने से प्रथम ही तरुणी ने फिर पादाघात किया–फिर किया–फिर किया। तरुण का सारा शरीर धूल मे भर गया। उसके मुख से खून झरने लगा। इससे तनिक भी विचलित न होकर तरुणी ने भुजंगिनी की भांति फूत्कार करते हुए कहा—"दैत्य-कुलपति की कुमारी पर मर्यादा बाधनेवाला तू होता कौन है रे अधम ?" पादाघात के लिए उसने फिर चरण उठाए।

तरुण उछल कर एक ओर खड़ा हो गया। मुख का रक्त पोंछ कर उसने कहा—"तेरे साथ मैंने रमण किया है–अब तुझे वध नहीं करूंगा। पर तू मेरी है–केवल मेरी, स्पर्श तो दूर, अब तू किसी पुरुष का ध्यान भी नहीं कर सकती।"

"रमण किया है तो रमण की भांति बात कर, मूर्खता न कर। मुझे भी तेरा विग्रह स्वीकार नहीं है, मैं तुझ पर प्रसन्न हूं।"

"तो मांग ले।"

"क्या ?"

"जो तुझे चाहिए।"

"मुझे देगा तू ?" वह जोर से अट्टहास कर उठी।

"दूंगा, मांग ले।" तरुण ने आवेश मे आकर कहा।

"इस मरकत-मेखला पर इतराता है तू।" तरुणी ने उसकी कमर मे बंधी महार्घ मरकतमणि की मेखला को हाथ से

छूकर कहा।

"तो यही ले।"

"धिग्विपन्न, तू दाता है कि याचक?"

"तेरे प्यार का याचक हू।"

"तो याचक ही रह। दाता का दम्भ न कर।"

उसने आगे बढ़कर तरुण की कमर मे बांह डाल दी और हंस कर कहा—"आ चल, ग्राम चल, एक भाण्ड मद्य पी आ।"

"ग्राम आऊगा, पर मद्य पीने नहीं, तुझे हरण करने।"

"यह कैसी बात?"

"यह मेरी सस्कृति है। रक्ष सस्कृति। कुमारी का हरण हमारे लिए वैध है। हरण की हुई कुमारिया हमारी अनुबधित होती हैं।"

"और तू मुझे अनुबन्धित करेगा? तेरा साहस तो कम नहीं है रे, रमण।"

"मैं रमण नहीं, रावण हू, पौलस्त्य वैश्रवण रावण। भूलना नहीं यह नाम।"

वह तेजी से एक ओर को चल दिया। तरुणी अकेली उस विजन वन में खड़ी, उसे अनिमेष देखती रही। अन्धकार उपत्यका को अपने अक में समेट रहा था।



३

अब से सात सहस्राब्दी पूर्व

अब से सात सहस्राब्दी पूर्व, जब बाली द्वीप के विजन वन में सरोवर के तट पर दैत्यबाला का अभिसार सम्पन्न हुआ, तब तक नृवंश मे विवाह-मर्यादा दृढ़बद्ध नहीं हो पाई थी। नर, नाग, देव, दैत्य, असुर, मानुप, आर्य, व्रात्य सभी में ऐसे ही मुक्त सहवास का प्रचलन था। उन दिनो भारत की भौगोलिक सीमाएं भी आज के जैसी न थीं। आन्ध्रालय से लेकर अन्ध-द्वीप तक—बाली, यवद्वीप, स्वर्णद्वीप, लका, सुमात्रा आदि द्वीप-समूह स्थल-संश्लिष्ट थे और इन द्वीपो मे नर, नाग, देव, दैत्य, दानव, असुर, मानुष, आर्य, व्रात्य सभी नृवंश के जन एक साथ ही रहते थे। कुशद्वीप भी तब तक भारतवर्ष से भूमि-संश्लिष्ट था। उस समय तक विन्ध्य के उस पार भारतवर्ष के उत्तरापथ में आर्यावर्त था, जिसमे सूर्यमण्डल और चन्द्रमण्डल नाम से दो आर्य राज्यसमूह थे। सूर्यमण्डल मे मानव-कुल और चन्द्रमण्डल मे एल कुल राज्य करता था। उत्तरापथ से ऊपर भारतवर्ष के सीमान्त पर पिशाचो, गन्धर्वों, किन्नरों, देवो और असुरों के जन-पद थे। एलम आदित्यो का मूल स्थान था, उर पुर और अत्रिपत्तन मे देवों का आवास था और उनके पास काश्यप-तट पर चारो ओर दूर तक असुर, गरुड़, नाग, दानव, दैत्यो के खण्ड राज्य फैले हुए थे।

जिस तरुण ने दैत्यबाला को पौलस्त्य रावण वैश्रवण कह कर अपना परिचय दिया था, उसी की बात कहते हैं। वह मेधावी और तेजस्वी तरुण उनदिनों आन्ध्रालय महाद्वीपसे अपने साहसिक वीर साथियो सहित उत्तर-पश्चिमी द्वीप-समूहों को जय करता

हुआ स्वर्ण लंका की ओर जा रहा था। उसने भारत के समस्त दक्षिणी द्वीप-समूहों—अंगद्वीप (सुमात्रा,) यवद्वीप (जावा,) मलयद्वीप, (मलाया,) शंखद्वीप (बोर्नियो,) कुशद्वीप, (अफ्रीका) और वाराह द्वीप (मेडागास्टर)—पर अधिकार कर लिया था। अब उसकी नजर चारों ओर समुद्र से घिरी हुई, बड़े बड़े सोने के प्रासादों से सज्जित हुई, स्वर्ण लंका पर थी, जिसे उसने अपनी राजधानी बनाने को चुना था। उन दिनों लंका का अधिपति इस तरुण का सौतेला भाई लोकपाल धनेश वैश्रवण कुबेर यक्ष-राज था।

आजकल जिस महाद्वीप को आस्ट्रेलिया कहते हैं, उस काल में उसका नाम आन्ध्रालय था। उन दिनों भारत और आस्ट्रेलिया के बीच इतना अन्तर न था। लंका और मेडागास्टर की भूमि भी बहुत विस्तृत थी, तथा भारत को आस्ट्रेलिया से जोड़ती थी। उन दिनों ये सब द्वीप भारत के अनुद्वीप माने जाते थे तथा ये द्वीपपुंज जो एक दूसरे से मिलेजुले थे, इनका विशाल भूभाग लंका महाराज्य के अन्तर्गत था।

जिस समय की घटना हम इस उपन्यास में वर्णित कर रहे हैं, उससे कुछ दशाब्दी पूर्व ही कान्यकुब्जपति कौशिक विश्वमित्र ने अपने पचास परिजनों को दक्षिणारण्य में निर्वासित कर दिया था। उन दिनों ऐसी परिपाटी आर्यावर्त में थी। आर्यजन दूषित जनों को दक्षिणारण्य में निर्वासित कर दिया करते थे। इन निर्वासित जनों के दक्षिणारण्य में बहुत जनपद स्थापित हो गए थे। इन बहिष्कृत पचास कौशिक परिजनों के सब परिवार दक्षिणारण्य में ही न बसकर आगे—आन्ध्रालय तक चले गए और वहीं बस गए। आर्य-सभ्यता और संस्कृति के कारण ही उनके जनपद संस्कृत और सुसम्पन्न हो गए और इन परिवारों ने वहां की मूल जातियों से सम्पर्क स्थापित कर अपने को आन्ध्र घोषित

कर दिया, तथा उस महाद्वीप का नाम भी आन्ध्र ही रख लिया। इस जनपद का प्रमुख पुरुष महिदेव कहलाने लगा। जिस समय की घटना हमारे इस उपन्यास में वर्णित है, उस समय से कुछ प्रथम आन्ध्रालय का महिदेव तृणविन्दु था। तृणविन्दु मनुपुत्र नरिष्यान्ति का पुत्र था। इसी के काल में वेदर्षि पुलस्त्य वहां गए और महिदेव तृणविन्दु के अतिथि बने। उन दिनों सभी आर्य-अनार्य जातियों में राजसत्ता और धर्मसत्ता संयुक्त ही थी। अधिकांश में ऐसा ही होता था। तृणविन्दु भी धर्म और राज्य का अधिकारी था। ऋषि पुलस्त्य आर्य और युवक थे, सुन्दर तथा सुप्रतिष्ठित थे। संयोगवश उनका तृणविन्दु की कन्या से प्रेम हो गया। तृणविन्दु ने अपनी पुत्री इलविला उन्हें व्याह दी तथा उनसे वहीं रहने का अनुरोध किया। पुलस्त्य भी वहीं अपना आश्रम बना पत्नि-सहित रहने लगे।

कालांतर में तृणविन्दु की कन्या इलविला से पुलस्त्य को पुत्र हुआ। पुत्र का नाम उन्होंने विश्रवा रखा और उसे यत्न से वेद पढ़ाया। उन दिनों आर्यों का एकमात्र साहित्य वेद था। वह भी लिखित न था, न आज की भांति चार वेदों के रूप में परिपूर्ण था। केवल थोड़ी सी अस्तव्यस्त ऋचाएं थीं जो कण्ठ-गत रहती थीं, तथा कण्ठपाठ ही ऋषिकुमार पढ़ते थे। आयु पाकर उनमें जो नवीन ऋचाओं का सर्जन कर सकते थे, वे स्वयं ऋषिपद धारण करते थे। युवा होने पर इस तरुण को भरद्वाज ने अपनी कन्या दे दी। उससे वैश्रवण का जन्म हुआ। वैश्रवण बड़ा तेजस्वी, मेधावी और उत्साही तरुण था। तृणविन्दु और पुलस्त्य के समुद्योग से आर्य दिग्पालों ने उसे धनेश कुबेर का पद दे लोकपाल बना दिया। पुष्पक विमान भी उसे भेंट किया। पिता के परामर्श से वह दक्षिण समुद्र के कूल पर त्रिकूट पर्वत पर

बसी हुई लकापुरी की अपनी राजधानी मे रहने तथा परम ऐश्वर्य भोगने लगा। इस समय यह नगरी सूनी पड़ी थी। उसके चारो ओर सुदृढ़ दुर्ग था। गहरी खाई थी। अस्त्रशस्त्र और स्वर्ण-मणि वहां भरपूर थे। वैश्रवण कुवेर ने लोकपाल होकर नगरी को फिर से वसाया। उसे उन्नत किया और देव, गन्धर्व, यक्ष, अप्सरा और असुर, दानवो से सम्पन्न किया।

वास्तव में यह नगरी दैत्यों की थी। हेति और प्रहेति नामक दो सम्पन्न दैत्य सरदार थे। हेति ने काल दैत्य की बहिन भया से विवाह किया था। उससे उसे विद्युत्केश नामक पुत्र उत्पन्न हुआ, जिसका विवाह सन्ध्या की पुत्री सालकटंकटा से हुआ। उससे सुकेश नामक पुत्र उत्पन्न हुआ। उसे विश्वावसु गंधर्व ने अपनी पुत्री वेदवती दे दी, जिससे उसके तीन पुत्र हुए—माली, सुमाली और माल्यवान। ये तीनो ही भाई बड़े वीर्यवान और तेजस्वी हुए। अवसर पाकर इन्हीं तीनो भाइयों ने दक्षिणी समुद्र-तट पर त्रिकूट सुवेल पर्वत पर तीस योजन चौडी और सौ योजन विस्तार की लकापुरी वसाई और उसे विविध भाति सम्पन्न किया। हिरण्यपुर का अतोल हिरण्य ला लाकर उन्होंने सुवर्ण ही के प्रदीप्त प्रासादो को निर्माण किया। धन, रत्न, मणि से वे प्रासाद आपूर्यमाण किए। इन्हे नमदा नाम की गन्धर्वी ने अपनी रूप-यौवनसम्पन्ना तीन पुत्रियां दे दीं। गन्धर्वपुत्रियो से माल्यवान् को सात पुत्र और एक पुत्री हुई। सुमाली को ग्यारह पुत्र और चार पुत्रियां हुई। माली को चार पुत्र हुए। इस प्रकार इन तीनों भाइयो का दैत्य-परिवार वृद्धिगत होकर सुपूजित हुआ। सम्पदा भी वहुत बढ़ी। अपने प्रवल पराक्रम से इन तीनो भाइयों ने पुत्र-पौत्र-परिजनों के साथ आसपास के द्वीपो को विजित कर अतोल मणि, माणिक्य, स्वर्ण एकत्र कर लिया।

इसी समय तृतीय देवासुर-संग्राम का सकट आ उपस्थित हुआ।

इस संग्राम का मूल कारण काश्यप सागर तट में प्राप्त वे स्वर्ण की खानें थीं, जो हिरण्यकश्यप को प्राप्त हुई थीं, और जिनपर अभी तक दैत्यों ही का अधिकार था। जिस समय समुद्र-मंथन हुआ और देवों, असुरों तथा नागो ने मिल कर प्रथम वार काश्यप सागर को पार किया, तो भाग्य से दैत्यों ही को ये स्वर्ण खानें मिलीं। धर्मतः उन्हींका उनपर आधिपत्य रहा। परन्तु देवों के नेता विष्णुने छल-बल से वह प्राप्त सुवर्ण हथिया लिया। इसपर द्वितीय देवासुर-संग्राम हुआ और हिरण्यकश्यप की मृत्यु हुई। परन्तु इसके वाद हिरण्य-कश्यप के पुत्र प्रह्लाद ने विष्णु से मैत्री-संधि कर ली, तथा देवों की ओर से दैत्यों को विष्णुने यह वचन दिया कि अव दैत्यों का रक्त पृथ्वी पर नहीं गिरेगा।

परन्तु हिरण्यपुर और वहां का सारा स्वर्ण-भण्डार दैत्यों ही के अधिकार मे था। दैत्य उसके कारण अधिक सम्पन्न थे। यह वात देवों के नेता विष्णु को वहुत खल रही थी। उसका तर्क यह था कि दैत्यपति हिरण्यकश्यप का वंश और उसका वंश एक ही दादा की संतान है। दोनों ही के दादा मरीचि-पुत्र कश्यप हैं। अतः हमें आधा स्वर्ण-प्रदेश और कश्यप सागर-तट मिलना चाहिए। उधर विष्णु (सूर्य) पुत्र वैवस्वत मनु (एलम) का निवास छोड़ भारत में आर्यावर्त की स्थापना कर चुके थे। इस-लिए दैत्यों का यह जवाव था कि प्रथम तो सूर्य (विष्णु) का मूलवंश यहां अव है ही नहीं; दूसरे यह स्वर्ण-प्रदेश हमारे दादा का पैत्रिक नहीं है, हमारा अपना अर्जित है। इसमे आधा हम देवों को क्यो दें? झगड़ा वढ़ता ही गया। प्रह्लाद की मैत्री कुछ काम न आई और प्रथम प्रह्लाद-पुत्र विरोचन का समर-क्षेत्र मे देवों ने वध किया। फिर तुमुल देवासुर-संग्रास मे देवो की छलवल से जय हुई। वलि वन्दी हुआ। ये तीनों दैत्य-वन्धु भी इस विकट संग्राममें सेना सहित पराजित हुए। इस संग्राम मे

इनके सारे भट और परिजन मारे गए। बड़ा भाई माली तो रणभूमि में ही काम आया। सुमाली और माल्यवान सब सहायक सेना और परिजनों के विनाश तथा दैत्यराज के पतन से हतप्रभ, विक्षिप्त और शोकग्रस्त हो, लज्जा-क्षोभ और भय तथा ग्लानि के मारे लंका लौटे ही नहीं—पाताल में जाकर छिप गए। कुछ ग्लानि से और कुछ देवों के भय से उनका साहस लंका में जाने का न हुआ। आजकल जिस स्थान को अबीसोनिया कहते हैं, उन दिनों वही पाताल कहाता था। सुमाली के इस स्थान को आज भी सुमालीलैंड कहते हैं। वह स्थान अफ्रीका के पूर्वीय भाग में है। इससे लंका चिरकाल तक सूनी, उजाड़ और अरक्षित बिना स्वामी की नगरी की भांति विपन्नावस्था में पड़ी रही। उसी सूनी लंका पर वैश्रवण ने लोकपाल धनेश कुबेर होकर आर्य नेताओं और देवों की सहमति से अधिकार कर लिया।

बहुत काल बीतने पर सुमाली फिर अपने गुप्तवास से प्रकट हुआ। इस समय सुमाली वृद्ध हो चला था। उसके साथ उसकी षोडपी पुत्री कैकसी और ग्यारहों पुत्र थे। वे सभी बालक ही थे। उसकी इच्छा थी कि वह किसी प्रकार अपनी लंका का उद्धार करे और उसी में अपने इस प्रतिष्ठित दैत्यवंश को फिर से स्थापित करे। परन्तु अग्नि के समान तेजस्वी कुबेर लोकपाल को देख उसका साहस न हुआ। अब वह सोचने लगा कि अब ऐसा मैं कौन सा काम करूं जिसमें मेरे कुल की भलाई हो। उसने दूरदर्शिता से विचार कर अपनी प्राणाधिका पुत्री कैकसी से कहा—"हे पुत्री, तू रूप और गुण में लक्ष्मी के समान है। अब तू युवावस्था को प्राप्त हुई। मैं चाहता हूँ कि तू प्रजापति के वंश में उत्पन्न पुलस्त्य के पुत्र विश्रवा मुनि के पास जा और उसको पति बनाकर कुबेर के समान तेजवान पुत्र उत्पन्न कर। जबतक तू ऐसा न करेगी हम बन्धनमुक्त न होंगे।" इस प्रकार कैकसी

को सब आगापीछा समझा बुझा कर उसने उसे पुलस्त्य-पुत्र विश्रवा के पास उसके आश्रम मे भेज दिया। कैकसी ने विश्रवा के पास जाकर कहा—"हे तपोधन, मैं दैत्य महासेनापति सुमाली की कन्या हूँ और आपके पास पिता की आज्ञा से पुत्रप्राप्ति की अभिलाषा से आई हूं।" विश्रवा मुनि अब अधेड़ावस्था मे थे। इस रूपसी तरुणी दैत्यबाला के ये वचन सुन और उसका तारुण्य देख मोहित हो गए। उन्होंने उसका प्रस्ताव स्वीकार कर लिया, और उसे अपने निकट आश्रम मे रख लिया। सुमाली दैत्य भी पुत्रों-सहित वहीं विश्रवा के आश्रम मे जाकर रहने लगा। सुमाली बड़ा दूरदर्शी और राजनीतिज्ञ पुरुष था। इस कार्य से उसका सम्बन्ध प्रजापति के वंश से स्थापित हो गया। अब वह पुत्री के पुत्र की धैर्यपूर्वक प्रतीक्षा करने लगा। समय प्राप्त होने पर विश्रवा को कैकसी से तीन पुत्र और एक पुत्री हुई। पुत्रों में रावण, कुम्भकरण और विभीषण तथा पुत्री सूर्पनखा। विश्रवा ने तीनों पुत्रो को विधिवत वेद पढ़ाया। परन्तु इन बालकों के नाना सुमाली की तो कुछ दूसरी ही अभिसन्धि थी। ये बालक अपने मामाओं के साथ खेलते-खाते बड़े होने लगे। रातदिन उन्हीं का साथ उन्हें रहने लगा। उन सब पर नाना सुमाली का प्रभाव रहा। इन सब के बीच माता कैकसी का नियन्त्रण। इस प्रकार मां-मामा-नाना इस मातृकुल का ही सांस्कृतिक प्रभाव इन बालकों पर पितृ-कुल की अपेक्षा अधिक रहा। दैत्यकुल मे मातृकुल की प्रधानता की परम्परा थी ही। विश्रवा मुनि ने इस बात पर अधिक ध्यान नहीं दिया। एक बार धनेश्वर कुबेर पुष्पक विमान पर चढ़ कर अपने पिता से मिलने आया। कैकसी ने उसे दूर से दिखा कर रावण से कहा—"अपने भाई धनेश्वर कुबेर को देख, और अपनी ओर देख। इसकी अपेक्षा तू कितना दीनहीन है। मेरी अभिलाषा है कि तू उद्योग करके इसके समान हो जा।" माता के ये

वचन सुन तथा कुवेर का ऐश्वर्य देख, रावण को बड़ी ईर्ष्या हुई। उसने हुकार भर के कहा—"माता, तू चिन्ता न कर, मैं अपने इस भाई के समान ही नहीं, इससे भी बड़ा बनकर रहूगा।" अब ज्योंही रावण और उसके भाई युवा हुए, उनके नाना सुमाली ने अपनी पैतृक नगरी लका लेने के लिए उन्हे उकसाया। बहुधा सुमाली रावण को छाती से लगाकर और लम्बी-लम्बी उसासे लेकर कहता—"अरे दौहित्र, मैं तुझसे क्या कहू, हम तीनों भाइयों ने अपने भुजबल से हिरण्यपुर की अतोल सम्पदा, कोटि भार स्वर्ण इस लकापुरी में लाकर इसे सम्पन्न किया। इसके हर्म्य-सौध सब हिरण्यपुर के अनुरूप स्वर्ण ही से निर्मित कराए, उसे मैंने सब भांति सुपूजित, सुप्रतिष्ठित किया। परन्तु भाग्यदोष से वह मेरी स्वर्ण लका अब मेरी न रही। आज यदि वह मेरी होती, तो पुत्र, तू ही उसका स्वामी और अधिपति होता। वह सब धन-रत्न, मणि-माणिक्य हिरण्यमय सौध-हर्म्य सब तेरे ही तो हैं। पुत्र, तू ही उनका स्वामी है। वहा के सब स्वर्ण-भण्डार, शस्त्रागार एव वैभव का मैं तुझसे कहा तक वर्णन करू? आज तुझे, प्राणों से प्रिय अपने दौहित्र को, अनाथ की भांति देख मेरी छाती फटती है। परन्तु मैं कहता हूँ—"पुत्र, एक दिन तू ही लंका का अधीश्वर, दक्षिण का लोकपाल और इन सब द्वीप समूहो का स्वामी हो, सर्वजयी, यशस्वी नरपति होगा। मैं तेरे अग में ऐसे लक्षण देख रहा हू और मेरे ये पुत्र तेरे मामा प्रहस्त, अकम्पन, विकट, कालिकामुख, धूम्राक्ष, दण्ड, सुपार्श्व, महाबल, सह्रादि, प्रहस्त और भासकर्ण तेरे आधीन मत्री होंगे।" रावण महत्वाकांक्षी, साहसी और मेधावी था। इस प्रकार नाना और मामा से बारम्बार उकसाया जाने से उसके मन में महाराज्य संगठन की आकांक्षा उत्पन्न हो गई। उसमें तीन रक्तों का मिश्रण था। प्रजापति के वश का सर्वोत्तम आर्य रक्त, बहिष्कृत व्रात्य रक्त और

दैत्य रक्त। वह अपने भाइयों, मित्रों और तरुणों को लेकर आंध्रालय से निकला। उसका प्रधान सलाहकार उसका नाना सुमाली उसके साथ था। सुमाली के दो पुत्र प्रहस्त और अकम्पन तथा माल्यवान के पुत्र विरूपाक्ष तथा मारीचि, महोदर मंत्रियों की भांति उसके साथ थे। वह एक-एक करके सब द्वीप-समूहों को जय करता हुआ इस समय यवद्वीप में आ पहुँचा था।

यहां तत्कालीन वातावरण और प्राचीन इतिहास पर थोड़ा प्रकाश डालना आवश्यक है। उस विस्तृत प्रागैतिहासिक युग का यत्किंचित् दिग्दर्शन करने के बाद हम अपने उपन्यास को आगे चलाएंगे।



४
मनुर्भरत

हमारे पाश्चात्य गुरुओं ने हमे वचपन मे पढ़ाया था कि आर्य लोग खानाबदोश गडरियो की भांति भद्दे छकड़ो मे अपने जंगली परिवारों और पशुओ को लिए इधर से उधर भटकते फिरा करते थे। पीछे लोगो ने पत्थरो के नुकीले हथियारों से काम लेना सीखा। मानवो की इस सभ्यता को वे यूलिथ-सभ्यता कहते हैं। इसमें कुछ सुधार हुआ तो फिर "चिलियन" सभ्यता आई। इन हथियार-औजारो की सभ्यता के समय का मनुष्य अधिक अंशों में नर-वानर ही था। उसमें वास्तविक मनुष्यत्व का बीजारोपण नहीं हुआ था। "मुस्टेरियन"-सभ्यता के पश्चात् "रेनडियन" सभ्यता का प्रादुर्भाव हुआ। इस समय लोगों में मानवोचित वुद्धि का विकाश होने लगा था। फिर इसके वाद सभ्यताए वास्तविक सभ्यताएं कहलाई। इनमें से पहली सभ्यता नव पापाण कालीन कही जाती है। इसके युग का मनुष्य अपने ही जैसा ही वास्तविक मनुष्य था। यह यूथिल सभ्यता से लेकर नव पापाण सभ्यता तक का काल पापाण-युग कहाता है।

पापाण-युग के वाद मानव-जाति मे धातु-युग का प्रादुर्भाव हुआ। धातु-युग का प्रारम्भ ताम्रयुग से होता है। नव-पाषाण युग के अत तक मनुष्य की वुद्धि वहुत कुछ विकसित हो गई थी। इसी समय कृपि का आविष्कार हुआ। कृषि ही सभ्यता की माता है। आर्य ही संसार में सबसे प्रथम कृपक थे। कृपि के उपयोगी स्थानों की खोज में आर्य पजाब की भूमि में आए—इसी का नाम सप्तसिन्धु देश रखा। वे सारे सप्तसिन्धु देश में फैल गए। परन्तु उनकी सभ्यता का केन्द्र सरस्वती-तट था। सरस्वती-तट

पर ही आर्यों ने ताम्रयुग की स्थापना की। यहां उन्हें ताम्बा मिला और वे अपने पत्थर के हथियार छोड़कर ताम्बे के हथियारों को काम में लेने लगे। इस ताम्रयुग के चिह्न अन्वेषकों को "चान्हू-ढेरों" तथा "विजनौत" नामक स्थानों में खुदाई में मिले हैं। ये स्थान सरस्वती-प्रवाह के सूखे हुए मार्ग पर ही हैं। मैसोपोटामिया तथा इलाम में यही सभ्यता—प्रोटोइलामाइट-सभ्यता कहाती है। सुमेरु-जाति प्रोटोइलामाइट जाति के बाद मैसोपोटामिया में जाकर बसी है। सुमेरु-सभ्यता के बाद मिस्र की सभ्यता का उदय हुआ। प्रसिद्ध पुरातत्वविद् डा० डी० टेरा, जो अमेरिकन विद्वान हैं, निश्चित रूप से सिन्धु-प्रदेश को पत्थर और धातुयुग से मिलानेवाला कहते हैं। ताम्र सभ्यता के बाद काँसे की सभ्यता आई। काँसे की सभ्यता संभवतः सुमेरियन लोगों की थी। उनका यह भी कहना है कि काँसे की सभ्यता वाली ये सुमेरु-खत्ती (हिटाइट) क्रीटन-मिस्री आदि जातियों की सभ्यताएं किसी अन्य अज्ञात देश में ताम्बे की सभ्यता में विकसित हुई थीं। मैसोपोटामिया के उर-फरा-किश तथा इलाम के सुसा और तपा-मुस्यान आदि देशों से उन्हें खुदाई में काँसे की सभ्यता के नीचे ताम्र सभ्यता के अवशेष मिले हैं। मैसोपोटामिया में जहां-जहां इस प्रोटो-इलामाइट कही जाने वाली ताम्र सभ्यता के चिन्ह मिले है, उसके और सुमेरु जाति की कांसे की सभ्यता के स्तरों के बीच में किसी बहुत बड़ी बाढ़ के पानी द्वारा जमी हुई चिकनी मिट्टी का उसे ४ फुट मोटा स्तर प्राप्त हुआ है। योरोपीय पुरातत्ववेत्ताओं का यह मत है कि मिट्टी का यह स्तर उस बड़ी बाढ़ द्वारा बना था, जिसको प्राचीन ग्रन्थों में नूह का प्रलय कहते है। ताम्रयुग की प्रोटोइलामाइट-सभ्यता के अवशेष इस प्रलय के स्तर के नीचे प्राप्त हुए हैं। इसका यह अर्थ लगाया गया कि इस प्रलय से प्रथम ही प्रोटो-इलामाइट सभ्यता

का अस्तित्व था। इस सभ्यता के अवशेषों के नीचे कुछ स्थानों में निम्न श्रेणी की पाषाण-सभ्यता के चिन्ह प्राप्त हुए हैं। यह पाषाण-सभ्यता अत्यन्त निम्न श्रेणी की थी। इसमें प्रोटो-इलामाइट सभ्यता के विकसित होने के कुछ प्रमाण नहीं मिले। इस पर से इन पुरातत्त्व के विद्वानों ने यह निष्कर्ष निकाला है कि प्रोटो-इलामाइट लोग अपनी ताम्र-सभ्यता के साथ किसी अन्य देश से इलाम और मैसोपोटामिया में आकर बसे थे। यहां आकर उन्होंने यहा के मूल निवासी पाषाण-सभ्यता वाली जाति को नष्ट कर दिया और स्वय वहां वस गए। ये खेती करते, पशु पालते तथा ऊनी वस्त्र पहनते थे। ताम्बे के हथियार और औजार इस्तेमाल करते थे। ये किस देश के मूल निवासी थे, इसका पता ये महानुभाव पुरातत्त्ववेत्ता नहीं लगा सके हैं। यह जाति इस प्रलय में नष्ट हो गई। प्रलय के बाद एक जाति कहीं से कांसे की सभ्यता वाली आई और मैसोपोटामिया में बस गई। यही जाति सुमेरु कहाई। डाक्टर फेन्क फोर्ट, डी मार्गन, डा० लॅंग्डन आदि विद्वानों ने यह निर्णय दिया है। परन्तु यह प्रोटो-इलामाइट जाति कौन थी, प्रलयके बाद वह कहां चली गई, इसका कुछ पता ये महानुभाव नहीं पा सके।

इसके बाद सर जान मार्शल ने सिन्ध के आमरी प्रदेश की खुदाई की। उन्होंने उस ताम्र सभ्यता को आमरी सभ्यता का नाम दिया, और भूगर्भ में प्राप्त अनेक वस्तुओं के साम्य से उन्होंने यह निष्कर्ष निकाला कि प्रोटो-इलामाइट-सभ्यता तथा आमरी सभ्यता एक ही है। यही सभ्यता सप्तसिन्धु में सरस्वती-तट पर विकसित हुई थी। वास्तव मे ये लोग आर्य ही थे जो बिलोचिस्तान और ईरान होते हुए इलाम तथा मैसोपोटामिया में प्रलय के बाद जाकर बस गए थे।

अब मैं इन सब पुरातत्ववेत्ताओं की इन गवेषणाओं पर हर्फ

मारने की धृष्टता करता हूं। जिन सूत्रों को हाथ में लेकर मैं आगे बढ़ना चाहता हूं, उनमें इन पाश्चात्य विद्वानों के वर्णित स्थान सुषा, एलम, सप्तसिन्धु, प्रलय और इन प्रदेशों में जातियों के आवागमन की मान्यताओं के अतिरिक्त ऋग्वेद, ब्राह्मण, विष्णु पुराण, मत्स्य पुराण तथा पुराणों के अस्तव्यस्त—अव्यवस्थित वर्णन हैं। इन्हीं सूत्रों पर मैं इस प्रागैतिहासिक काल के कुछ धुंधले रेखाचित्र यहां उपस्थित करता हूं। मैं इन आगत आक्रान्ता-समागत जनों के नाम-धाम-जाति और उनके और भी महत्वपूर्ण विवरण यहां उपस्थित करूंगा, जिनके मूल वक्तव्य तो पुराणों आदि में हैं, परन्तु जिनका समर्थन पर्शिया, अरब, अफ्रीका, मिस्र और अरब तथा मध्य एशिया के प्राचीन इतिहासों से होता है।

सबसे पहिले मैं समय-निरूपण के सम्बन्ध में यह कहना चाहता हूं कि पुराणों में प्राचीन समय का विभाग मन्वन्तरों की गणना के अनुसार किया गया है। मन्वन्तर को छोड़ कर अतीत काल की स्थिति जानने का कोई और उपाय नहीं है। परन्तु पुराणों में यह काल-गणना इतनी बढ़ाचढ़ा कर की गई है कि उनकी वर्णित काल-गणना बेकार ही है। परन्तु मन्वन्तरों के कथन से हमें यह लाभ अवश्य हुआ कि वैवस्वत मनु के पहिले हमें छै मन्वन्तर मिलते हैं। इतने ही आधार को लेकर जिस मन्वन्तर में जो घटनाएं वर्णित हैं, उनका पूर्वापर सम्बन्ध मिलाकर मैं उसी के आधार पर यह काल-गणना कर रहा हूं।

ईसा से कोई चार हजार वर्ष पूर्व भारतवर्ष के मूल पुरुष स्वायंभुव मनु उत्पन्न हुए। इनकी तीन पुत्रियां तथा दो पुत्र हुए। पुत्रों के नाम प्रियव्रत और उत्तानपाद थे। प्रियव्रत के दस पुत्र हुए। इन्हें प्रियव्रत ने पृथ्वी बांट दी। ज्येष्ठ पुत्र अग्निन्ध्र को उसने जम्बूद्वीप (एशिया) दिया। इसे उसने अपने नौ पुत्रों में बांट दिया। बड़े पुत्र नाभि को हिमवर्ष—हिमालय से

अरब समुद्र तक देश मिला। नाभि के पुत्र महाज्ञानी-सर्वत्यागी ऋषभदेव हुए। ऋषभदेव के पुत्र महाप्रतापी भरत हुए—जिन्होंने अष्टद्वीप जय किए, और अपने राज्य को नौ भागों में बांटा। इन्हीं के नाम पर हिमवर्ष का नाम भारत, भारतवर्ष या भरतखण्ड प्रसिद्ध हुआ। इसके अनन्तर इस प्रियव्रत शाखा में पैंतीस प्रजापति और चार मनु हुए। चारों मनुओं के नाम स्वारोचिष, उत्तम, तामस और रैवत थे। इन मनुओं के राज्यकाल को मन्वन्तर माना गया। चाक्षुष रैवत मन्वन्तर की समाप्ति पर छत्तीसवां प्रजापति और छठा मनु, स्वायम्भुव मनु के दूसरे पुत्र उत्तानपाद की शाखा में चाक्षुष नाम से हुआ। इस शाखा में ध्रुव, चाक्षुष मनु, वेन, पृथु, प्रचेतस आदि प्रसिद्ध प्रजापति हुए। इसी चाक्षुष मन्वन्तर में बड़ी-बड़ी घटनाएं हुईं। भरत वंश का विस्तार हुआ। राजा की मर्यादा स्थापित हुई। वेदोदय हुआ। इस वंश का वेन प्रथम राजा था। इस वंश का पृथु—वैन्य प्रथम वेदर्षि था। उसने सबसे प्रथम वैदिक मंत्र रचे। अगम भूमि को समथर किया गया। उसमें बीज बोया गया। इसी के नाम पर भूमि का पृथ्वी नाम विख्यात हुआ। इसी वंश के राजा प्रचेतस ने बहुत से जंगलों को जला कर उन्हें खेती के योग्य बनाया। जंगल साफ कर नई भूमि निकाली। कृषि का विकास किया। इन छहों मनुओं के काल का समय—जो लगभग तेरह सौ वर्ष का काल है—सतयुग के नाम से प्रसिद्ध है। मन्वन्तर-काल में वह प्रसिद्ध प्रलय हुआ जब कि काश्यप सागर तट की सारी पृथ्वी जल में डूब गई। केवल मनु अपने कुछ परिजनों के साथ जीवित बचा।

सतयुग को ऐतिहासिक दृष्टि से दो भागों में विभक्त किया जाता है—एक प्रियव्रत शाखा-काल—जिसमें पैंतीस प्रजापति और पांच मनु हुए। दूसरा उत्तानपाद शाखा-काल—जिसमें चाक्षुष मन्वन्तर में दस प्रजापति और राजा हुए।

सांस्कृतिक दृष्टि से भी इस काल के दो भाग किए जाते हैं। एक प्राक्वेद काल—उनतालीसवें प्रजापति तक, दूसरा वेदोदय काल—इसके बाद। भूमि का बटवारा, महाजल प्रलय, प्रलय, वैकुंठ का निर्माण, भूसंस्कार, कृषि, राज्य-स्थापना, वेदोदय, तथा भारत और पर्शिया में भरतों की विजय, इस काल की बड़ी-बड़ी सांस्कृतिक और राजनैतिक घटनाएँ हैं। वेदोदय चाक्षुष मन्वन्तर की सबसे बड़ी सांस्कृतिक घटना है। परन्तु सबसे बड़ी ऐतिहासिक घटना पर्शिया पर आक्रमण भी इसी युग की है।

चाक्षुष मनु के पांच पुत्र थे। अत्यराति जानन्तपति, अभिमन्यु, उर, पुर और तपोरत। उर के द्वितीय पुत्र अंगिरा थे। इन छहों वीरों ने पर्शिया पर आक्रमण किया था। उस काल में पर्शिया का साम्राज्य चार खण्डों में विभक्त था। जिनके नाम सुग्द, मरु, वरवधी और निशा थे। पीछे हरयू (हिरात) और वक्रित (कावुल) भी इसी राज्य में मिला लिए गए थे, तथा यहां पर प्रियव्रत शाखा के स्वारोचिष मनु के वंशज राज्य कर रहे थे। जानन्तपति महाराज अत्यराति चक्रवर्ती कहे जाते थे। वे आसमुद्र क्षितीश थे। भारतवर्ष की सीमा के अंतिम प्रदेश और पर्शिया का पूर्वी प्रान्त, जो सत्यगिदी के नाम से विख्यात है, उस समय सत्यलोक कहाता था। उसी के सामने सुमेरु के निकट वैकुण्ठ धाम था, जो देमावन्द–एलवुर्ज पर्वत पर अभी तक "ईरानियन-पैराडाइस" के नाम से प्रसिद्ध है। देमावन्द तपोरिया-प्रान्त में है। इसी प्रान्त के तपसी विकुण्ठा और उसके पुत्र वैकुण्ठ थे। वैकुण्ठधाम उन्हींकी राजधानी थी।

चक्रवर्ती महाराज अत्यराति जानन्तपति के दूसरे भाई का नाम मन्यु या अभिमन्यु था। प्राचीन पर्शियन इतिहास में उन्हें मैन्यु और ग्रीक में 'मैमनन' कहा गया है। अर्जनेम में अभिमन्यु (Aphumon) दुर्ग के निर्माता, तथा ट्राय युद्ध के विजेता यही

अभिमन्यु हैं। प्रसिद्ध पुराण काव्य 'ओडेसी' में इन्हीं अभिमन्यु महाराज की प्रशस्ति वर्णन की गई है। इन्हींने ही सुपा नाम की नगरी बसाई जो सारे संसार भर में प्राचीनतम नगरी थी। इसी का नाम मन्युपुरी था। अत्यराति के तृतीय भाई उर थे। इन्होंने अफ्रीका, सीरिया, बैबीलोनिया आदि देशों को जीता और ईसा से २००० वर्ष पूर्व अब्राहम को पद-दलित कर पूर्वी मिस्र में अपना राज्य स्थापित किया। इस कथा का संकेत ईसाइयों के पुराने अहदनामे में मिलता है। आज भी उर बैबिलोनिया का एक प्रदेश है। प्रसिद्ध उर्वशी अप्सरा इसी उर प्रदेश की थी। ईरान के एक पर्वत का नाम भी उरल है। उरफा–उरगज नगर है। उसका-उरखेगल प्रदेश है। उरमिया प्रदेश भी है, जहां ज़ोरास्टर का जन्म हुआ था। अफ्रीकामें भी एक प्रान्त रायो-डि-ओरो है। उर-वंशियों के ईरान में उर, पुर और वन ये तीन राज्य स्थापित हुए।

उर के दूसरे भाई पुर थे। अब भी एलबुर्ज के निकट इनकी राजधानी पुरसिया है। इन्हीं के नाम पर ईरान का नाम पर्शिया पड़ा। पुर और उर के भाई तपोरत थे। इन्होंने 'तपोरत' नाम से अपना राज्य स्थापित किया जो अब तपोरिया प्रान्त कहाता है। वहां अब के निवासी तपोरत कहाते हैं। इसी प्रदेश में वैकुण्ठ है, जो देमावद पर्वत पर है। तपसी वैकुण्ठ महाराज तपोरत ही के वंशज थे। इन्हीं की राजधानी वैकुण्ठधाम थी। तपोरत के राजा आगे देमाबंन्द कहाने लगे, जिन्हें हम देवराज कहते हैं। आजकल इस तपोरिया भूमि को मजांदिरन कहते हैं।

जानंतपति अत्यराति के वंशज अरोट हैं। आरमेनिया इनका प्रान्त है। अरोटों ने आगे असुरों से भारी-भारी युद्ध किए हैं। अरोट पर्वत भी अत्यराति के नाम पर ही है। सीरिया का नगर अत्यरात भी (Adhraot) इन्हीं के नाम पर है।

उर के पुत्र अंगिरा थे, जिन्होंने अफ्रिका को जय किया।

अंगरा-पिक्यूना के निर्माता और विजेता यही थे। अंगिरा और मन्यु की विजयो—युद्धो और अभियानों के वर्णनो से ईरानी-हिब्रू धर्मग्रन्थ भरे पड़े है।

इन छहों भरतो ने ईरान पर इतना उग्र आक्रमण किया था कि वहां के सब जन और शासक उनसे अभिभूत हो गए। उनके सर्वग्राही और भयानक आक्रमण से पददलित होकर वे उन्हें अहित देव—दुखदाई अहरिमन और शैतान कह कर पुकारने लगे। अवस्ता मे अंगिरामन्यु—अहरिमन कहा है। बाइबिल में उन्हें शैतान कहा गया है। मिल्टन के "स्वर्ग-नाश" की कथा में इसी विजेता को शैतान कहा गया है। पाश्चात्य देशो के पुराण-इतिहास इन्हीं छै विजेताओं की दिग्विजय के वर्णनो से भरे हुए हैं। पाश्चात्य पुराण-साहित्य में इन्हें विकराल देव, और शैटानिक-होस्ट के, अधिनायक कहा गया है। ये छहो अमर अनहितदेव की भांति ईरान के प्राचीन उपास्यदेव हो गए थे। इन्हीं की विजय-गाथा मिल्टन ने चालीस वर्ष तक गान की है। पाश्चात्य इतिहास-वेत्ता इस आक्रमण का काल ईसा से कोई तेईस सौ वर्ष पूर्व बताते हैं। हमारा अनुमान है कि मसीह से लगभग साढ़े तीन हजार वर्ष पूर्व, प्रलय से कुछ ही वर्ष पूर्व चाक्षुषों का यह आक्रमण ईरान के निवासी अपने ही भाईबन्दो पर हुआ था और इनके वशधर वहीं बस गये थे। यही कारण है कि भारतीय पुराणो में इनके पूर्वजों का वंशवृत्त तो है, परन्तु इनके वंशजों का वंश-विस्तार नहीं है। इनका वंश-विस्तार इन विजित उपनिवेशो के प्राचीन इतिहास में मिलता है।

५

प्रलय

मसीह से लगभग बत्तीस सौ वर्ष पहिले यह जगद्विख्यात प्रलय हुआ था, जिसका वर्णन संसार की सब प्राचीन पुस्तकों में है। इस प्रलय का वर्णन हमारे ब्राह्मण ग्रन्थों तथा पुराणों में तो है ही, प्राचीन पर्शिया के इतिहास-लेखक जैनेसिस ने भी इस सम्बन्ध मे बहुत कुछ लिखा है। यह प्रलय सभवतः वर्तमान मेसोपोटामिया और पर्शिया के उत्तरपश्चिम प्रदेश में हुआ था। पाठक यदि नक्शे में ध्यान से देखेंगे तो उन्हें पता लगेगा कि पर्शिया का यह भाग दक्षिण मे फारस की खाडी और उत्तर मे काश्यप सागर से दबा हुआ है। पर्शिया के पश्चिमोत्तर कोण में जो आरमीनिया प्रदेश है, वहां के बर्फीले पर्वतों से फरात नदी निकल कर मेसोपोटामियां में आई है, जो मेसापोटामियां की खास नदी है। यह नदी बहुत बडी और विस्तार वाली है। मेसोपोटामियां में और भी नदियां हैं। शतुल अरब ऐसी नदी है जिसमें समुद्र में चलने वाले जहाज आ-जा सकते थे। कहते हैं, प्राचीन बसरा नगर-जो ईसा की छठी या सातवीं शताब्दी में बसाया गया था, उसमें एक लाख बीस हजार नहरें थीं, जिनमें नावें चलती थीं। इससे हम समझ सकते हैं कि ये नदियां समुद्र के समान ही गहरी और बड़ी थीं। सम्भवतः बर्फ का बांध टूट कर इसी दजला नदी में बाढ़ आई और उस प्रदेश को, जो फारस की खाड़ी और काश्यप सागर के बीच है, समूचा डुबो दिया। इस भूस्थल में कुछ ऐसे स्थल थे, जो समुद्रतल से अठारह हजार फुट तक ऊँचे थे। वहां सभवतः जल नहीं पहुचा। परन्तु वृक्ष,वन-

स्पति और मनुष्य, पशुपक्षी इस देश के भी नष्ट हो गए। पैलेस्टाइन का वह भाग, जो फारस की खाड़ी के पश्चिमदक्षिण है, समुद्रतल से केवल छ हजार फुट ऊंचा है। वह सर्वथा जलमग्न हो गया और वहां के सब जीवजन्तु-वनस्पति नष्ट हो गए। यह नष्ट होनेवाली जाति अरॉट थी जो महाराज अत्यराति जानन्तपति की वंशज थी। दक्षिण रूस का नाम उन दिनों उत्तर मद्र था। यहीं से मद्र—मेडेज—ईरान मे आए थे,जिनके वंश धर महारथी शल्य मद्रपति महाभारत-संग्राम मे सम्मिलित हुए थे।

इस प्रलय मे सारा ईरान जलमग्न हो गया और वह मृत्युलोक बन गया। उस प्रलय का कारण वहां के किसी ज्वालामुखी का स्फोट था। ज्वालामुखी के स्फोट से वर्फ की चट्टानें टूट गई और दजला नदी का उद्गम—काश्यपसागर और फारस की खाड़ी इन सबने मिलकर ईरान को जलमग्न कर दिया। काश्यप सागर-प्रदेश में एक स्थान वाकू है, जहां अब भी पृथ्वी से अग्नि निकलती है। इस अग्निदृश्य को देखने सिकन्दर भी गया था। यह अग्निदृश्य संभवतः उसी ज्वालामुखी के स्फोट का अवशेष है। शतपथ ब्राह्मण मे तथा मत्स्य पुराण में इस प्रलय की जो घटना वर्णित है, उसमे लिखा है कि मनु के हाथ एक मछली—मत्स्य लगी जिसने उसकी रक्षा की। इस मत्स्य का भी इतिहास सुनिए। यह मनु संभवतः मन्यु—अभिमन्यु या उसके वंशधर थे। बाइबिल में तथा अवस्ता मे इसे 'नूह' का नाम दिया गया है। वेविलोनियन दन्तकथा के अनुसार प्रलय से पूर्व वेविलोनिया मे मत्स्य जाति के लोगों का ही राज्य था। यह प्राचीन जाति चिरकाल से उस देश पर शासन करती थी। यह जाति प्रसिद्ध नाविक थी। प्रलय के समय मन्यु ने इसी जाति के किसी नेता की सहायता से अपने परिवार की प्राणरक्षा की होगी।

मन्यु ने सुषा नगरी बसाई और उसे अपनी राजधानी बनाया

था। पुराणों तथा प्राचीन पर्शिया के इतिहासों में इस पुरी के वैभव का बड़ा भारी वर्णन है। यह प्रसिद्ध नगरी वेरखा नदी के तट पर थी, जो उस काल में सभ्यता का केन्द्र थी। संभवतः सुषा तक प्रलय का जल नहीं पहुँचा। फिर भी नगरी प्रलय के बाद उजड़ गई। बहुत लोग मर गए—शेष उसे छोड़ कर चले गए। इस उजड़ी हुई नगरी पर धूल के स्तर जमते चले गए। कालान्तर मे यह स्तर पांच फुट मोटा हो गया।

६

वरुण-ब्रह्मा

प्रलय का जल बेरसा नदी-तट पर बसी सुषा नगरी तक नहीं पहुंचा था। फिर भी लोग कुछ मर गए, कुछ छोड़ कर चले गए। सुषा नगरी जो मन्युपुरी भी कहाती थी, उजाड़ और वीरान बहुत दिन तक पड़ी रही। उस पर पांच फुट मोटा धूल का स्तर जम गया। इसके बाद, जब स्वयं भुव मनु के अंतिम प्रजापति दक्ष का अधिकार समाप्त हुआ, तब दक्ष की पुत्री अदिति का पुत्र वरुण-सूर्य का सबसे बड़ा भाई सुषा नगरी में आया। उसने उसे खुदवा कर साफ किया—धूल-मिट्टी दूर की। ऊंची-नीची भूमि समथर की। रुके हुए जलों को नहर खुदवा कर समुद्रों में बहा दिया, और सुषा प्रदेश और मेसोपोटामियां में आदित्यों की बस्तियां बसाईं। पाठकों को ज्ञात हो, अदिति से मरीचि को बारह पुत्र हुए, जो आदित्य कहाए। वरुण उनमें सबसे बड़े और सूर्य सबसे छोटे थे। परन्तु आगे चलकर जैसे सूर्यकुल ने आर्य जाति का निर्माण किया, उसी प्रकार वरुण ने सुमेर जाति को जन्म दिया। यह सुमेर जाति—सुमेर सभ्यता की प्रस्तारक और ईरान की प्राचीन शासक हुई। संसार के पुरातत्वविद् डाक्टर फ्रेंक फोर्ट और लेंग्डन आदि यह तो कहते हैं कि प्रोटो-इलामाइट सभ्यता का ही विकसित रूप सुमेरु सभ्यता है अर्थात् प्रोटो-इलामाइट सभ्यता से ही सुमेरु सभ्यता का जन्म हुआ। प्रोटो-इलामाइट जाति प्रलय के कारण स्वदेश वापस चली गई और वहां इसकी सभ्यता का विकास हुआ। इस विकसित सभ्यता का ही नाम सुमेरु सभ्यता हुआ। सुमेरु जाति फिर प्रोटो-इलामाइट लोगों के निवासस्थान पर इलाम

[illegible]

[illegible] होता है—
है [illegible]—[illegible]। [illegible] में
[illegible]—[illegible] भी [illegible] हो को
[illegible] के [illegible]
[illegible] के [illegible] में [illegible]
[illegible]

का देव कहते हैं।

उन दिनों अरब और फारस के बीच का सारा इलाका सुषा स्थान कहाता था—इसी को छल देश—चल्डिया कहते थे। वरुण का एक नाम अवस्ता मे 'उरमज्द' भी प्रसिद्ध है। नवीन सृष्टि रचने और देवो का—आदित्यो का ज्येष्ठ पुरुप होने से वरुण को ब्रह्मा कहा है, तथा जल का विभाजन करने से नारायण कहा गया है। जल को संस्कृत मे नारा भी कहते हैं। क्षीनार—क्षीर-सागर—सिरी का समुद्र–पर्शिया की खाड़ी और उरमज सागर का नाम था। मत्स्य पुराण के अनुसार ब्रह्मा ने ब्रह्मांड के अर्थात् अपने राज्य के दो खण्ड किए—एक ऊपर का पार्वत्य प्रदेश-खण्ड, दूसरा नीचे का भूमिखण्ड। ऊपर का खण्ड स्वर्ग और नीचे का भूमि कहाया। ठीक पुराण के अनुसार ही जैनेसिस आदि पाश्चात्य पुराण-शास्त्री भी कहते हैं। वरुण या अवस्ता में ब्रह्मा को 'उरमज्द' कहा गया है। यह 'उर महाध्य' का विगड़ा नाम है जो पुराणों में आया है। पुराणो मे ब्रह्म-सकट का उल्लेख है। यह वह घटना है जव ब्रह्मा ने जलों को दो समुद्रों में विभाजित किया। अंग्रेजी इतिहासकार जैनेसिस कहता है—'इलाही ने कहा—जल से जल पृथक् होने चाहिए।' इसके लिए एक शब्द अंग्रेजी का है ordeal. इस शब्द का अर्थ कोप मे लिखा है—जल और अग्नि की परीक्षा। जैनेसिस कहता है—इलाही ने कहा—'स्वर्ग के जलों को एक जगह एकत्र होने दो और शेष पृथ्वी को सूखने दो।'

प्राचीन ईरानी इतिहासकार और अवस्ता दोनों ही में स्वीकार किया गया है कि वारुण लोग वरुण को ही सृष्टि का रचयिता मानते हैं। प्राचीन ईरान के कापाडोसिया प्रान्त में इन्द्र और वरुण की शपथ के शिलालेख मिले हैं। वरुण के इस समूचे साम्राज्य का नाम पहले अमरदेश था और सुषा का नाम अमरावती भी था। अव भी वहां के प्राचीन अमरों के वंशधरो की अमरेह जाति वसती है।

और मेसोपोटामियां मे वस गई । प्रोटो-इलामाइट जाति का स्वदेश कौन था और वह प्रलय के बाद कहा चली गई, तथा कहा से पुनः सुमेरु सभ्यता को लेकर मेसोपोटामिया में आ गई, ससार के पुरातत्वविद् अभी इस प्रश्न का उत्तर नहीं दे पाए हैं। परन्तु इस प्रश्न का उत्तर हमारे पुराणों में है, और वह यह, कि जिसे प्रोटोइलामाइट जाति कहा गया है वह चाक्षुप जाति थी, जिसके छ महारथियो ने विलोचिस्तान और ईरान होते हुए इलाम और मेसोपोटामियां को जय करके अपने राज्य स्थापित किए थे तथा वह भारतवर्ष के ही दक्षिणपश्चिम इलाके में उससे पूर्व विकसित हुई थी। तथा सुमेरु सभ्यता के संस्थापक—एक प्रकार से दुबारा नई सृष्टि रचनेवाले—सूर्य के ज्येष्ठ भाई वरुण थे, और उन्हें ही ब्रह्मा के नाम से विख्यात किया गया है। यह एक मार्के की बात है कि केवल सूर्य के ही वशधर भारत मे आर्य जाति में सगठित हुए। परन्तु शेष ग्यारहो आदित्य ईरान, मिस्र, पैलेस्टाइन, अरब और चीन, तिब्बत तक फैल गए। इन सबने देव जाति का सगठन किया। संक्षेप में देव का अर्थ है आदित्य। और मन्युपुरी वरुण के काल में सुषा नाम से विख्यात रही, पीछे इन्द्रपुरी अमरावती के नाम से विख्यात हुई।

पाश्चात्य जन वरुण को लार्ड–क्रियेटर कहते हैं—जिसका अर्थ है देव—कर्तार—ब्रह्मा। अवस्ता मे वरुण को अरुज्द कहा है। इलोहिम—इलाही भी वरुण ही को कहते थे। इलाही या इलोहिम का अर्थ है इलावर्त के उपास्य देव—वरुण। शतपथ ब्राह्मण मे और जैनेसिस के इतिहास में समान रूप से कहा गया है कि वरुण देव ने पृथ्वी और आकाश को सम किया। वरुण ने प्रलय के रुके हुए जलों को समुद्र में नहरें खुदवा कर वहा दिया—समुद्रों की सीमा बांधी—जलको अधिकार में किया—पृथ्वी को सूखी, सम और उपजाऊ बनाकर उसमें बीज बोए। इसी से वरुण को जलों

का देव कहते हैं।

उन दिनो अरब और फारस के बीच का सारा इलाका सुषा स्थान कहाता था–इसी को छल देश–चल्डिया कहते थे। वरुण का एक नाम अवस्ता मे 'उरमज्द' भी प्रसिद्ध है। नवीन सृष्टि रचने और देवों का—आदित्यों का ज्येष्ठ पुरुप होने से वरुण को ब्रह्मा कहा है, तथा जल का विभाजन करने से नारायण कहा गया है। जल को संस्कृत मे नारा भी कहते हैं। क्षीनार—क्षीर-सागर—सिरी का समुद्र–पर्शिया की खाड़ी और उरमज सागर का नाम था। मत्स्य पुराण के अनुसार ब्रह्मा ने ब्रह्मांड के अर्थात् अपने राज्य के दो खण्ड किए—एक ऊपर का पार्वत्य प्रदेश-खण्ड, दूसरा नीचे का भूमिखण्ड। ऊपर का खण्ड स्वर्ग और नीचे का भूमि कहाया। ठीक पुराण के अनुसार ही जैनेसिस आदि पाश्चात्य पुराण-शास्त्री भी कहते हैं। वरुण या अवस्ता में ब्रह्मा को 'उरमज्द' कहा गया है। यह 'उर महाध्य' का विगड़ा नाम है जो पुराणों में आया है। पुराणो मे ब्रह्म-सकट का उल्लेख है। यह वह घटना है जब ब्रह्मा ने जलों को दो समुद्रो में विभाजित किया। अंग्रेजी इतिहासकार जैनेसिस कहता है—'इलाही ने कहा—जल से जल पृथक् होने चाहिए।' इसके लिए एक शब्द अंग्रेजी का है ordeal. इस शब्द का अर्थ कोप मे लिखा है—जल और अग्नि की परीक्षा। जैनेसिस कहता है—इलाही ने कहा—'स्वर्ग के जलों को एक जगह एकत्र होने दो और शेप पृथ्वी को सूखने दो।'

प्राचीन ईरानी इतिहासकार और अवस्ता दोनों ही मे स्वीकार किया गया है कि वारुण लोग वरुण को ही सृष्टि का रचयिता मानते हैं। प्राचीन ईरान के कापाडोसिया प्रान्त में इन्द्र और वरुण की शपथ के शिलालेख मिले हैं। वरुण के इस समूचे साम्राज्य का नाम पहले अमरदेश था और सुषा का नाम अमरावती भी था। अब भी वहां के प्राचीन अमरो के वंशधरो की अमरेह जाति बसती है।

पीछे मनुपुत्री इला के नाम पर इस प्रदेश का नाम एलम या इलावर्त हुआ। आजकल यह प्रदेश किरमान इलाका कहाता है। यहीं सुमेरु सभ्यता का केन्द्र सुमेरु साम्राज्य था। यह स्थान फारस की खाड़ी के ऊपर है। जैनेसिस ने पर्शिया के इतिहास मे इसे शीनार भूमि—शीशतान कहा है। पुराणों मे इसे श्रीनार लिखा है। फारस की खाड़ी ही क्षीर सागर कहाती थी। जोरास्टर वरुण के उपासक थे। इनके समय में पर्शिया मे वरुण ही महाराज–महाउपास्य—देव—विधाता कहे जाते थे। इसी धर्म को ईरानी लोग अनइटारियानिज्म कहते थे।

वरुण ब्रह्मा के पुत्र अंगिरा और भृगु हुए, जो वेदर्षि तथा याजक कुलों के सस्थापक हुए। अगिरापुत्र बृहस्पति देवो के याजक हुए। भृगु को दैत्यपति हिरण्यकश्यप ने अपनी पुत्री दिव्या दी और दानवराज पुलोम ने अपनी पुत्री पौलोमी। दिव्या से भृगु को शुक्र-काव्य-उशना प्रसिद्ध पुत्र हुआ, जो दैत्य-दानव कुल का याजक हुआ। शुक्र का एक पुत्र अग्नि हुआ। उसका पुत्र चन्द्र। चन्द्र प्रसिद्ध चन्द्रवश का मूल पुरुष हुआ। दूसरा पुत्र त्वष्टा हुआ जिसका पुत्र प्रसिद्ध शिल्पी हुआ। देवों में उसका नाम विश्वकर्मा और दैत्यों में मय प्रसिद्ध हुआ। पौलोमी की सतानों में च्यवन, ऋचीक, जमदग्नि और परशुराम हुए।



आदित्य

प्रचेता के पुत्र दक्ष ने साठ कन्याओं का दान किया। उसने तेरह कश्यप को, दस यम को, सत्ताईस चन्द्र को, चार अरिष्टनेमि को, दो भृगुपुत्र को,दो कृशाश्व को और दो अंगिरा को दीं। आज के विश्व का सम्पूर्ण नृवंश इन्हीं की संतति है।

अदिति में कश्यप ने बारह पुत्र उत्पन्न किए। ये बारहों आदित्य के नाम से प्रसिद्ध हुए और इनके कुलों का संयुक्त नाम आदित्य-कुल पड़ा। इनमें जो देवभूमि में रहे, वे देव कहाए, और जो भारतवर्ष में आए वे आर्य कहाए। वरुण सबसे ज्येष्ठ थे और विवस्वान् सबसे छोटे। विवस्वान् का ही नाम सूर्य था। असुर याजक भृगुवंशी शुक्र उशना के पुत्र त्वष्टा ने, जो विश्वकर्मा भी कहाता था, अपनी पुत्री रेणु सूर्य को ब्याह दी। रेणु का ही नाम संज्ञा और अश्विनी भी था। वह जैसी रूपवती स्त्री थी,वैसी रूपगर्विता भी थी। विवस्वान् का रंग श्याम था और वह सुन्दर भी न था। इससे वह मानिनी सदैव ही सूर्य का तिरस्कार करती रहती थी। काल पाकर सूर्य से इस स्त्री के एक पुत्र हुआ जो वैवस्वत मनु के नाम से प्रसिद्ध हुआ। इसके बाद यम और यमी दो जुड़वां संतान हुईं। अभी ये तीनों बालक ही थे कि किसी बात पर ठिनक कर रेणु पति से गुस्सा हो पिता के घर चली गई। तीनों बच्चों को अपनी मुंहलगी दासी सवर्णा को सौंप गई। सवर्णा भी बड़ी रूप-लावण्यवती स्त्री थी। वह नवयौवना भी थी। संज्ञा की मुंहलगी थी। शीघ्र ही वह विवस्वान् की कृपापात्री हो गई और फिर प्रेयसी बन स्वामिनी

ही की भांति ठाठ से रहने लगी। समय पाकर विवस्वान् से सवर्णा के गर्भ से एक पुत्र और दो कन्या हुई। पुत्र का नाम शनैश्चर रखा गया, और तपती और विष्टि कन्याओं का। वैवस्वत मनु अपनी विमाता के नाम पर सावर्णि मनु भी कहाया। किन्तु सवर्णा एक तो दासी थी, दूसरे विवस्वान् का प्रेम और आदर पाकर उसका मन बढ़ गया था, फिर यह स्वाभाविक भी था कि वह संज्ञा की सतान की अपेक्षा अपनी ही सतति से अधिक ममता रखती थी। यम उग्र स्वभाव का बालक था। उसे विमाता का यह पक्षपात सहन नहीं हुआ और एक दिन बातों ही बातों में गुस्सा होकर यम ने विमाता सवर्णा को लात मार दी। सवर्णा इस पर आपे से बाहर हो उठी और उसने यम की टांग तोड़ दी।

घर की कलह विवस्वान् तक पहुंची। सब बातें सुनकर उसे बड़ा क्रोध आया। उसने सवर्णा को इस बात पर बहुत लानत-मलामत दी कि वह क्यों सब बालकों से समान स्नेह नहीं रखती। अन्ततः विवस्वान् उससे क्रुद्ध होकर रेणु को लाने के लिए उच्चैश्रवा पर सवार होकर अपने श्वसुर त्वष्टा के घर असुर-भूमि में गया। ससुराल में जाकर उसने अपनी मानवती स्त्री रेणु को अत्यन्त कृश, दीन, जटाधारिणी तथा हाथी के सूड़ से व्यथित पद्मिनी की भांति मलिन और सतप्त पाया। त्वष्टा ने दामाद का बहुत सत्कार किया, अपनी पुत्री की उपेक्षा करने पर उलाहना भी दिया। रेणु के साथ बहुत मान-मनव्वल हुआ। अन्ततः उस मानवती पत्नी को प्रसन्न कर सूर्य ने उसे शृंगार कराया और स्वयं भी गन्ध-पुष्प-रत्नाभरण धारण कर, अपनी प्रियतमा रेणु को उत्तर कुरु के मनोरम प्रदेश में उसका मन बहलाने और उसके साथ विहार करने के लिए ले गया। आजकल का कुर्दिस्तान आरमीनिया के नीचे का प्रदेश ही उन दिनों उत्तर कुरु कहाता

था, और सूर्य विवस्वान् का श्वसुर त्वष्टा, जो विश्वकर्मा के नाम से भी विख्यात शिल्पी था, इस रियासत का स्वामी था। इसकी राजधानी का नाम "वन" था। सूर्य के उस तेजस्वी अश्व को देख रेणु बहुत प्रसन्न हुई और स्वयं उस पर सवार होकर वन-विहार करने लगी। विवस्वान हंस-हस कर उसे चिढ़ाने के लिए 'अश्विनी अश्विनी' कह कर पुकारने लगे। यहीं उत्तर कुरु में विहार करते हुए उसने फिर दो जुड़वां बालकों को जन्म दिया, जो आगे चलकर अश्विनीकुमार के नाम से विख्यात हुए और बड़े वीर योद्धा, चिकित्सक तथा ऋषि हुए। ये अत्यन्त रूपवान् थे। इन्होंने करन्ध्र, वय और वशिष्ठ को अपना मित्र बनाया। सुदास को उनकी स्त्री सुदेवी प्राप्त करने में सहायता दी। अंधे और लंगड़े परावृज को चंगा किया। विस्पला की टूटी हुई टांग अच्छी कर दी। वद्धमती को सोने का हाथ लगा दिया। ऋज्रनाश्व के नकली नेत्र लगाए। रेभा, वन्दन, कण्व, अन्तक, भज्यु, सुचन्त, पृश्निगु, अत्रि, श्रेतर्य, कुत्स, न्यर्य, वसु, दीर्घश्रवस, औसिज, कक्षीवान्, रसा, तृशोक, मान्धाता, भरद्वाज, अतिथिग्व, दिवोदास, कशोजु, तृपदस्यु, वम्र, उपस्तुत, कलि, व्यस्व, पृथिराजर्षि, सपु, मनु, सर्यात, विमद, आध्रिग्र, सूभर, ऋतस्तूप, कृशानु, पुरुकुत्स, कुत्स, ध्वशान्ति, पुरुपान्ति; अधश्व, च्यवन, आदि गण्यमान्यजनों से मित्रता की। दस्युओं से युद्ध भी किए। ये दोनों अश्विनीकुमार कहाते थे, परन्तु इनके वास्तविक नाम नासत्य और दस्र थे।

विवस्वान के ज्येष्ठ पुत्र यम माता-पिता दोनों की अपने प्रति उपेक्षा के भाव से बहुत खिन्न हुए। अपने शुभाचरण से देवों में यह धर्मराज कहाने लगे थे। समर्थ होने पर ये अपने ताया वरुण के पास चले गए। उन्होंने इन्हें पितृलोक का अधिपति और लोकपाल बना दिया और ये नरक नामक नगर बसा वहां

रहने लगे। अपवर्त वर्तमान ईरान का एक प्रदेश था—जो कलात-नादरी के निकट था। आजकल इसे अवर्द या अविवर्द—दोजख कहते हैं। जिस समय यम ने वहां जाकर अपने नवीन राज्य की स्थापना की, उस समय से कुछ पूर्व ही महाजल-प्रलय हो चुका था। वहां के अधिकांश लोग उस जल-प्रलय में मर चुके थे, इसलिए यम के राज्य को मृत्युलोक कहने लगे। इन्होंने प्राचीन ईरान और यूनान की ऋचाए तैयार कीं। इन्होंने दक्ष प्राचेतस के कुल की दस कन्याओं को ग्रहण किया। इनकी एक पत्नी सांध्या से सांध्य जाति के अग्रज हुए जो इतिहास में सीदियन प्रसिद्ध हुए। इन्हीं के वंश के नीप व पाल के वंशधरों ने मिस्र और यूनान में फैल कर मिस्र का प्रथम राजवंश २१८८ ई० पू० में और असुरों का प्रथम राजवंश २०५६ ई० पू० में स्थापित किया। आगे नीप वंश को जन्मेजय ने विजित किया। समस्त असुर-प्रदेश में फैली हुई वसु, मरुव, भानुः, घोप, सांध्य, हस, विश्वकर्मा, मनोषि, द्रविड, हुन, मंगोल, रमण, घर, हयताल, आदि शाकद्वीपी जातियां यम के ही वश की हैं। ये अपने पूर्वज तथा कुलदेव सूर्य की उपासक थीं। सूर्य ही को ये नृवश का पूज्य पुरुष मानती थीं। कुशान-हयताल, जो इतिहास में व्हाइट हुन और तुर्क बताए गए हैं, यम के ही वंशधर हैं।

वसु के आठ पुत्र वसु कहाए। इनमें ज्येष्ठ का नाम धर था। धर का पुत्र रुद्र हुआ, जो देव-दैत्य-पूजित महावली दुर्धर्ष देव हुआ। द्रविड़ और हव्यवाह ये दो धर के और पुत्र हुए। अग्नि भी आठ वसुओं में एक था। उसका पृथक् अग्निवंश चला। सांध्य के पुत्र हंस संभवतः जर्मन हैं। हयतालों का राज ईरान में ही था। धर के पुत्र रुद्र के उत्तराधिकारी मरुद्गण हिरात आदि देशों के निवासी थे।

आज भी ईरान का 'यमथल' स्थान यम की स्मृति नई करता

है। ईरानी इतिहास में 'यमशिद' का नाम विख्यात है। ईरानी लोग उसी नाम पर अपने नाम 'जमशेद' रखते हैं, तथा यमशिद की पूजा करते हैं।

प्रसिद्ध है कि यमी ने यम से विवाह करने की याचना की थी, जिसे यम ने अस्वीकार कर दिया था। दैत्य-कुल में भाई-बहन, माता-पुत्र में विवाह का प्रचलन था। देवकुल में भी वैयक्तिक विवाह का रिवाज न था। सारी जीवन-प्रणाली सामूहिक थी। सम्पत्ति भी सामूहिक थी। इसलिए यौन-सम्बन्ध भी यौथ थे। यह वास्तव में वेश्यावृत्ति न थी, क्योंकि शरीर का क्रेता और विक्रेता कोई न था। यौन-सम्बन्ध पर कोई रोकटोक न थी। जहां पुरुप के लिए भगिनीगमन और मातृगमन भी कोई दोषपूर्ण नहीं माना जाता था, वहां स्त्री के लिए भ्रातृगमन और पितृगमन में भी कोई दोप न था। उस युग में एक गर्भ से उत्पन्न होनेवाली संतान अपने को भाई-बहन करके जान सकती थीं। पर एक औरस से उत्पन्न भाई-बहनों का आपस में किसी प्रकार का यौन-सम्बन्ध नहीं हो सकता था। क्योंकि यह कोई जान ही न सकता था कि कौन किस औरस से उत्पन्न है।

यही कारण था कि संतान का परिचय मां के नाम अथवा कुल से होता था। उस युग में देवों और दैत्यों मे कोई भी व्यक्ति किसी व्यक्ति का पिता हो सकता था। यों कहना चाहिए कि एक ग्राम के सब लोग पिता कहे जा सकते थे। भगिनी-गमन बाद तक भी जायज रहा।

शनि का दूसरा नाम श्रुतिकर्मा भी था। उसे यूनान देश का राज्य मिला। यूनान का हैलीओडे राज्यवंश शनि ही के खानदान में था। सूर्य की चार राजधानियां थीं। आदित्य नगर, काश्यप नगर, इन्द्रवन और भ्रण्डार। उसने वेबिलोनिया, सीरिया और मिस्र को जय करके त्रिविक्रम की उपाधि पाई थी। आगे

चलकर आदित्यों का यह कुल सारे ही संसार में व्याप गया जिसमें सब से अधिक विस्तार सूर्य ही का हुआ। सीरिया-निवासी और अरब प्राचीन काल से सूर्य के उपासक हैं। पर्शिया के डेजर्ट के निवासी प्राचीन काल मे 'आदित्य' कहाते थे। अदन मे आद का विश्वविश्रुत मन्दिर था जो सोने-चांदी की ईंटो से बना था, और छत मे मोती और रत्न जडे थे। 'आद' अरबी भाषा में सूरज ही को कहते हैं। 'आदम,' जिसकी कथा बाइबिल में है, सूर्य का ही नाम था। अरब या यारा भी अरबी भाषा के सूर्य ही के नाम हैं। अरबी में आद एक गोत्र भी है। सभव है, ये सूर्य-वंशी ही अरब किसी प्राचीन बात को सूर्य के समान पुरातन कहा करते हैं। अरब में एक खोटप्रान्त भी है। खोट सूर्य ही का नाम है। अदन का प्राचीन नाम आदित्यपुर था और यह सूर्य की एक राजधानी थी।



८

दैत्य-दानव

दक्ष की सबसे बड़ी पुत्री दिति थी। उसका वंश दैत्यवंश कहाया। दिति के मरीचि से चार पुत्र हुए—हिरण्य कशिपु, हिरण्याक्ष, वज्रांग और अन्धक।

हिरण्यकशिपु के चार पुत्र हुए—प्रह्लाद, अनुह्लाद, ह्लाद और संह्लाद।

प्रह्लाद के चार पुत्र हुए—आयुष्मान्, शिवि, वाष्कलि और विरोचन। विरोचन का पुत्र बलि हुआ। बलि के बहुत पुत्र हुए, ज्येष्ठ पुत्र बाण हुआ। बाण अजेय योद्धा था। उसे महाकाल कहते थे। वज्रांग का पुत्र तारक था। ये सब अपने-अपने समय के प्रतापी दैत्य-राजा हुए।

हिरण्याक्ष के उत्कूर, शकुनि, भूतसंतापन, महानाभि, महाबाहु, और कालनाभ ये पराक्रमी पुत्र हुए, जिनके पुत्र-पौत्रों का अनन्त विस्तार हुआ।

दक्ष की तीसरी कन्या दनु भी कश्यप को ही दी गई थी। दनु को कश्यप से शम्बर, शंकर, एकचक्र, महाबाहु, तारक, वृषपर्वा, पुलोमा और विप्रचित्तिमय आदि पुत्र हुए। वृषपर्वा की पुत्री शर्मिष्ठा से ययाति का ब्याह हुआ। पुलोमा और कालिका नामक दो कन्याएं भी दनु को हुईं, जिनके पृथक् वंश पौलोम और कालिकेय चले। ये सब दानव-वंश कहाए। हिरण्यकशिपु की एक बहिन थी, इसका नाम सिंहिका था। यह दानव विप्रचित्ति को ब्याही थी। इसके वंश में शल्य, वातापि, नमुचि, इल्वल, नरक, कालनाभ, चक्रयोधी, राहु, आदि तेरह वीर पुत्र हुए। ये सब

सैंहिकेय कहाए, जिनमें राहु अत्यत भयंकर प्रसिद्ध हुआ। निवित और कवच, जो संह्लाद के वश में थे, तपस्वी हो गए।

काश्यप सागर-तट से लेकर गजनी, हिरात, हरम, कुंजशहर, खुरासान, बुखारा, गजदमन, शकारा, इक, शाकटारिया, वशपुर, वास्पोरस, कश, आदि देशो में इसी दैत्य-वश का विस्तार हुआ। वृषपर्वा सीरिया का राजा था।

हिरण्यकशिपु ने अपनी नई राजधानी हिरण्यपुर वसाई थी, जो एक सपन्न नगरी हो गई थी। उधर उसका भाई हिरण्याक्ष वेविलोन का अधिपति था। दैत्यो और दानवो के और भी राज्य आसपास थे। इस प्रकार समूचा एशिया माइनर का प्रदेश इन दो महाशक्तियों में बंटा हुआ था। एक तरफ दैत्य-दानवों के राज्य थे, दूसरी ओर आदित्यों के, जो देव कहाते थे। वल के सतुलन में दैत्यों ही का पासा ऊंचा था, क्योंकि एक तो वे ज्येष्ठ थे, दूसरे उनके राज्य सम्पन्न थे। उनका सगठन अद्वितीय था। परन्तु इस भूमि मे दो जातियां और भी निवास करती थीं। एक गरुड़ और दूसरी नाग। दिति, अदिति, दनु इन तीन स्त्रियों के अतिरिक्त कश्यप की दो स्त्रियां और थीं—एक कद्रु, दूसरी वनिता। कद्रु की सतानों में छब्बीस नागवश चले। नागो में शेष, वासुकी, कर्कोटक, तक्षक, धृतराष्ट्र, धनजय, महानील, अश्वतर, पुष्पदत, शंखरोमा, आदि प्रबल राजा थे। वनिता के दो पुत्र थे—गरुड़ और अरुण। अरुण के दो पुत्र हुए—सम्पाति और जटायु। इनके भी अनेक पुत्र हुए।

६

देवासुर-संग्राम

देवों और दैत्यों के तथा उनके मित्रों के राज्यों का ज्यों-ज्यो विस्तार होने लगा, त्यों-त्यो ऐसे राजनैतिक और आर्थिक कारण उत्पन्न होने लगे, कि इन दायाद बान्धवो का मित्रभाव से मिलजुलकर रहना असंभव हो गया।

हिरण्यकशिपु की राजधानी हिरण्यपुरी काश्यपसागरतट पर थी। पर्शिया का लूट या लट प्रदेश जहां है और जिसे कवीर भी कहते हैं, वही कालान्तर में नन्दनवन प्रसिद्ध हुआ। काश्यप सागर की जो भूमि आजकल ऑक्सस या पारदरिया कहाती है, उसी के ऊपरी भाग में दाह स्थान या नन्दनवन था। इसी महामरुभूमि को ग्रेट डेजर्ट और साल्ट डेजर्ट भी कहते हैं। यहीं सर्व प्रथम स्वर्ण की खान का पता लगा, जिसे प्राप्त कर दैत्य का नाम हिरण्यकशिपु पड़ा। इसी के कारण प्रथम देवासुर-संग्राम हुआ, जिसकी परंपरा लगभग तीन सौ वर्षों तक चलती रही। चौदह दारुण देवासुर-संग्राम इस बीच मे हुए, तथा देव, दैत्य, आदित्य जो परस्पर दायाद बान्धव थे, चिर शत्रु हो गए।

बहुत सा स्वर्ण पाकर और अपने बलवान भाई हिरण्याक्ष की सहायता से हिरण्यकशिपु ने चारों ओर अपने राज्य की सीमाएँ बढ़ानी आरम्भ की। अनेक देवलोको को विजित किया। देवो को मार भगाया। इससे देवो पर हिरण्यकशिपु का भारी आतंक छा गया। इस समय तक हिरण्यकशिपु के आधीन सम्पूर्ण उत्तर-पश्चिम का फारस और समूचा अफगानिस्तान हो चुका था। बेबिलोन और उसके आसपास के प्रदेश उसके भाई हिर-

ण्याक्ष के अधिकार में थे। देवगण चारों ओर से दवते चले जा रहे थे और विष्णु इससे बहुत चिंतित थे। वे देवों का सगठन करके प्रत्येक मूल्य पर स्वर्णस्थान तथा दैत्यभूमि को अधिकृत करना चाह रहे थे।

इस समय योरोप के उत्तरी-पश्चिमी प्रदेश में जो नारवे द्वीप है, उसे उस काल में कोला प्रान्त या केतुमाल द्वीप कहते थे। आजकल भी उस अचल को कोला पैनिन्सुला कहते हैं। यहां कोला—वराह-वंशियों का राज्य था। अति प्राचीन काल से यहा यह जाति रहती थी। आज तक भी यहां के निवासी कोल—कोल्ट—कैल्ट कहाते हैं। उनके नाम भी वाराह के नाम पर होते हैं। प्रलय-काल के वाद वराह-राज से वरुणदेव को एकार्णव के जल से पृथ्वी को उभारने मे वडी सहायता मिली थी। तभी से देवो के इस जाति से मैत्री-सम्बन्ध हो गए थे। अब देवो के उकसाने से वाराहों ने आक्रमण करके हिरण्यकशिपु के वीर भाई हिरण्याक्ष को मार डाला और वैविलोन पर सूर्यपुत्र मनु के द्वितीय पुत्र नृग का आधिपत्य हो गया। वाराहो के वश की एक शाखा नृग के साथ मिल गई और उसकी उपाधि देवपुत्र कहाई। आगे चल कर ईरान के क्षेत्रप इसी वश में हुए,जो देवपुत्र कहाते तथा वाराह की मूर्ति पूजते थे। यही सूर्यवशी नृग नृसिंहदेव के नाम से विख्यात हुए और हिरण्याक्ष के निधन से दुर्वल हिरण्यकशिपु को नृसिह ने अपने प्रवल पराक्रम से आक्रान्त करके मार डाला। नृसिंह या नृग के वशज आज भी ईरान मे रहते हैं वे निम्रिटो कहाते हैं। नृसिह के सैन्य-सचालन के शिलाचित्र और शिलालेख लुलवी और वैविलोनिया प्रान्त में मिले हैं। निम्रिटो जाति के लोग कश्यप सागर के उत्तरी तुर्किस्तान से फारस की खाड़ी तक फैले हुए थे। ईरानी इतिहासकार नृगवशियो के अधिनायक का नाम 'नरम-सिन' बताते हैं। वहां नरमसिन की अर्ध सिंह मूर्ति है। नरमसिन एक प्रान्त

का नाम भी प्रसिद्ध हुआ जो इस्टखर के निकट परसा प्रान्त में है। वास्तव मे खरो के इष्ट हिरण्यकशिपु ही थे। इस्टखर का अर्थ है—मूल पुरुष। यही इस्टखर हिरण्यकशिपु की दूसरी राजधानी थी। इस्टखर में इस्तखारी जाति अब भी रहती है। नरम-सिर या नरमसिन नृसिंह देव ही का अपभ्रंश है।

हिरण्यकशिपु का वध सुमना पर्वत पर हुआ था। यह पर्वत काश्यप सागर के निकट ही है। इसी के पास देमावन्द स्थान है, जिसे ईरानियन स्वर्ग कहा जाता है। पर्शिया के प्राचीन इतिहास में नृसिंह के इस अभियान को नरमसिन के नेतृत्व मे नृग्रिटों का विजय-अभियान कहा गया है, जिसका एक भित्तिचित्र लुलवी प्रान्त मे बगदाद व करमनशाह के मध्यवर्ती देश मे मिला है। इसमें नृसिंह सूर्य का झण्डा लिए सैन्य-संचालन कर रहे हैं। परसा प्रान्त ही में परसी राजधानी है जहां यमराज का सिंहासन —जमशेद का तख्त है, जिसपर सिंह और गिरगिट के चित्र बने हैं। नृगों का चिन्ह गिरगिट था। पुराण में सकेत भी है कि नृग शापवश गिरगिट हो गए थे।

दैत्यों ने दानवों को अपने साथ मिलाकर अपना बल बढ़ाया। उसी प्रकार नागों और गरुड़ो को आदित्यो ने अपने साथ मिलाकर संगठित किया। वरुण इस समय ईरान के सबसे बड़े कर्ता-धर्ता-विधाता और राजा थे। सभी लोग उन्हें अपना ज्येष्ठ मानते थे। इन्हीं का नाम ब्रह्म, अल्लाह, इलाही, इलौही, कर्तार आदि था। आजकल जिसे करमान प्रदेश कहते हैं, वहीं उनकी राजधानी सुषा थी। उधर क्षीरसागर—पर्शिया की खाड़ी मे उनके छोटे भाई सूर्य का आधिपत्य था, तथा अपवर्त में उनके भतीजे सूर्यपुत्र यम का अधिकार था, एवं यवन यूनान में उनके दूसरे भतीजे शनैश्चर का राज्य था।

नागो के राज्य सीरिया, कोचारिस्तान, हसनअब्दल, पाताल,

एबीसीनियां और तुर्किस्तान में थे। तुर्किस्तान उनकी सबसे बड़ी राजधानी थी। गरुडों का देश गरुड़धाम था, जिसे आजकल गरडेशिया कहते हैं। यह तुर्किस्तान के ऊपर है। यद्यपि गरुड़ और नाग दोनों ही जातियां आदित्यों की मित्र और सहायक रहीं, पर ये दोनों जातियां परस्पर शत्रु रहीं। गरुड़ नागों के लिए कालस्वरूप ही रहे।

दैत्यों के साथ इस विग्रह के नेता विष्णु ही थे। वरुण मिलकर रहना ही ठीक समझते थे। इस बढ़ती हुई कलह को रोकने के लिए वरुणदेव ने एक प्रयत्न किया। उन्होंने एक महायज्ञ का आयोजन किया, जिसमें सब दैत्य, दानव और देवों को आमन्त्रित किया गया। उस समारोह में मरीचि, अंगिरा, पुलस्त्य, पुलह, क्रतु आदि याजक और दक्ष प्रजापति, बारहों आदित्य, ग्यारहों रुद्र, दोनों अश्विनीकुमार, आठों वसु, मरुद्गण, शेष, वासुकी आदि बड़े-बड़े नाग, तार्क्ष्य, अरिष्टनेमि, गरुड़, वारुणि, आदि युगपुरुष आए। अग्नि, चन्द्र, बृहस्पति और पितृजन भी आए। शनैश्चर, यम-धर्मराज तथा विप्रचित्ति, शिवि, शकु, केतमान, राहु, वृत्र आदि अनेक दानव आए।

यहां देव-दैत्यों में राज्यलक्ष्मी के सम्बन्ध में बहुत कुछ विवाद हुआ। दैत्यों ने कहा—हमारा अपराध नहीं है। देवों ने हम पर अन्याय से आक्रमण किया और हमारी स्वर्णलक्ष्मी छीन ली है। हमारे छोटे भाई होने पर भी देवों ने दैत्यों का रक्त बहाया है। ये सदैव हमसे अपमानित होते और मारे जाते रहेंगे। परन्तु आप हमारे सबके पितामह हैं। आप के यज्ञ में हम चुपचाप यज्ञ को देखेंगे, देवों से विग्रह नहीं करेंगे। यज्ञ समाप्त होने पर स्वर्णलक्ष्मी के विषय में हमारा देवों से विरोध-विग्रह होगा। अभी हमें आप आज्ञा कीजिए कि यज्ञ में हम क्या सेवा करें। अपने कर्त्तव्य को निर्णय करने में हम समर्थ हैं—स्वतन्त्र हैं।

दैत्यो के ये गर्वीले तथा रोषपूर्ण शब्दो को सुनकर विष्णु ने रुद्र से सलाह ली। तब रुद्र ने कहा—इस समय आप चुप रहें। ये सब दैत्य, ब्रह्मा-वरुण के निमन्त्रित है। हमारे बान्धव हैं। इस समय आप कुछ बोलेगे तो ये क्रुद्ध हो सकते हैं। आपने इनकी लक्ष्मी हरण की है। अतः इन्हें क्रुद्ध करना उचित नहीं है। यज्ञ की समाप्ति पर युद्ध, विग्रह या सधि जो कुछ होगा, देखा जायगा।

वरुण ने भी दैत्यो को समझा-बुझाकर शान्त किया और कहा—देवो के साथ विरोध-भावना त्याग दो और मित्रभाव से यज्ञ में भाग लो। दैत्यो ने कहा—देव हमारे छोटे भाई हैं, उन्हें यहाँ हमारी ओर से कोई भय नहीं है। आप अपना यज्ञ सम्पन्न कीजिए। अन्तत. बहुत वादविवाद के बाद दैत्यों के नेता हिरण्यकशिपु के पुत्र प्रह्लाद से देवों की संधि हुई। विष्णु ने वचन दिया कि अब दैत्यो का रक्त पृथ्वी पर नहीं गिरेगा। इसके बाद प्रह्लाद ने भी विष्णु को मित्रता का वचन दिया। इस प्रकार देवों और दैत्यो में एक बार संधि हो गई।

१०

वज्रपाणि-दैत्येन्द्र

दैत्यबाला के रमण से तृप्त और लातों के आघात से प्रहर्षित रावण लम्बी-लम्बी डगें भरता हुआ नगर की दक्षिण दिशा में स्थित समुद्र-तट की ओर बढ़ा चला गया। समुद्र-तट से कुछ हटकर छोटी-बड़ी चट्टानों की ओट में वन के एक दुर्गम प्रदेश में उसका शिविर था। शिविर तक आने में बहुत रात बीत गई। आकर उसने देखा—आग पर समूचा भैंसा भूना गया है, और दैत्य-दानव अब भोजन की तैयारी कर केवल उसी की प्रतीक्षा में बैठे हैं। मद्य-भाण्ड भरे धरे हैं। बड़ी-बड़ी अग्निराशि यत्र-तत्र जल रही हैं। रावण के वहां पहुँचते ही एक वृद्ध दैत्य ने आगे बढ़कर उसका कन्धा थाम कर कहा—"इतना विलम्ब करके तूने हमें चिन्ता में डाल दिया पुत्र।"

"चिन्ता काहे की मातामह ?"

"पुत्र, अपना देश नहीं है। वन,बाट,वीथी अज्ञात है, और तू हमारे प्राणों से भी अधिक मूल्य का है।"

तरुण ने हँस कर वृद्ध का हाथ पकड़ लिया। कहा—"बहुत श्रम करना पड़ा मातामह, भोजन दो।"

"पहिले कण्ठ सिक्त कर।"—वृद्ध दैत्य ने एक असुर को संकेत किया। असुर ने मद्य-भाण्ड लाकर प्रस्तुत किया। समूचा भाण्ड ही एक सांस में पीकर और भाण्ड एक ओर फेंक, जीभ से होंठों को चाटता हुआ रावण उदग्र भाव से, एक बड़ा सा छुरा ले भैंसे की ओर बढ़ा। उसने मांसखण्ड काटा। फिर तो सभी असुर भैंसे पर पिल पड़े। वे अन्धाधुन्ध मद्य पीने और मांस खाने लगे। वे हर्ष-

आवेग से चीखने-चिल्लाने, छीना-झपटी करने और आपस में रेलमपेल करने लगे। देखते-ही-देखते वह समूचा भैंसा और वे सबके सब मद्यभाण्ड उनकी उदर-दरी में समा गए। खा-पीकर निवृत्त होकर वृद्ध दैत्य तरुण के निकट खसक आया। वह सुमाली था। उसने खींच कर तरुण को अंक में भरकर छाती से लगा कर कहा—"पुत्र, बहुत दिन के हमारे मनोरथ अब पूरे होंगे। ये सब द्वीप-समूह हमने जय कर लिए। यह बाली द्वीप भी आज रात जय हुआ समझ। परन्तु अब तू सामने इस स्वर्ण-लंका को देख। मेरी इस लंका में अब तेरा भाई कुवेर रहता है। वह हमारा नहीं, देवों—आर्यों का बान्धव है। आर्यों और देवों ने उसे धनेश बना कर अपना लोकपाल नियुक्त कर दिया है। वह हमारे ही धन से सम्पन्न है। हमारी ही लंका में सुप्रतिष्ठित है। यह मैं अब नहीं सह सकता। विष्णु का अब हमें भय रहा ही नहीं। अब यदि कुवेर धनपति राजी से मेरी लंका तेरे लिए छोड़ दे तो ठीक है, नहीं तो हम उसे शस्त्र से मार तुझे लंकाधीश्वर बनाएँगे। पुत्र, तू ही डूबते हुए दैत्यवंश का सहारा है।"

तरुण रावण नाना की बात सुनकर चुप हो गया। वह गहरे सोच में पड़ गया। इस पर सुमाली ने कहा—"अब क्या सोच रहे हो पुत्र; तुझे चिन्ता किस बात की है।"

रावण ने कहा—मातामह, कुवेर मेरा बड़ा भाई है, कैसे मैं उससे ऐसा प्रस्ताव करूं?"

इस पर रावण का मामा—प्रहस्त उत्तेजित होकर बोला—"अरे भागिनेय, वीर पुरुषों में भाईचारा नहीं होता।"

सुमाली ने भी उसे बढ़ावा देते हुए कहा—"निस्सन्देह, दिति और अदिति दोनों सगी बहिनें ही तो थीं। दोनों ही प्रजापति कश्यप की पत्नी थीं। पर अदिति से देवों और दिति से दैत्यों का कुल चला। अपने पराक्रम से तथा मातृपक्ष से ज्येष्ठ होने से सारी

प्रृथ्वी दैत्यो ही के अधिकार मे थी। पर विष्णु ने छलबल से दैत्यों का नाश करके देवो को आगे बढाया। इसलिए हम यह कोई नई मर्यादा नहीं स्थापित कर रहे।"

इतना कह कर सुमाली ने अपने ज्येष्ठ पुत्र प्रहस्त की ओर मर्मभेदिनी दृष्टि से देखा। प्रहस्त ने कहा—"यही तो बात है भागिनेय, फिर तेरे साथ तो हमारा—सब दैत्य-दानवों का रक्त भी है, बल भी है। फिर लका तो हमारी ही है। न्यायत उस पर तो हमारा ही अधिकार है। अत इस सम्बन्ध मे तुझे सोचने विचारने की कोई बात ही नहीं है।"

मामा के ये वचन सुनकर रावण ने कहा—"तो मातुल, तुम्हीं अब हमारे दूत बन कर लंका जाओ और जिस प्रकार ठीक समझो, कुबेर धनपति से प्रस्ताव करो।"

सुमाली ने कहा—"ऐसा ही हो। पुत्र प्रहस्त, तू यह मत भूलना कि यदि लका हमारे हस्तगत न हुई—तो फिर दैत्यों को कहीं खड़े रहने को स्थान नहीं है। मैंने बडी साधना की है और बहुत दूर तक विचार किया है। अब मेरी जीवन भर की तपस्या को फलीभूत करना तेरा ही काम है, प्रहस्त।"

प्रहस्त ने कहा—"आज ही,अभी मैं लका को तरणी द्वारा प्रस्थान करता हूँ, और आशा करता हूँ, आगामी ज्वार से पहिले ही आ उपस्थित होऊँगा। तब तक आप सब बालि द्वीप पर ही रहना, तथा बालि द्वीप को अधिकृत करने में विलम्ब न करना।"

"विलम्ब कैसा पुत्र, हम तो आज रात ही यह अभियान कर रहे हैं।"

सुमाली ने साभिप्राय पुत्र को देखा—और फिर रावण की ओर देख कर कहा—"नगर तो तूने देख ही लिया।"

रावण ने हसकर कहा—"देख लिया, सब राहबाट देख आया हूं। किन्तु मातामह, हमें अभी एक और अभियान करना है।"

"कहां रे ?"

"उधर, पर्वत की उपत्यका में, अना-तट पर एक ग्राम है।"

"असुरों का है ?"

"न, दैत्यों का।"

"कहां के हैं वे ?"

"काश्यप-तट से आए हैं।"

"परन्तु दैत्यों का है, तो विग्रह क्यों ?"

"ऐसे ही। वह फिर कहूँगा। तो मातुल, शुभभास्ते पन्था नः स्युः।"

प्रहस्त ने चर्म का कटिबंध कमर में लपेटा और शूल हाथ में लेकर वह उठ खड़ा हुआ।

"एक योद्धा ले ले साथ"—सुमाली ने कहा।

"नहीं, एकाकी ही जाऊंगा। योद्धा यहां कम हैं। यहां उनकी आवश्यकता है।" प्रहस्त चल कर अन्धकार में विलीन हो गया।

रावण ने खड़े होकर कहा—"चलो, अब हम भी चलें। सब योद्धा तैयार हो जायँ।" उसने अपने साथी सुभटों पर दृष्टि डाली, और परशु कन्धे पर रख चल खड़ा हुआ। उसके पीछे दैत्य, दानव, असुर, योद्धा शक्ति, शूल, खंग, परशु, ऋष्टि, पाश, मुशल, गदा, परिघ, बाण, धनुष, दण्ड ले चले। सबके पीछे वृद्ध व्याघ्र दैत्येन्द्र लंका-पति सुमाली—वज्रपाणि।



११

स्वर्णपुरी-लंका

प्रहस्त ने लंका में प्रवेश किया । जब वह विशाल नगरद्वार पर पहुचा तो उसने देखा—द्वार पर दृढ़ लौह-कपाट लगे हैं। कपाटों में मोटी मोटी अर्गलाएँ लगी हैं । अर्गलाओं पर विराट उपल यन्त्र जड़े हुए हैं। ऊपर की बुर्जियो पर अग्नि मुशुण्डिकाएँ रखी हैं। नगर के परकोटे के भीतरी भाग में स्वर्णखचित दिव्य कारीगरी चित्रित है। बीच बीच मे मणिमूंगा जड़े हैं। परकोटे के बाहर विशाल खाई जल से परिपूर्ण है। खाई पर द्वार तक विशाल फलक मार्ग हैं—जिनमें दुर्भेद्य सुदृढ़ सक्रम यन्त्र लगे हैं। सक्रम स्वर्ण के खम्भो और स्वर्ण-वेदियों पर आधारित हैं । प्राचीरों पर दुर्जेय सुभट चौकसी कर रहे हैं।

प्रहस्त ने सोचा—इस दुर्भेद्य, सुपूजित, सुरक्षित लकापुरी पर आक्रमण करने का साहस देव, दैत्य, नर, नाग कोई भी नहीं कर सकता। लका के चारों ओर समुद्र, वन और खाई तथा दुर्भेद्य प्राचीर, विशाल चतुष्पथों पर अश्व, रथ, गज पर आरूढ़ योद्धा—यक्ष-किन्नर, देव-दैत्य, नगरजन, मणि-माणिक्य-मुक्ता-सज्जित, अभय-आनन्दित मुद्रा में मत्त, आ-जा रहे हैं।

नगर की वीथी, पथ, चतुष्पथ, राजपथ पार करता हुआ प्रहस्त धनपति कुबेर के अलौकिक दिव्य प्रासाद के सम्मुख जा खड़ा हुआ। उस प्रासाद का वैभव देख प्रहस्त आश्चर्य-चकित रह गया। प्रासाद के सिंहद्वार पर वैडूर्य मणि और मूल्य-वान मुक्ताओं की कलात्मक चित्रकारी हो रही थी । वहां के खम्भे कुन्दन के बने थे। ऊपर जाने के लिए स्फटिक मणि की

रत्नजटित सीढ़ियां थीं। ठौर-ठौर पर यज्ञशाला और वेदिकाएं सुसज्जित थीं, जिनमें अनेक आसन रखे हुए थे। वह भव्य प्रासाद मंदराचल के समान विशाल था।

प्रहस्त ने साहस करके उस दिव्य प्रासाद में प्रवेश किया। द्वार पर उसे किसी ने न रोका। वह सात कक्षों को पार करता हुआ चला गया। सातवें कक्ष में उसने देखा—एक विराट्काय पुरुष स्वर्ण की माला पहिने और हाथ में वजनी लोहे का मुग्दर लिए बैठा है। अग्नि की लपट के समान उसकी जिह्वा थी। उसके बड़े-बड़े लाल-लाल नेत्र थे। होठ बिम्बाफल के समान तथा दांत बड़े पैने थे। गर्दन शेर के समान तथा नाक उभरी हुई। वह बहुत मोटाताज़ा था, तथा उसकी खूब घनी काली दाढ़ी थी। उस यमराज के समान विराट कालपुरुष के विकराल रूप को देख कर प्रहस्त कांप गया। परन्तु उस पुरुष ने, जैसे मेघ गर्जे, उस भांति गर्जना करके कहा—"तू कौन है, और दिग्पति लोकपाल कुबेर धनेश के इस आवास में तेरे आने का कारण क्या है?"

"प्रसीदतु-प्रसीदतु दिग्पति लोकपाल धनेश कुबेर"—प्रहस्त ने दोनों हाथ उठाकर कहा।

उस पुरुष ने संदेह से उसकी ओर देख कर कहा—"किन्तु अपना अभिप्राय निवेदन कर, क्या तू लंका का नागर है?"

"नहीं, मैं आगत पुरुष हूँ।"

"यक्ष है?"

"नहीं, रक्ष हूं।"

"कहां का?"

"आन्ध्रालय का।"

"आह, वह तो धनेश दिग्पाल के मातृकुल का प्रदेश है।"

"मैं धनेश दिग्पाल के मातृकुल का पुरुष हूं।"

"तो तेरा स्वागत है। मातृकुल से तेरा क्या सम्बन्ध है?"

"मैं धनेश दिग्पाल का मातुल हूँ।"

"अहा, मातुल।"—वह पुरुष अट्टहास करके हंस दिया। "एहि-एहि, अपने जन्म से किस कुल को धन्य किया मातुल?"

"मैं दैत्यपति सुमाली का पुत्र हू, और धनेश दिग्पाल की विमाता केकसी का अनुज।"

"अभिवादन करता हू, अभिनन्दन करता हू, किन्तु क्या कह कर आपको पुकारूं?"

"मेरा नाम प्रहस्त है, मैं धनेश दिग्पाल के अनुज रक्षपति रावण का आमात्य हूं। रक्षपति रावण का सदेश लेकर ही मैं धनेश दिग्पाल के चरणों में उपस्थित हुआ हू।"

"स्वस्ति, यक्षपति दिग्पाल अभी सोमरस पान करने नन्दन वन गए हैं। अब उनके आने का समय हो रहा है। महापराक्रमी दिग्पाल धनेश के आते ही मैं उनसे आपका शुभागमन निवेदन करता हूँ। तब तक आप यहां रत्नपीठ पर बैठ कर विश्राम कीजिए या यथेच्छ महालय में विचरण कीजिए। शुक, सारिका, चक्रवाक, कोकिल आदि विहगों में मन बहलाइए।

प्रहस्त उस पुरुष के वचन से आश्वस्त हो, चारों ओर घूम-फिर कर उस अपूर्व सौध को देखने और मन मे यह सोचने लगा—यह सारी ही सम्पदा मेरे पिता की है। अत. मैं ही इसका वास्तविक स्वामी हूँ। परन्तु कालविपाक से यह धनेश कुबेर इसका अधिपति बना है और मैं अपरिचित अतिथि की भांति यहां उपस्थित हूँ।

प्रहस्त अभी इन बातों पर विचार ही कर रहा था कि उसने देखा—एक मणिकांचननिर्मित रथ पर चन्द्रमा के समान एक कान्तिमान पुरुष सिर पर किरीट, कानों में कुण्डल और कमर में मेखला धारण किए,अनेक दिव्यांगनाओं, अप्सराओं और गन्धर्वों

से घिरा चला जा रहा है। अनेक किन्नर और गन्धर्व नृत्य करते और गाते चले आ रहे हैं। उस तेजस्वी पुरुष के तेज से जैसे वह स्थान ही आलोकित हो रहा है।

रथ से उतरते ही उस द्वार-पुरुष ने आगे बढ़ कर उस दिव्य पुरुष को अभिवादन कर कहा—"धर्मावतार, यह महात्मा प्रहस्त, दैत्य-पति सुमाली का पुत्र, आपकी विमाता कैकसी का अनुज, और आपका प्रतिष्ठित मातुल यहां उपस्थित है। यह आपके अनुज आयुष्मान् रावण का संदेश लेकर देव के सम्मुख आया है। आगे देव प्रमाण है।"

द्वारपुरुष के इतना कहते ही, लोकपाल दिग्पति कुवेर दोनों भुजा पसार कर अपने स्वर्णतारों से झिलमिल उत्तरीय को, तथा कुंचित घन-सघन कृष्ण काकपक्ष को सुरभित हवा में फह-राता हुआ हंसकर बोला—"आओ मातुल, इस स्वर्ण-लंका में आपका स्वागत है। कहिए, मेरे पितृचरण तो कुशल से हैं? और मेरा प्रिय भाई रावण प्रसन्न है न? मेरे सब सम्बन्धी, मित्र, बन्धु सुखपूर्वक है न?"

प्रहस्त ने हाथ जोड़कर विनय की—"धनेश दिग्पाल कुवेर, आपकी कृपा से सब भांति कुशल है। मैं आपकी सेवा में आपके प्रिय अनुज रावण का सदेश लेकर आया हूँ।"

"अहा, रावण, वह मेरा वीर भाई प्राणों से भी अधिक प्रिय है। कहो मैं उस प्रियदर्शी रावण का क्या प्रिय करू? मेरे प्रिय अनुज की क्या अभिलाषा है जिसे मैं पूर्ण करूं?"

प्रहस्त ने कहा—"देव धनपति, आपने अग्रज के चरणों में अनुगत रावण ने अनेक बार अभिवादन करने के बाद मुझे देव-चरण में यह विनीत निवेदन करने के लिए भेजा है कि लंका-पुरी और लंका-साम्राज्य हम दैत्यों का है। इसलिए इसे आप हमें लौटा दें तो ठीक है। यह एक धर्म की बात है। इसमें हमारा-

आपका प्रेम भी बना रहेगा।"

प्रहस्त की बात सुन कर धनेश कुछ क्षण चुप रहा। फिर उसने धीरे से कहा—"मातुल, रावण दशग्रीव के शौर्य का बखान हम सुनते रहते हैं। उस आयुष्मान् ने हमारे आसपास के सभी द्वीप जय कर लिए हैं। यह ठीक है कि पहिले यह लंकापुरी आपके पिता दैत्यराज सुमाली की थी। परन्तु, जिस समय मेरे पिता ने निवास के लिए यह लंकापुरी मुझे दी थी, उस समय यह सूनी थी। यहां कोई राजा नहीं था। मैंने ही इसे फिर से बसा कर धन-जन से सम्पन्न किया है। यद्यपि तुम्हारे-हमारे आचार में अन्तर है, तुम रक्ष-संस्कृति के प्रतिष्ठाता हो और मैं यक्ष-संस्कृति का। परन्तु इससे क्या? हम सब दायाद-बान्धव तो हैं ही। तथा इस लंकापुरी में इस समय, देव, दैत्य, किन्नर, असुर, नाग सभी जाति के जन रहते हैं। सबका समान ही अधिकार है। इससे तुम मेरे अनुज रावण से कहो कि इस मेरी बसाई हुई लंका में वह भी आकर सुख से रहे। बाधा कुछ नहीं है। लंका जैसी मेरी है—वैसी उसकी भी है। क्योंकि अभी पिता ने रावण के साथ हमारा कोई बटवारा नहीं किया है। अभी तक हमारे पिता का सारा धन और राज्य बिना बटा हुआ ही है।"

धनपति कुबेर से यह सारगर्भित और युक्तियुक्त वचन सुनकर प्रहस्त के मुख से बोल नहीं निकला। वह नीची गर्दन किए कुछ सोचता रह गया।

कुबेर ने प्रहस्त का खूब आत्मीयता से सत्कार किया और सब भांति पूजित कर उसे विदा किया।

१२

लघु अभियान

दैत्यों का वह छोटा-सा दल निश्शब्द, नीरव, समुद्र-तट से तनिक हट कर घाटी में—टेढ़े-तिरछे मार्ग मे तीव्र गति से नगर की ओर बढ़ रहा था। दल के आगे रावण कन्धे पर भीमकाय परशु रखे चल रहा था। उसके पीछे वृद्ध व्याघ्र दैत्य सेनापति सुमाली था। दैत्यदल को ये काली-काली छायाएं चतुर्थी की चन्द्र-ज्योति में हिलती हुई-सी विचित्र प्रतीत हो रही थीं। दैत्यो के इस दल को विकट निर्जन तथा ऊबड़-खाबड़ मार्ग मे चलने से कुछ भी कष्ट नहीं हो रहा था। दल का प्रत्येक भट विजय के विश्वास से ओतप्रोत था।

सुमाली ने आगे बढ़कर रावण के कन्धे पर हाथ रखा। रावण ने तनिक कान पीछे झुका कर कहा—"कुछ और आदेश है मातामह ?"

"नहीं पुत्र, सब पूर्व नियोजित है। किन्तु तेरे भट यथासमय उपस्थित मिलेंगे न ? ऐसा न हो वे सब उत्सव के हुर्दंग में मद्यपान कर मत्त हो जायं।"

"ऐसा न होगा मातामह, उनका नेतृत्व मातुल अकम्पन कर रहे हैं।"

"तब ठीक है, हमारे मद्यभाण्ड भी नागराज को समय पर मिल जाएँगे। परन्तु पुत्र, ठीक क्षण आने तक धैर्य रखना। इन नागों को मैं भलीभांति जानता हूं। विष और मद्य इन्हें अभिभूत नहीं करते। ये दिव्योषधि सेवन करते तथा सोमपान करते हैं। इसी से एक प्रकार से वे सब मृत्युञ्जय हैं।"

"चिन्ता न कीजिए मातामह, रावण का यह परशु किसी मृत्युञ्जय की आन नहीं मानता और फिर हमें उनके प्राण लेने से क्या प्रयोजन है। हम तो द्वीप पर अधिकार चाहते हैं। यदि नाग हमारी रक्ष संस्कृति को स्वीकार कर लें, तो हमारी ओर से वे ही द्वीप पर शासन करें।"

"यह पीछे देखा जायगा पुत्र, पहिले युद्ध, पीछे राजनीति। यह देखो, सामने ही पुर है। आशा करता हू, नगर-द्वार पर हमें अपने भट मिल जायगे।"

"द्वार के निकट ही हमारे भट छिपे हुए हैं।"

"तो अब हमें सावधान रहना चाहिए।"

"आप केवल दल का पृष्ठ भाग सम्हालिए। मैं सब निबट लूंगा। नगर में हमारे मित्र बहुत हैं। राजसभा में भी हमारे मित्र हैं। सब दैत्य, असुर, दानव और राक्षस तो अपने मित्र हैं ही। यक्ष, देव और गन्धर्व भी विरोध न करेंगे। फिर नर, नाग ही रहे। सो उनका बल ही क्या ?"

"ठीक है, पर पुत्र, शत्रु को कभी लघु न गिनना, सावधान रहना।"

उत्तर में रावण ने वृद्ध नाना का हाथ कसकर पकड़ तनिक मुस्करा दिया। दैत्य आश्वस्त हो गया।

कुछ ठहर कर रावण ने हसकर कहा—"मातामह, आप तो नागपति के पिता के मित्र हैं। वज्रनाभ आपका तो स्वागत ही करेगा।"

"नहीं तो क्या ? और जब मैं उससे कहूंगा कि यह दिग्पति धनेश कुबेर का अनुज—दशानन रावण है, तो वह ससम्भ्रम तुझे अभ्युत्थान देगा।"

"स्वस्ति, तो हमारे सर्वोपरि अस्त्र ये मद्यभाण्ड हैं।"

"ये रत्नमणि भी अस्त्र ही समझ पुत्र। जब हम यह सब

स्वर्ण, रत्नमणि और मद्यभाण्ड उसे मैत्रीभाव मे भेंट करेंगे, तो आनन्द से उन्मत्त होकर वह हमारी ही लाई हुई सुरा का सब सचिव-सहित पान करेगा। इन नागों को हमारी मसालेदार मद्य बहुत प्रिय है, और मेरी बनाई हुई सुवासित मद्य जो एक वार पी लेगा, उसे भूलेगा नहीं, वह असंयत हो जायगा। वस, हम ज्योंही उन सब को मदमत्त और असावधान देखेंगे, अपने शेष कार्य सम्पूर्ण कर लेंगे।"

"इससे उत्तम युक्ति क्या हो सकती है मातामह, किन्तु आप क्या नागपति वज्रनाभ को पहचानते हैं?"

"न, उसका पिता मेरा कृपापात्र तथा मित्र था। उसने एक वार असुरों के विरुद्ध सम्मुख युद्ध मे मेरी सहायता की थी। वज्रनाभ यह जानता है और हमें मित्रभाव से आया जान, हमारा सत्कार करेगा।"

"तो हम उसे जय करके मित्र ही वना लेंगे मातामह?"

"जैसा संयोग होगा, वध भी करना पड़ सकता है। देख, यह सम्मुख ही तो नगरद्वार है। अव सव कोई सावधान हो जाओ। मैं आगे चल कर द्वार खुलवाता हूं।"

वृद्ध असुर आगे वढ़ा। अवरुद्ध द्वार पर आकर उसने पुकारा—"द्वार देहि, द्वारं देहि।"

द्वारपाल ने गोखे से सिर निकाल कर कहा—"कौन हो तुम?"

"नागराज के सम्माननीय अतिथि हैं, क्या तू नहीं जानता, आज नागराज हमारी अभ्यर्थना करेगा? वोल, तुझे आदेश मिला है?"

"आदेश नहीं मिला है, चिन्ह है?"

"चिन्ह भी देख ले"—वूढ़े दैत्य ने वगल से एक नरसिंहा निकाल कर जोर से फूंका। इधर-उधर छिपे, वहुत से दैत्यों ने

आकर उस सुभट का सिर काट लिया, और द्वार खोल दिया।

सभी दैत्य नगर मे घुस गए। द्वार-अवरोधकर्त्ता युद्ध करने लगे। परन्तु रावण द्वार पर रुका नहीं, वेग से अपने सुभटो को सग लिए राजप्रासाद की ओर बढ़ता चला गया। जो दो चार नाग सुभट द्वार-रक्षा में उपस्थित थे, उन्हें मार कर असुरों ने द्वार अधिकृत कर लिया। किसी को भी यह बात कानो कान न सुनाई दी।

अब भेरी और नगाडे बजाते हुए दैत्य राजद्वार मे घुस गए। प्रासाद मे किसी ने उनका विरोध नहीं किया। कुछ इधर-उधर बिखर कर भीड मे मिल गए। प्रासाद मे बहुत भीड़भाड थी। बहुत लोग प्रासाद मे आ-जा रहे थे। लोग ठौर-ठौर मद्यपान कर के कोलाहल मचा रहे थे। ये असुर भी जहा-तहां इनमे घुस कर कोलाहल मचाने और मद्य पीने-पिलाने लगे। वास्तव में आज नाग सवत्सर-समारोह मना रहे थे। राजप्रासाद खूब सजा था। विविध वाद्यों के निनाद और लोगो के शोर के कोलाहल से कान नहीं दिए जाते थे। सभा-भवन और मण्डप खूब ठाठ से सजाए गए थे। सारे सभा-मण्डप में रग-बिरगी पताकाए फहरा रही थीं। बीच मे रत्नजटित मण्डप था और उसपर स्वर्णतार-खचित वस्त्र पड़ा था। सभा में नर-नाग-दैत्य-दानव-असुर-देव सभी उपस्थित थे। नागराज का सिंहासन सिंहल के बड़े-बड़े मुक्ताओं से सजाया गया था। वहां अनेक प्रकार के सुगन्ध द्रव्य जल रहे थे।

सभा-मण्डप के एक कोने में वादकों का एक दल मधुर वाद्य बजा रहा था। कुछ देर बाद एक प्रौढ़ पुरुप स्वर्ण-विमान पर सवार सभामण्डप में आया। दिव्यांगनाए वह स्वर्ण-विमान उठाए हुए थीं। बहुत सी वारबनिताए उसके आगे मगलगान करतीं आ रही थीं। विमान के चारो ओर शुभ्रवसना कुमारिकाए

मंगलचिह्न लिए लाज विसर्ग करती चल रही थीं। यही भोगिराज नागपति वज्रनाभ था।

वज्रनाभ के सभामण्डप में आते ही सब बाजे बड़े जोर से बज उठे। सिंहद्वार पर दुन्दुभी गर्जने लगी। सभी लोग जयजयकार करते उठ खड़े हुए और घुटनों पर हाथ टेक खड़े रह गए। भोगिराज के सम्मुख सीधा खड़ा होने का किसी को आदेश न था। ठीक इसी समय मण्डप के बाहर दूसरी ओर दुन्दुभी बज उठी। और एक ही क्षण बाद वज्रवक्ष दशानन रावण हाथ में भीमकाय परशु और दैत्यपति सुमाली विकराल खड्ग लिए लाल वस्त्र पहिने सभामण्डप में आ खड़े हुए। इन दो महा तेजस्वी पुरुषों को देखकर सभा भीत चकित रह गई। जो वाद्य सभा में बज रहे थे, स्तब्ध हो गए। आगन्तुक शत्रु हैं या मित्र, यह कोई भी न जान सका। नागराज वज्रनाभि घूर-घूर कर रावण की वज्रमुष्टि में गहे हुए परशु को देखने लगा।

परन्तु इसी समय दैत्य सुमाली ने आगे बढ़ कर कहा—"स्वस्ति नागराज, मैं दैत्य सुमाली हूँ और यह आयुष्मान् दशानन रावण मेरा दौहित्र तथा दिग्पति धनेश कुबेर का अनुज है। रावण का कुछ अभिप्राय है, जिसे वह अभी निवेदन करेगा। अभी आप हमारी यह स्नेहभेंट स्वीकार कीजिए।" इतना कह कर दैत्यपति ने संकेत किया। दैत्य अनुचरों ने मद्यभाण्ड ला लाकर नागराज के सम्मुख ला धरे। रत्नमणि की मंजूषाएं भी नागराज के सम्मुख खोल दीं।

यह मूल्यवान स्नेहभेंट देख नागपति प्रसन्न हो गया। वह सिंहासन छोड़ उठ खड़ा हुआ। आगे बढ़कर उसने रावण को छाती से लगा कर सिर सूंघा और आंखों में आंसू भर कर प्रेम-गद्गद् होकर कहा—"स्वागत भद्र, जैसे लोकपाल धनेश मेरा मित्र है, वैसा ही तू है। तेरे पिता विश्रवा मुनिको मैं जानता हूं।"

पर पिल पडे। न जाने कहां से दैत्यों के दल बादल-जैसे भूमि फाड़कर निकल-निकल कर आने लगे। कुछ क्षणों में ही नागों का सफाया हो गया। बचे हुए नाग-गन्धर्व-यक्षों ने रावण की आधीनता स्वीकार कर ली। नागराज के कटे हुए सिर को उठा उसी के रक्त से रावण के मस्तक पर तिलक देकर तथा उसे रक्तप्लुत सिंहासन पर बैठाकर दैत्येन्द्र सुमाली ने विकराल खड्ग हवा में हिलाते हुए जोर से चिल्ला कर कहा—"वयं रक्षाम"। दैत्यों-नागों-दानवों-गन्धर्वों-यक्षों ने एक स्वर से यही स्वर ध्वनित किया। बलिद्वीप में रावण की आन फिर गई। नागों के उस भव्य प्रासाद को रावण और उसके साथी दैत्यों ने अधिकृत कर, अन्त:पुर पर अपने पहरे बैठा दिए। इस समय तीन पहर रात व्यतीत हुई थी।



१३

दानव मकराक्ष

भोर होते ही रावण ने रक्ताम्बर धारण किया। गोह-चर्म के दस्ताने पहिने। कृष्णाजिन वक्ष पर बांधा। सिर पर क़िरीट, पैरों में चर्म-रज्जु के दृढ़ उपानत। कमर में दुकूल और उसपर मरकतमणि का कटिबन्ध। कन्धे पर धनुष और हाथ में वही विकराल परशु—जिसका नागरक्त अभी सूखा न था।

उसने अपने मामा अकम्पन को बुलाकर कहा—"मातुल, नागपति की अश्वशाला से सर्वश्रेष्ठ चार अश्वतरी छांट लो, और नागराज का स्वर्णरथ मेरे लिए तैयार करो। उसे शक्ति, शूल, परिघ, बाण और तोमर से सज्जित कर शीघ्र उपस्थित करो।"

अकम्पन के जाने पर उसने वृद्ध दैत्य सुमाली से कहा—"मातामह, एक छोटा सा अभियान है, मैं जाता हूँ। वलिद्वीप और नागराज के अवरोध का आप यथारुचि विघटन कर लीजिए।"

सुमाली ने कहा—"तुझे क्या कुछ भट चाहिए पुत्र ?"

"नहीं, मातुल अकम्पन मेरे साथ हैं।"

सुसज्जित रथ आ उपस्थित हुआ। वह मणि-कांचन के सहयोग से विचित्र चित्रकला द्वारा विश्वकर्मा ने बनाया था। चर्मफलक और चर्म-रज्जुओं से वह बंधा था। उसमें सहस्र स्वर्णघंटिकाएँ लगी थीं, जिनकी रणध्वनि शतसहस्र भ्रमरों की गुंजान की भांति कर्णप्रिय थी।

काले रंग की चार अश्वतरी, जो उसमें जुती थीं, वे विद्युत की भांति चपल थीं। उनके कान खड़े थे और थूथन बड़ी थी। वे अपने खुरों से भूमि को खोद अपनी आतुरता प्रकट कर रही थीं।

रावण रथ पर सवार हुआ और अकम्पन ने वल्गु ली। अश्वतरियां वायुवेग से चलीं। रावण के संकेत पर, पर्वत की उपत्यका की दिशा में, अर्जना-तट की ओर।

देखते ही देखते, वन, वीथी, हाट, मार्ग पीछे रहते चले गए। पार्श्व में समुद्र को गर्जन करते छोड़, समुद्र-गर्जना से होड़ सी करती हुई रथ की स्वर्ण-घण्टिकाएं—क्वणनध्वनि करती हुई चली जा रही थीं, धनुष से छूटे हुए साठ टक के बाण के समान वेग से, सीधे अर्जना-तट की ओर—जहां रावण की अभिसार-नायिका—वही, उन्मुक्त, उन्मुख, अनावृत यौवनवाली दैत्यबाला थी, जिसने रावण के वक्ष पर स्तन-विक्षेप के बाद लात मार कर उसे सम्पन्न किया था, और जिसने उसके महार्घ मरकत के कटि-बन्ध के दान को अस्वीकार कर, कल अस्तगत सूर्य के सान्निध्य में एक भाण्ड मद्य पीने के लिए उससे अनुरोध किया था।

वह उन्मुख, अनावृत यौवन, वह चरणाघात, वह उन्मुक्त हास और जलगर्भ का विलास, जैसे शतसहस्र मुख से रावण के वज्रवक्ष को आन्दोलित कर रहा था। उसे एक-एक क्षण का विलम्ब भी सह्य न था। वह असयत-सा कह रहा था—"सर्प, मातुल सर्प।" और दैत्य अकम्पन की चर्मरज्जु के कड़े आघात शपाशप अश्वतरी की पीठों पर पड़ रहे थे, जिनसे प्रताड़ित हो उनके खुर जैसे भू-स्पर्श छोड़ वायु में अधर उड़े चले जा रहे थे।

अर्जना का तट आया। तट पर एक सघन मनोरम वन था। वन में अनेक ताल-तमाल-हिन्ताल के वृक्ष थे। हरिण थे, पक्षी थे, उनका कलरव था। स्थान-स्थान पर वहां इस समय अग्निदाह हो रहा था। कुछ हाथ, पैर, गर्दन कटे शव पड़े थे। स्त्रियों के शख-चूड़, गु जामाल, वस्त्रखण्ड, स्वर्णवलय टूटे-फूटे इधर-उधर पड़े थे। टूटे हुए शक्ति-परशु—खड्ग और मरे-अधमरे पशु सिसक रहे थे।

रावण ने रथ से उतर कर देखा। उसने कहा—"मातुल, यहां तो विकट संग्राम हुआ प्रतीत होता है। सभी शव गर्म हैं। युद्ध सम्भवतः अभी हुआ है। देखो तो, कोई जीवित पुरुष भी है, जिससे घटना का ज्ञान हो।"

अकम्पन ने बारीकी से देखा। एक बूढ़े असुर में अभी प्राण थे। उसी ने टूटेफूटे स्वर में बताया कि दानवो के एक दल ने आक्रमण करके उनका ग्राम-गोत्र लूट लिया है। ग्राम का सब स्वर्ण, अन्न और स्त्रियो को वे लूट ले गए हैं, तथा सब जीवित पुरुषों को बांध कर बन्दी बना ले गए हैं। दैत्य ने बताया—वे दक्षिण दिशा मे समुद्र तीर-तीर गए हैं।

रावण ने हुंकृति भरी। रथ पर खड़े होकर दक्षिण दिशा की ओर देखा। उसने उसी दिशा की ओर परशु उठाकर कहा—"चलो तो मातुल, देखो, वह धूल उठ रही है।"

और अश्वतरी उसी दिशा में उड़ चलीं। अधीर होकर रावण रथ पर खड़ा होकर व्यग्रभाव से उधर देखने लगा। देखते-देखते धूल का बवंडर निकट होता गया। थोड़ी ही देर में देखा—दानवों का एक सम्पन्न संगठित दल सब दैत्यों, स्त्री-पुरुषों को रस्सियों मे बांधे, उनका अन्न, स्वर्ण गठरियों मे लादे, उनका पशुधन आगे कर परिघ, शूल, कृपाण, शक्ति, शूल, खड्ग हवा में उछालता वन के गहनतम प्रदेश मे बढ़ता जा रहा है।

आगे बढ़ कर रावण ने ललकारा। साथ ही उसने दशबाण दसदस टंक के छोड़े। बाणविद्ध होकर दानवदल घूमा। उन्होंने देखा—एक दुर्धर्ष तरुण योद्धा दिव्य रथ पर आरूढ़ धंसा चला आ रहा है।

दलपति ने दानवों को तुरन्त व्यूहबद्ध खड़े होने की आज्ञा दी। बन्दियो और आहतो को दूर खड़ा किया। पलट कर उसने पुकार

कर कहा—"यह अकारण हम पर आक्रमण करके वैर करने वाला महाभाग कौन है ? इस अकारण के वैर का कारण क्या है ? वह कहे कि हम उसका बाणों से सत्कार करें, या मधुपर्क से ।"

रावण ने कहा—"मैं रक्षाधिप वैश्रवण रावण हूं। इन सब द्वीपसमूहों का स्वामी । तुमने मेरे द्वीप पर अनाचार किया है। कहो, तुम्हारा ग्राम, गोत्र कहां है ?"

"इसी द्वीप के उस ओर हमारा द्वीप है । और गोत्र भी है। परन्तु तुम कैसे इस द्वीप के स्वामी हो ? द्वीप का अधिपति वज्रनाभ है। वह हमारा मित्र है ।"

"वज्रनाभ का सिर इसी परशु से मैंने गत रात्रि काटकर द्वीप पर अपना अधिकार किया है। सो अब तक तुमने यदि राक्षसपति रावण दशग्रीव का नाम न सुना हो,तो अब सुनो, और जान लो, कि आज से यह वलिद्वीप रक्ष संस्कृति के अधीन हुआ है। हम राक्षस इसके अधीश्वर हैं । जो कोई हम से सहमत है, उसे अभय। जो सहमत नहीं है, उसका इसी परशु से, इसी क्षण सिरच्छेद होगा ।"

दानवेन्द्र का नाम मकराक्ष था । वह वालीद्वीप के आसपास के छोटे-छोटे द्वीपों का स्वामी था। नागराज का वह मित्र था। वह एक तेजस्वी योद्धा था । उसने कहा—"अरे, विश्रवा के पुत्र, तू तो बड़ा ही धृष्ट दीख पड़ता है। क्या दानवों से भी तू भय नहीं खाता ? तू वीर और प्रियदर्शन है, पर तूने हमारे मित्र नागपति वज्रनाभ को मारा है, इसका दण्ड मैं तुझे दूंगा। इसके अतिरिक्त तूने मेरे काम में प्रत्यय किया है। आज मैं तेरे ही स्वादिष्ट मांस का भोजन करूंगा। बोल,मरने से प्रथम तू क्या चाहता है ? मैं मकराक्ष दानवराज हूँ। कह, तुझ शत्रु का क्या प्रिय करू ?"

"दानवराज मकराक्ष ? भले मिले। आपका नाम मैंने सुना है। 'युद्धं देहि'। मैं आपसे युद्ध मांगता हूँ। पर आप विरथ हैं,

इसलिए मैं रथ पर नहीं लड़ूंगा।" रावण रथ से कूद पड़ा। दानव ने कहा—"नहीं, विश्रवा मुनि के पुत्र, तू रथ पर ही रह। हम विरथ हैं, पर संख्या में बहुत हैं। तू एकाकी है, सो रथ पर अयुक्त नहीं है।"

परन्तु रावण ने स्वीकार नहीं किया। अकम्पन की बात भी नहीं मानी। उसने कहा—"मातुल, तुम खड़े रह कर मेरा युद्ध देखो।"

इतना कहकर वह अपना परशु घुमाता हुआ दानवों के दल में घुस गया और रणोन्मत्त हो दानवों के सिर अपने परशु से काटने लगा। दानव भी तोमर-भिन्दिपाल आदि शस्त्र ले रावण पर टूट पड़े। परन्तु रावण इनसे तनिक भी भयभीत न हुआ। यह देख दानवेन्द्र ने पांच तोमरों से रावण पर प्रहार किया, इससे रावण रक्त में शराबोर हो गया। परन्तु उसे तनिक भी सम्हलने का अवसर न दे दानवेन्द्र ने यमदण्ड के समान भारी मुग्दर घुमाकर रावण के वक्ष पर प्रहार किया। इससे रावण रक्त वमन करने लगा और थोड़ी ही देर में मूर्छित हो पृथ्वी पर गिर गया। दानव-सेना हर्ष से चीत्कार कर उठी। मकराक्ष ने कहा—"अब इस मत्त-गयन्द को लोह-शृंखलाओं से बांध लो।" परन्तु इसी समय रावण चैतन्य हुआ। क्रोध से थरथराता रावण फणी की भांति हुंकार करके खड़ा हुआ। और उसने प्रचण्ड वेग से मकराक्ष पर शक्ति चलाई। शक्ति के छाती पर लगते ही दानवेन्द्र घूम कर पृथ्वी पर गिर गया। यह देख हाय-हाय करते बहुत से दानवों ने अपने राजा को घेर लिया। उन्हें क्रुद्ध रावण ने इस प्रकार दलन करना प्रारम्भ किया कि वे, जिसका जिधर सींग समाया, भाग खड़े हुए।

इसी समय दानवेन्द्र की मूर्छा टूटी। उसने अपनी भागती हुई दानवेन्द्र की सेना को निवारण किया। फिर रावण से कहा—"वीर विश्रवापुत्र, तू धन्य है। तेरे वीरत्व पर मैं प्रसन्न हूं। परन्तु

तुझ एकाकी विरथ रथी से हम सब का युद्ध करना न्यायसंगत नहीं है। इसलिए वीर, तू हममे से जिसे चाहे, उसी से द्वन्दयुद्ध कर।" रावण ने मुह का रक्त पोछते हुए कहा—"ऐसा ही सही। तब दानवेन्द्र मकराक्ष स्वय ही मेरे साथ युद्ध करके मेरी प्रतिष्ठा बढ़ाएँ।"

यह सुनकर दानवेन्द्र ने कहा—"तथास्तु।" दोनो वीर गदा लेकर परस्पर गुथ गए। उनकी गदाएँ जब आपस में टकराती थीं तो उसमे से अग्निस्फुलिंग निकलता था, तथा बडा घोर शब्द होता था। दोनों वीर एक दूसरे के वक्ष को ताक-ताक कर वार करना चाहते थे। परन्तु दोनों मे से कोई किसी को अवसर न देता था। बहुत देर तक यह असह्य युद्ध होता रहा। अन्त में अवसर पाकर दानव मकराक्ष ने गदा घुमा कर रावण के वक्ष पर प्रहार किया। प्रहार से गदा के दो टुकड़े हो गए। रावण दर्द से कराह कर भूमि पर गिर गया और रक्त वमन करता हुआ मूर्छित हो गया। दानवेन्द्र मकराक्ष ने उसे अच्छी तरह रस्सियो से जकड़ कर बांध लिया।

यह देख अकम्पन रथ को त्याग हाथ में शूल ले आगे बढ़ा। दानवेन्द्र मकराक्ष ने कहा—"अब तुम्हारे प्राण देने से क्या प्रयोजन है, वीर। हमने अपने पराक्रम से द्वन्दयुद्ध मे वैश्रवण रावण को बन्दी किया है। तुम्हें उचित है, अपनी नगरी को लौट जाओ।" रावण ने मूर्छा भंग होने पर अपने बन्धन देख अकम्पन से कहा—"मातुल, मातामह से कहना—मकराक्ष दानव ने मुझे द्वन्दयुद्ध में बन्दी किया है।" अकम्पन भी कुछ सोचकर रुक गया। दानव रावण को बांध कर सब बन्दियों के साथ समुद्र-तीर पर ले चले। समुद्र-तट पर तरणी बधी थीं। अपने बन्दियों और लूटे साज-सामान के साथ दानवेन्द्र मकराक्ष दलबल सहित तरणियों पर चढ़ अपने द्वीप की ओर चल दिया।

१४

जल-देव

दानवों का यह दल अपने वन्दियों और लूटे हुए माल को लेकर तरणियों में वैठ तेजी से समुद्र-गर्भ में अग्रसर होने लगा। वन्दियों के बीच रस्सियों से बंधी हुई अपनी प्रेयसी—उस तरुणी को रावण ने अपने परिजनों के साथ बैठे देख लिया। रावण को देखते ही तरुणी की आंखें चमकने लगीं। उसने पास वैठे एक बूढ़े दैत्य के कान में कुछ कहा। दैत्य ने आंख उठा कर रावण को देखा।

छाती में करारी चोट लगने और रक्त वमन करने के कारण रावण अस्वस्थ और श्रमित हो रहा था। परन्तु उसने अकेले ही दानवेन्द्र से रथारूढ़ होने पर भी विरथ होकर द्वन्दयुद्ध किया था। इसलिए दानवेन्द्र ने उसे आदरपूर्वक सब वन्दियों से पृथक् वैठाया तथा पीने को एक भाण्ड मद्य भी दिया। परन्तु रावण ने अस्वीकार करके कहा—"सभी वंदियों के समान मैं भी हूं, अनुग्रह मुझे नहीं चाहिए।" दानवेन्द्र ने फिर आग्रह नहीं किया। धीरे-धीरे सूर्य अस्त होने लगा और सागर में भी तूफान के चिह्न प्रकट होने लगे। तरणियों पर सभी पाल चढ़ा दिए गए। बन्दी, स्त्रियां और धन की मंजूषाएं वीच में रख ली गईं। सभी तरणियों को एक में वांध दिया गया। देखते ही देखते वायु का वेग वढ़ गया। विजली चमकने लगी। प्रचण्ड वायु हल्की वस्तुओं को उठाती और भारी वस्तुओं को गिराती प्रलय-गर्जना करने लगी। सागर में चट्टानों की भांति वड़ी-वड़ी लहरें उठ कर उन क्षुद्र तरणियों को आकाश में उछालने और गिराने लगीं।

बन्दी और अबन्दी सभी जन चीत्कार करने लगे। सबके कोलाहल से वह समुद्र का गर्जन-तर्जन और भी भयावह हो उठा। चर्म-रज्जुओं के सुदृढ बन्धन टूट-टूट कर तरणिया दूर-दूर बहने और उलट-पलट होने लगीं। दानवेन्द्र ने बन्दियों को बन्धनमुक्त करके अपनी-अपनी सुरक्षा करने को उत्साहित किया। इसी क्षण वह तरणी जिसमें असुर बन्दी थे, एक पर्वत के समान लहर पर बहुत ऊची चढ़ कर पलट गई। लहर के थपेड़ों से उसके टुकड़े टुकड़े हो गए। तरणी के सब आरोही महासागर के उस प्रलय-तूफान में खो गए। सबसे पृथक् बधे रहने के कारण रावण बन्धन-मुक्त न हो सका। रावणकी अभिसार सखी उस दैत्यबाला ने गिरते गिरते यह देखा। पर्वत समान विशाल एक लहर ने उसे बहुत ऊचा उछालकर दूर फेंक दिया था। वह उस अनन्त सागरके सघन अन्धकार मे आखें फाड-फाड़ कर अपने चारो ओर अपने रमण को देखने लगी। समुद्र जल की सारी बौछारें चारो ओर से उसकी आंखों को अन्धी कर रही थीं। लहरों के थपेड़े उसे स्थिर रहने नहीं देते थे। वह बार-बार अपना वक्ष ऊपर उठा अपने प्रियतम को निहार रही थी। एकाएक एक तरग ने रावण को उछाला और फिर वहीं जल-गर्भ में ही उसे ले गई। यह देख दैत्यबाला ने अपने कमर में खुपा हुआ छुरा दांतो में दबाया और एक डुबकी ली। दुर्धर्ष प्रयास के बाद उसने रावण को पकडा। रावण मूर्छित था। उसने झट उसके बन्धन काटे और वेग से धकेलती हुई लहरों के सहारे उसे ले चली। इसी समय एक काष्ठ-फलक बहता हुआ उसके हाथ लग गया। उसने जोर लगा कर रावण के शरीर को उसपर टेक दिया, और एक भुजा से उसे सम्हालती हुई तथा दूसरी से लहरों को काटती हुई वह महासागर से कठिन जीवन-युद्ध करने लगी।

थोड़ी ही देर में रावण की मूर्छा भग हुई। इससे दैत्यबाला

अत्यन्त आशान्वित हो उसके बिल्कुल निकट आकर बोली—"साहस कर रमण, और अपने भार को ठीक तौर से इस काष्ठ-फलक पर रख।"

रावण ने अपने भार को ठीक तरह काष्ठ-फलक पर डाला। फिर एक हाथ से उसे निकट लाते हुए बोला—"तूने मेरी प्राण-रक्षा की है।"

"मातृचरण को खोकर, हन्त! एक ही क्षण में मुझे तू दिखाई पड़ा और माता भी। मैं एक ही की रक्षा कर सकती थी—सो मैंने तुझे ही सहायता दी। तू चैतन्य है, स्वस्थ है—मैं इससे प्रसन्न हूं। पर तू इन दानवों में कैसे आ फंसा रमण?"

"तेरे ही लिए। एक भाण्ड मद्य पीने के लिए तेरा निमन्त्रण था, और तुझे हरण करने का मेरा आग्रह था। इसी से तेरे ग्राम में आया था। पर जब देखा, मेरे अभिसार को कोई और ही हर ले गया तो मैं संयत न रहा, दानवों का मैंने पीछा किया।"

"तू तो रथी था, विरथ क्यों हुआ? रथ पर रहते क्या वे तुझे पराभूत कर सकते?"

"पर वे सब तो विरथ थे। विरथ से रथ लेकर युद्ध करना मेरी मर्यादा नहीं।"

"तेरे पराजय के शौर्य से मैं आनन्दित हूं रमण।"

"किन्तु पराजय किया किसने?"

"दानवेन्द्र ने तो।"

"न, तूने।"

"वह क्या आज? न, न, उसी विजन वन में सरोवर के तीर पर।"

"उसी की खीझ उतारने तो तेरे ग्राम आया था।"

"सो यहां तक साथ है।"—दैत्यबाला हँस दी।

तूफान गर्जन-तर्जन कर रहा था—लहरें आकाश-पाताल एक

कर रहीं थीं, पर ये युगल वीर जलदेव को लातो से तिरस्कृत करते दिल की घुण्डी खोलते जाते थे।

"अभी आगे भी साथ रहेगा।" रावण ने लापरवाही से कहा।

"कब तक भला।"

"इसका उत्तर तो पीछे—इस जलदेव से रक्षा होने पर दिया जायगा। अभी तू अधिक प्रयास न कर, काष्ठ-फलक पर सहारा ले चुपचाप तैरती चल। चिन्ता न कर।"

"मुझे भय था कि अब कहां तू मिलेगा।"

"एक क्षण भी मैंने तुझे नहीं भुलाया और अवकाश पाते ही मैं तेरे लिए भागा आया हूँ।"

"तू वीर है रमण।"

"किन्तु आज रात ही कहीं जल-समाधि हुई तो ?"

"मैं प्रसन्न हूँ, हो जाय।"

"नहीं, मेरा कार्य अभी संपूर्ण नहीं हुआ। मैं इस दानव को जय बिना किए लौटूंगा नहीं।"

"क्या तू इतना सम्पन्न है, ऐसी तेरी सामर्थ्य है ?"

"अभी बहती चल, अपने को डाल दे इस काष्ठ-फलक पर। और मेरे कण्ठ में डाल दे अपने भुज-मृणाल। बस, चिन्ता न कर।"

दोनों ही उस अगम महासागर में उस क्षुद्र काष्ठ-फलक के सहारे तैरते जा रहे थे। आहत और अशक्त रावण थक गया था। पर उसका साहस अपूर्व था। इसी समय अचानक तरुणी ने चीत्कार करके कहा—

"वह काली वस्तु क्या है देख !"

रावण ने सिर उठा कर देखा, भुनभुनाते हुए कहा—"तरणी है।" दोनों ने प्रयास करके तरणी को अधिकृत कर लिया। वह

उलट गई थी। उसे सीधा किया और स्वयं उस पर चढ़कर उसने तरुणी को भी खींच लिया। और फिर गिर गए तरणी पर निश्चेष्ट, परस्पर संश्लिष्ट, आवद्ध, मूर्छित।

× × × ×

समुद्र शान्त था और तरणी जलतरंगों पर थिरकती अपनी राह जा रही थी, तीर की ओर।

१५

वाचे पुरुपमालभेत्

ज्योंही दोनो की मूर्छा भग हुई, उन्होंने देखा—सूर्य की चमकती हुई सुनहरी धूप में दोनो तीर की रेती पर पड़े हैं, और वहुत से दानवो ने उन्हें घेर रखा है।

रावण उठकर बैठ गया। तरुणी को सम्बोधन करके उसने कहा—"हम कहां हैं?"

"सम्भवत दानवो के द्वीप मे।"

रावण ने आंख उठाकर अपने चारों ओर खडी भीड़ को देखा। उनमे आवाल वृद्ध सभी थे। वहुतो का रग गोरा और मुख सुन्दर था। अपने को वन्धनरहित देख रावण हसा, उसने हसकर युवती से कहा—"देखना यह है कि हम बन्दी हैं या अतिथि।"

इसी समय शस्त्रधारी दानवो की एक टोली वहां आई। टोली के नायक ने अपना शूल रावण के वक्ष पर रखकर कहा—"चलो, दानवेन्द्र की सेवा में।"

रावण ने सगिनी की ओर देखा और चुपचाप उठ खड़ा हुआ। दानवों की एक टोली दोनों वन्दियों को घेर कर ले चली। टेढ़े-मेढ़े रास्ते पार करते हुए वे एक पर्वत पर चढ़ने लगे। बन्दियो के पीछे बहुत दानव आबाल वृद्ध थे। सभी कौतूहल से पूर्ण थे। शीघ्र ही यह दल उस छोटी सी पहाड़ी के शिखर पर चढ़ गया। शिखर पर एक छोटा सा मैदान था। मैदान के बीचोंबीच जलदेव की विकराल मूर्ति थी। उसके आगे दो यूप थे। दानवों ने दोनो बन्दियों को यूपो से कस कर बांध दिया। थोड़ी देर में दानवेन्द्र

मकराक्ष गाजे-बाजे के साथ आया। दानवेन्द्र के साथ ही उसकी महिषी भी थी। महिषी प्रौढावस्था की थी। कभी वह सुन्दरी रही होगी। उसके अंग पर रत्न-मणि-स्वर्ण का बाहुल्य था। वह सुकोमल चर्मसज्जा से सज्जित थी। दानवपति मकराक्ष ने भी मस्तक पर, भुजाओं मे, वक्ष पर स्वर्ण धारण किया था। उसके एक हाथ मे स्वर्णदण्ड था, दूसरे मे मणि-कलश। वह धीरे-धीरे कोई मन्त्रपाठ करता आ रहा था। उसके साथ एक ठिगने कद का वृद्ध पुरुष था। उसकी खूब बड़ी लम्बी सफेद दाढ़ी थी। वह कमर मे व्याघ्रचर्म पहिने था। उसके हाथ मे बहुत बड़ा खड्ग था।

दोनों पुरुष यूप के आगे आकर रुक गए। दानवेन्द्र ने महिषी सहित देवता का पूजन किया। फिर दोनो बन्दियों को मुक्त कर स्नान कराकर उन्हे नवीन वस्त्र धारण कराए। हविष्यान्न खाने को दिया। इसके बाद दानवेन्द्र ने महिषीसहित हवन किया। अग्नि-प्रदक्षिणा करके उसने बलि का पूजन किया। वृद्ध दाढ़ी-वाला व्यक्ति 'चरक' था। उसने मन्त्रपाठ करते हुए कहा—

"वाचे पुरुषमालभेत्।"

दैत्येन्द्र ने अंजलि मे जल भरकर कहा—"वाग्देवता वै पुरुषं पूरकं आलभेत्।" इतना कहकर उसने अंजलि का जल रावण के सिर पर छिड़क दिया।

दाढ़ीवाले पुरुष ने फिर कहा—"प्रतीक्षायै कुमारीम्।"

दैत्येन्द्र ने उसी भांति अजलि मे जल भर कर कहा—"प्रतीक्षायै लब्धव्यस्य वस्तुना लाभ प्रतीक्षणाभिमानिन्यै कुमारी-मनूढां कन्यामालभते।"

इसके बाद दाढ़ीवाले पुरुष ने पुकार कर कहा—"पशु लाओ।"

तुरन्त ही गाय, घोड़ा आदि सात ग्राम्य पशु, और हरिण आदि

सात जगली जीव रस्सियो से बांध कर लाए गए । दाढ़ीवाले पुरुष ने मन्त्र-पाठ किया—

"पशून वावरुन्धे सप्त ग्राम्या. पशव सप्तारण्याः सप्तच्छंदांस्यु भय स्यावरुध्ये ।"

इसके बाद उसने रस्सी लेकर मन्त्र-पाठ करते हुए वलि-जीवों को बांधना आरम्भ किया ।

पुरुष ने मन्त्र-पाठ किया—

"आदद ऋतस्यत्वा देव हवि. पाशवाऽ ऽरभे सावित्रेण रशनामादाय यशोर्दक्षिणा बाह्वौ परिवीयोर्ध्वमुत्कृष्य आदद ।"

इस मन्त्र को पढ़कर दानवेन्द्र ने रावण की तथा महिषी ने दैत्यबाला की दाहिनी भुजा रस्सी से वाध कर ऊपर को खींची ।

चरक ने फिर मन्त्र-पाठ किया—

"दक्षिणोऽध शिरसि पाशेनाक्ष्णया प्रतिमुच्यघर्षा मानुषा नित्युत्तरतो यूपस्य नियुनक्ति दक्षिणातएकादशिनान् ।"

यह मन्त्रपाठ होने पर उन्होंने वही रस्सी सिर की तरफ ले जाकर पीछे से पैरों को भी बांध दिया । बच्चों का अग जकड़ गया ।

चरक ने अन्य पशुओ को भी इसी भांति दूसरे यूपों से बांध दिया, जिससे वे हिलडोल न सकें ।

अब उन्होंने मन्त्र-पाठ कर फिर अग्निहोत्र किया ।

चरक ने उठकर खड्ग उठाया और मन्त्र पढ़ा—

"वज्रो वै स्वधिति. शान्त्यै पार्श्वत० ।"

और एक पशु का सिर एक ही बार में धड़ से जुदा कर दिया । उसका मास-खण्ड लेकर यजमान दैत्येन्द्र और महिषी ने आहुति दी ।

इसी प्रकार मन्त्रपाठ करके एक-एक कर सभी पशुओं को मार-मार कर यज्ञ करना आरम्भ कर दिया ।

इस समय बहुत से दानव वहां आ जुटे थे। उनमें बहुत से उन मारे हुए पशुओं की खाल उधेड़-उधेड़ कर उनका मांस साफ करके बड़े-बड़े भाण्डों में भर कर चूल्हों पर चढ़ाने लगे। चरक ने मन्त्र-पाठ किया—"सुकृताच्छमितारः कृण्वन्तूत मेघश्रृत पाक पचन्तु।"

इसके बाद अब दानवेन्द्र मकराक्ष विकराल खाण्डा हाथ में लेकर रावणके सम्मुख आया। उसने कहा—"अरे विश्रवा मुनि के पुत्र, वाणी के देवता के लिए, जलों के देवता के लिए, अलभ्य वस्तु उपलब्ध होने के लिए मैं तेरी बलि देता हूं। अन्तरिक्ष के देव प्रसन्न हों। जल के देवता प्रसन्न हों। तुझे स्वर्ग मिले। यह पूत खड्ग तुझे पूत करे।"

महिषी ने दैत्यबाला के सम्मुख आकर कहा—

"लब्ध प्रतीक्षा वाले देवता के लिए तुझे मैं बलि देती हूं।"

उसने अपने खड्ग की नोक से उसे छूते हुए अक्षत उसपर फेंके। इसके बाद चरक ने उन्हें पुष्पमाला अर्पित की और सौत्रामणि सुरा दी। बहुत से बाजे जोर से बज उठे।

सुरा पीकर रावण चैतन्य हुआ। आसन्न विपत्ति को उसने देखा। सामने दूर समुद्र के शान्त नील जल पर क्षितिज के उस छोर पर जाकर उसकी आंख ठहर गई। आशा और उल्लास से उसका हृदय धड़कने लगा। उसने देखा—नील जलराशि पर सुदूर क्षितिज के पास श्वेत-श्वेत धब्बे दीख रहे हैं। उसने नेत्रों के संकेत से दैत्यकुमारी को भी बता दिया। उसके होंठों के स्फुरण से तथा नेत्रों के आह्लाद से वह समझ गई कि कुछ आशाजनक संदेश है। थोड़ी ही देर में उसने देखा—बहुत से पोत अपने पाल उड़ाये इधर बढ़े आ रहे थे।

दानवों का उधर ध्यान न था। वे जोर-जोर से बाजे बजा और चिल्ला रहे थे। चरक सूत्र-पाठ कर रहा था। नरबलि की पूरी तैयारी हो चुकी थी। खड्ग मन्त्रपूत किए जा रहे थे। कुण्ड

 

मे बहुत सी चर्बी, तिल, मांस और ईंधन जल रहा था। बडे-बड़े भांडों मे बलि हुए पशुओं का मांस पकाया जा रहा था। उस भीड़भाड़ में सब कुछ अव्यवस्थित-सा दीख रहा था।

अब चरक की आज्ञा से दैत्येन्द्र खड्ग लेकर रावण को वध करने आगे बढ़ा। यूप से बद्ध रावण ने अपनी आंखे फैला कर फिर विस्तृत समुद्र की ओर देखा। अनगिनत तरणियां तीव्र गति से चली आ रहीं थीं। रावण ने कहा—

"दानवेन्द्र से मेरा एक अनुरोध है। वह धर्मानुबन्धित है।"

"वह क्या है, कह ?"

"मैं मुनिकुमार हू, मुझे वेदपाठ करना है।"

"सो तू कर, पर अधिक समय मैं ठहर नहीं सकता।"

"वेदपाठ से दानवेन्द्र का भी कल्याण होगा। चरक से पूछो।"

चरक ने दाढ़ी पर हाथ फेरकर कहा—"विश्रवा मुनि का पुत्र ठीक कहता है, वह वेदपाठ करे।"

रावण ने उच्च स्वर से वेदपाठ करना प्रारम्भ किया। परन्तु तरणियां अभी बहुत दूर थीं।

मकराक्ष ने कहा—"बस, अब और नहीं ठहर सकता।" वह खड्ग लेकर आगे बढ़ा।

रावण की दृष्टि में व्यथा व्याप गई। दैत्यबाला की दृष्टि भी उन्हीं तरणियों पर थी। सकट समुपस्थित देखकर उसने कहा—"मैं कुमारी हू, दैत्यकन्या हू, लब्धव्य की प्राप्ति के लिए, पहिले मेरी बलि हो।"

चरक ने हाथ उठाकर कहा—"कुमारी मनूढा कन्यामालभते।"

उसने महिषी की ओर सकेत किया और यज्ञपूत खड्ग महिषी को दिया। महिषी खड्ग लेकर आगे बढी। रावण कुछ प्रतिक्रिया करे, इससे प्रथम ही दानवमहिषी का खड्ग बलि पर

पड़ा। दैत्यबाला का सिर कट कर नीचे लटक गया। धड़ से रक्त की धारा उमड़ चली। रावण के नेत्रों में अन्धकार छा गया। यूप को उखाड़ने और बन्धनमुक्त होने के उसके सारे ही प्रयत्न निरर्थक गए। दानवों ने देखते ही देखते दैत्यबाला का सिर काट कर यज्ञ-वेदी पर चढ़ा दिया। चरक ने मन्त्र पढ़ा—"आदद ऋतस्यत्वा देव हविः।"

देखते ही देखते दैत्यबाला के छटपटाते शव के दानवों ने टुकड़े-टुकड़े कर डाले। मांस-खण्डों को एक बड़े भाण्ड में भर कर पाक करने को आग पर चढ़ा दिया। चरक ने मन्त्र पढ़ा—"शुक्लोदनः शुक्ल पुष्पः शुक्ल सप्तध्वजाः सप्त प्रदीपाः सप्त स्वस्तिकाः सप्त वाटिकाः सप्त शष्कुलिकाः सप्त जम्बुडिका. सप्त मुस्तकाः गन्धं पुष्पं ताम्बूलं मांसं, सुराग्रभक्त च वलिर्दातव्यः। ततः सपद्यते शुभम्।"

रावण का सारा अंग जड़ हो गया। इस काम में बहुत समय व्यतीत हो गया। अतः रावण के भाव-परिवर्तन को किसी ने नहीं देखा। अब चरक ने मन्त्र पढ़ा—"वाचे पुरुपमालभेत्।" मकराक्ष चरक के हाथ से पूत खड्ग लेने को आगे बढ़ा। परन्तु इसी समय एक बाण चरक के हलक और तालू को फोड़ता हुआ निकल गया।

मकराक्ष ने देखा—अनगिनत राक्षसों ने चारों ओर से वह यज्ञ-स्थल घेर लिया है, और वे चारों ओर से बाण-वर्षा करते तथा दानवों का निर्दय संहार करते बढ़े चले आ रहे हैं। यह देखते ही मकराक्ष ने अपनी बगल में पड़ा नरसिंहा फूंका। पार्वत्य उपत्यकाओं तथा नगरवीथियों से सहस्रों दानवों के दल-बादल निकल निकल कर राक्षसों से भिड़ गए। एक तुमुल सग्राम छिड़ गया। मकराक्ष वही मन्त्रपूत यज्ञ-खड्ग लिए हुँकार कर शत्रुओं पर पिल पड़ा। अकस्मात् अकम्पन उछलकर शक्ति लेकर मकराक्ष के सम्मुख आया। रावण ने चिल्ला कर कहा—"उसे मेरे लिए छोड़

दो मातुल। दानवेन्द्र मेरा पशु है।" और क्षण भर ही मे उन्मुक्त हो कर रावण ने अकम्पन के हाथ से शक्ति लेकर मकराक्ष के हृदय मे हूल दी। परन्तु मकराक्ष उछल कर बगल में हट गया। इससे प्रहार पूरा न पडा। अब वह एक परिघ लेकर रावण पर दौडा। रावण ने वज्र के समान तोमरो के निरन्तर आघात से मकराक्ष को जर्जर कर दिया। मकराक्ष लोहूलुहान होकर भूमि पर गिर गया। इस पर अनगिनत दानवो ने शक्ति-परिघ-शूल-मुग्दर लेकर रावण पर सयुक्त आक्रमण किया। यह देख सुमाली दैत्य गदा हाथ में ले उनपर टूट पड़ा। दैत्यपति की भीषण गदा की चोट से दानव चटापट मरने लगे। मकराक्ष उनकी लोथो मे ढप गया। परन्तु रावण ने उसका पैर खींच कर बाहर निकाला। फिर उसे अपने सिर के चारो ओर घुमाया और भूमि पर दे मारा। मकराक्ष का सिर फट गया। फिर भी वह मरा नहीं। पड़े ही पड़े उसने रावण का पैर खींचकर उसे गिरा दिया। अब दोनो योद्धा परस्पर गुथ गए। रावण ने मकराक्ष का कवच नाखूनों और दांतों से चीर डाला तथा दोनो वीर निरस्त्र हो मुक्कों और लातों से एक दूसरे को मारने तथा गुथ कर लुढ़कने लगे। रावण ने क्रोधोन्मत्त होकर इस प्रकार दानव को मथा जैसे आटा गूथा जाता है। मकराक्ष ने बल लगा कर रावण को दूर धकेल दिया। परन्तु रावण ने तुरन्त उछल कर एक लात दानव की छाती में मारी। लात खाकर दानव रक्त-वमन करने और कराहने लगा। अब रावण ने मुक्के मार मार कर उसकी पसलियां तोड़ डालीं। दानव की जीभ बाहर निकल पड़ी, वह हांफने लगा। उसकी नाक कान और मुख से रक्त की धार बह निकली। इसी समय रावण ने अपनी वज्र भुजाओं में उसे सिर से ऊपर उठा लिया और धधकते हुए विराट हवन-कुण्ड में फेंक दिया।

दानवेन्द्र मकराक्ष का ऐसा भयानक अन्त देख दानव चारों

और भयभीत होकर भागने लगे। उन भागते हुए दानवों को राक्षसों ने पटापट मारना आरम्भ कर दिया। शेष दानवों ने शस्त्र भूमि पर रख, भूमि मे गिर कर प्रणिपात किया। रावण ने हाथ का खड्ग हवा में ऊंचा उठा कर कहा—"वयं रक्षामः। सब कोई सुनो, आज से यह सुम्बा द्वीप और दानवों के सब द्वीपसमूह रक्ष संस्कृति के अधीन हुए। हम राक्षस इसके अधीश्वर हुए। जो कोई हम से सहमत है उसे अभय, जो सहमत नहीं है, उसका इसी क्षण शिरच्छेद हो।"

सभी आबाल वृद्ध दानवों ने भूमि पर लोटकर रक्षपति रावण की अधीनता स्वीकार कर ली। राक्षसो ने वह सुन्दर द्वीप, हर्म्य, सौध, स्वर्ण-रत्न-राज्य अपने अधीन कर लिया। द्वीप में सर्वत्र रावण की दुहाई फिर गई।

●

१६

सुम्बाद्वीप में

दानवों के उस क्षुद्र द्वीप का नाम सुम्बा था। वह छोटा सा द्वीप वलिद्वीप के दक्षिणांचल में थोडा पूर्व की ओर मुड़ कर था। भारतीय महासागर में जो असख्य अज्ञात छोटे-छोटे द्वीप-समूह हैं, उनमें से एक यह था। द्वीप प्राकृतिक सौन्दर्य से ओत-प्रोत था। सारे द्वीप की परिधि एक योजन से भी कम थी। द्वीप के बीचोंबीच एक लम्बी-चौड़ी झील थी, जिसमें चारों ओर से झरने का पानी आकर जमा होता था। झील के चारों ओर दानवों के पुर थे। द्वीप का आकार अडे के समान था। द्वीप चुम्बक पत्थर का था, इससे जलयान और तरणी वहुधा यहां नहीं आती थीं। आने से, उनका जलमग्न चुम्बकीय चट्टानों से टकरा कर डूब जाने का भय था। परन्तु दानव यहां निर्भय आते-जाते थे। दानवों की यहां सम्पन्न बस्तियां थीं। उनके घर पक्के, राजमार्ग प्रशस्त और पुर में स्थान-स्थान पर हरेभरे उपवन थे, जिनमें अनेकमौसमी फल और फूल लगे थे। द्वीप का जलवायु अत्यन्त स्वास्थ्यप्रद था। पुर, घर, हर्म्य, सौध, वन, वाग, उपवन, उद्यान, तड़ाग, राजमार्ग सभी कलापूर्ण थे। ऐसा प्रतीत होता था, दानव अत्यन्त कलाप्रेमी हैं—सम्पन्न भी हैं। उनकी सम्पन्नता का तो यही प्रमाण यथेष्ट था कि दानवों के तथा उनकी पत्नियों के अगों पर बहुत से स्वर्ण-आभूषण थे। रत्नाभरण भी वे पहिने थीं। दानव-कन्याएँ दैत्यों के समान कृष्णवर्णा नहीं होती थीं। उनका रंग तपाए सोने के समान तथा उठाव आकर्षक होता था। दैत्यों की अपेक्षा वे सभ्य और सुसस्कृत भी थे। दानव जैसे वीर

थे, वैसे ही हँसमुख और कलाप्रेमी थे। संगीत, नृत्य उन्हें अत्यन्त प्रिय था। उनकी भाषा कर्णमधुर थी और वे प्राकृत बोलते थे।

इस द्वीप के निवासी अत्यन्त परिश्रमी और सहिष्णु थे। वे दोपहर की धूप और गर्मी की परवाह न करके अपने कार्यों मे व्यस्त रहते थे। बहुत दानव प्रभात की सुनहरी धूप में अपने खेतो, बगीचों और खलिहानों में काम कर रहे थे। नगर हाट मे पण्यक भी थे, शिल्पी भी थे। वे सभी अपने-अपने काम मे व्यस्त थे। स्त्रियां भी पुरुषो ही के समान परिश्रमशीला थीं। ये दानव जैसे स्वस्थ और परिश्रमी थे, वैसे ही हसमुख और मिलनसार भी थे। उच्च वंश और उच्च रक्त के चिह्न उनमें प्रकट थे।

सुन्दर प्रभात था। प्रभात के इन क्षणो मे समुद्रतट की प्रकृति-शोभा देखते ही बनती थी। सर्वत्र एक माधुर्यपूर्ण आलोक छाया था। सुदूर क्षितिज पर फैले हुए फेनिल सागर की गम्भीर तरगो पर प्रभातकालीन सूर्य की रक्तिम किरणें थिरक रही थीं। लाल-पीली आभा से उद्भासित आकाश अनन्त की ओर एक धूमिल रेखा बनाता हुआ समुद्र से जा मिला था। इसके नीचे सफेद पक्षी जहां-तहां जलक्रीड़ा-रत थे। पछवा हवा कुछ वेग से वह रही थी, और उसके झोकों से तटवर्ती वृक्ष झूमते हुए एक सीत्कार-सी कर रहे थे। प्रबल वात के थपेड़ो से आन्दोलित महा-सागर की ज्वार की रौद्र लहरें गम्भीर गर्जन-तर्जन करती हुई अनवरत गति से तटवर्ती काली और लाल-लाल चट्टानों से टकरा रही थीं। सारा उपकूल श्वेत झागों से भरा था।

रावण अपनी अभिसारिका उस दैत्यबाला का अपनी ही आंखो के सम्मुख निधन देख अत्यन्त व्यथित हुआ। दानवों का दलन करने तथा मकराक्ष की जीवित आहुति देने से उसका क्रोध यद्यपि कम हो गया था, परन्तु उसका मन शोकदग्ध हो रहा

था। वह इस समय एकाकी समुद्रतीर पर चित्त शान्त करने और स्वस्थ होने के लिए आया था। वह आज अपने स्वभाव के विपरीत दुखित था। रह रहकर उसे दैत्यबाला के साहस और उत्सर्ग की याद आती थी। यद्यपि बलिमांस के साथ उस बाला का मांस भी उसने सब राक्षसों के साथ खाया था, और यह उसके विश्वास के अनुसार उसके प्रति सबसे अधिक पवित्र व्यवहार था, परन्तु उस प्रियतमा का अभाव उसे इस समय खटक रहा था।

इसी समय उसने देखा, एक दीर्घकाय दानव उसी की ओर चला आ रहा है। उसके साथ ही एक परम सुन्दरी सलोनी बामा है। दानव बहुत लम्बा और कृशकाय था। उसकी साथवाली बाला नवोढ़ा थी। तपाए हुए सोने के समान उसका रंग था। क्षीण कटि और स्थूल नितम्ब थे। वह सोलह सुलक्षणों से युक्त थी। उसके केश काले, सघन, चिकने और घूंघरवाले थे। वे पाद-चुम्बन कर रहे थे। भौंहें जुड़ी हुईं, जघाएँ रोमरहित, गोल, दांत सटे हुए थे। नेत्रों के समीप का भाग, नेत्र, हाथ, पैर, टखने, और जंघाएँ सब समान और उभरे हुए थे। नख, अगुलियों की गोलाई के समान गोल थे। हस्ततल उतार-चढ़ाव वाला, चिकना, कोमल और सुन्दर था। उंगलियां समान थीं। शरीर की कान्ति मणि के समान उज्ज्वल थी। स्तन पुष्ट और मिले हुए थे। नाभि गहरी थी तथा उसके पार्श्व भाग ऊँचे थे। वक्षस्थल और दोनों पार्श्व उतार-चढ़ाव वाले थे। शरीर के रोम कोमल थे। दोनों चरणों की अंगुलियां और तलुए, ये बारहों भूमि से भलीभांति सट जाते थे। हाथ पैर लाल थे। उनमें यव की रेखाएँ थीं। मंद मुस्कान निरन्तर उसके होठों पर खेल रही थी। ऐसी ही सुलक्षणा सुकुमारी कुमारी दानव की बेटी वह थी।

दानव ने धीरे-धीरे रावण के निकट आकर उसे "स्वस्ति"

कहा। लाज से सिकुड़ी हुई तथा शोभा और कोमलता से परिपूर्ण उस बाला को नीची आंख किए उस दानव के पास खड़ी देख एक बार रावण चमत्कृत हो गया। उसने दानव से कहा—"महाभाग, आप कौन हैं, और मेरे निकट आने से आपका क्या प्रयोजन है ?"

"आप विश्रवा मुनि के पुत्र रावण पौलस्त्य हैं न ?"

"वही हूं।"

"तो मेरा आप ही से काम है रक्षराज।"

"आपने क्या रक्ष संस्कृति स्वीकार कर ली है ?"

"निस्संदेह, और मैं आपके आधीन हूं।"

"तो महाभाग, यह वैश्रवण रावण पौलस्त्य आपका क्या प्रिय कर सकता है ? परन्तु आप कौन हैं, पहिले यह कहिए।"

"मैं दनुपुत्र मय हूं।"

"आप प्रजापति के वंश के हैं, मैं आपको अभिवादन करता हूं।"

"तो सौम्य रावण, मेरी कथा सुना।"

"सुन रहा हूं।"

"काश्यप सागर-तट पर हिरण्यपुर के निकट मेरा पुर है, और मैं दैत्यपति विरोचन का बान्धव हूं। कदाचित् तुमने सुना हो, एक हेमा नाम की अप्सरा उरपुर की निवासिनी थी। उसे देवों ने मेरे लिए दे दिया था। चिरकाल तक मैं उसके साथ आनन्द से रहा। परन्तु आज चौदह वर्ष बीत रहे हैं, वह मुझे छोड़ कर फिर देवों के पास चली गई। उसके सुख-विलास के लिए मैंने एक अति सुन्दर नगर की रचना की थी, जो स्वर्णमय था। उसमें मैंने उस सुन्दरी के लिए मणि-महल बनवाया था, जो आज चौदह वर्षों से सूना हो रहा है। मैं उस प्रिया के विरह से व्याकुल, असमय ही में वृद्ध हो गया हूं, और द्वीप-द्वीप में भटक रहा हूं।

"यह कन्या उसी के गर्भ से उत्पन्न हुई है। अब यह युवती हुई। तुम ऋषिपुत्र हो, विक्रमशील हो तथा प्रजापति के वंश का रक्त तुम मे है, इससे मैं यह अपनी सुलक्षणा कन्या तुम्हें देता हू। मेरे पास बहुत स्वर्ण-रत्न है—वह सब भी मैं तुम्हें देता हू। मेरे दो पुत्र, इस कन्या के भाई, बडे वीर और मेधावी हैं। राजसभा के नियमो को जानते हैं, उन्हे भी मैं तुम्हारी सेवा में नियुक्त करता हू। अब तुम यह मेरा उपहार स्वीकार करो, मुझे सम्प्रहर्पित करो, अनुबन्धित करो।"

बूढे दानव की यह बात सुनकर रावण ने कनखियो से चरण-नख से भूमि कुरेदती हुई उस नव किसलय-कोमल तन्वङ्गी बाला की ओर देखा, तो उसका सम्पूर्ण तारुण्य जाग्रत हो गया।

रावण ने पूछा—" महाभाग, आपकी इस कन्या का नाम क्या है ?"

मय दानव ने कहा—" इसका नाम मन्दोदरी है।"

"तथास्तु महाभाग, अग्नि प्रज्वलित करो, मैं उसकी साक्षी में धर्मपूर्वक आपकी कन्यारत्न को ग्रहण करूगा।" बूढ़े दानव ने तत्काल सूखी समिधाएँ चुन लीं और अग्नि-पाषाण से अग्न्याधान किया। रावण ने कन्या का हाथ पकड़ कर कहा—"गृह्णामि सौभगत्वाय हस्तम्"। दानव मय ने एक अमोघ शक्ति उसे भेंट देकर कहा— "स्वस्ति, तुम्हारा कल्याण हो,पौलस्त्य मुनि-कुमार, यह दिव्य शक्ति लो। इसके रहते तुम विश्व में अजेय हो। अब मैं चला।"

वृद्ध दानव एक ओर जाकर पर्वत-शृंखलाओं में गायब हो गया।

रावण ने नव वधू की ओर देख कर कहा—"वर ब्रूहि।"

वधू ने तिरछी दृष्टि से उसकी ओर देखकर कहा—अलं, अलम्। प्राप्तं सर्वम्।"

तब रावण ने अपने उत्तरीय के छोर से बाला का उत्तरीय बांध लिया, और खड्ग कोष से खींच उसकी धार बाला के चरणनख से छुआ कर उसे अंक में समेटते हुए कहा—"चलो फिर, रक्षकुलमहिषी मन्दोदरी।"

और दूसरे ही क्षण सद्यःविजित दानवों की वह सुरम्य पुरी, प्रासाद, हर्म्य, सौध सब रंग-बिरंगी पताकाओं और दीपावलियों से चित्रित-विभूषित, विविध वाद्यों और हर्ष-कोलाहल से आर्यमाण हो गए।



१७

मधुयामिनी

वक्रगतिका, क्षीण कलेवरा, विमल सलिला, शैल नदी के समान दानव की बेटी मन्दोदरी की देहयष्टि थी। माधुर्य और सौकुमार्य का उसमें विचित्र सामंजस्य था। दानवों के राजप्रासाद मे मणि-माणिक्य और शृंगारसज्जा की कमी न थी। दासियों और चेटिकाओं का भी अभाव न था। रावण की आज्ञा से दानवेन्द्र का मणिमहालय मन्दोदरी के लिए सज्जित किया गया। एक सहस्र दानव-कुमारियां उसकी सेवा-सुश्रूषा के लिए नियुक्त कर दी गईं। उन्होंने कृशांगी मन्दोदरी को सुगन्धित उबटन लगा, सुगन्धित जलों से स्नान कराया। केशोंमें मधूच्छिष्ट मृगमद लगा, चोटी गूथ, उनमें मुक्ता गूथे। कपोलों पर रोध्र संस्कार किया, मस्तक पर हीरकचन्द्र, कानों में नीलमणि के कुण्डल और कण्ठ में महार्घ मुक्ताओं की माला धारण कराई। कोमल क्षौम कचुक से उन्नत स्तनबन्ध किए। वक्ष पर कुंकुम कस्तूरी अगरु लेप किया। भाल पर गोरोचन की श्री दी। अधरोष्ठों को ताम्बूल-रजित किया। सर्पिणी के समान उसकी पदचुम्बिनी वेणी लटकने लगी। इन्द्र-नीलमणि की मेखला धारण करने से उसकी कटि की शोभा सागर के समान हो उठी। उसकी उज्ज्वल धवल दन्तपक्ति, उसके लाल लाल अधरोष्ठों से यत्किचित सीत्कार सी करती हुई प्रश्वासों के साथ निकलती हुई अप्रतिम सुषमा प्रसार कर रही थी। उसके कमल के समान बड़े-बड़े नयनों में काजल की रेख ऐसी प्रतीत होती थी जैसे नई कटार पर फिर से धार चढ़ा दी गई हो। उसकी बंकिम भौहों के नीचे मदिर दृष्टि मदवर्षा कर रही थी। वह पूर्ण

चन्द्र के समान सुषमावाली, कृशोदरी मन्दोदरी नखशिख शृंगार कर, विश्रुत विश्रवापुत्र मुनिकुमार रावण पौलस्त्य के सान्निध्य में जाने के कारण लाज के भार से सिकुड़ी-सी जा रही थी।

इस प्रकार अकल्पित, अतर्कित रीति से प्राणरक्षा होने, अपनी अभिसार-नायिका का देखते देखते ही वध होने, तथा दानवों के द्वीप के साथ दानवपुत्री मन्दोदरी को प्राप्त करने के कारण रावण एकबारगी ही अस्तव्यस्त हो उठा। अभी वह स्वस्थ नहीं था। परन्तु दिव्यस्वरूपा मन्दोदरी के लिए उसका सम्पूर्ण तारुण्य विकल हो रहा था। मनोरम सान्ध्यवेला थी। प्रबल पराक्रमी रावण उस समय प्रमदवन में विचरण कर द्वीप की सुषमा देख रहा था। चन्द्रमा की किरणें पर्वतीय प्रदेश पर रजतकण बखेर रही थी। शीतल-मन्द-सुगन्ध समीर से हिल हिलकर वृक्षों से झड़ झड़कर, पुष्प बिखर रहे थे, जिनके कारण वहां का प्रदेश पुष्पमय हो गया था। चारों ओर पर्वत की छोटी-बड़ी परस्पर गुथी हुई शृंखलाएं, उनके बीच में कान्तिवान् कर्णिकार के सघन वन, कदम्ब,मौलसिरी,चम्पा,नागकेसर,अशोक,आम,गुलाब, केवड़ा,चिरोंजी,नारियल और कटहल के वृक्ष शोभा दे रहे थे। रावण द्वारा अभय पाए हुए सुभट दानव तारुण्य से परिपूर्ण मदमाती स्त्रियों के साथ जहां-तहां विहार कर रहे थे। मधुर कण्ठवाली किन्नरियों की स्वरलहरी वायु में तैर रही थी, जिससे रावण का तारुण्य शत सहस्र मुख होकर जाग रहा था। प्रासाद में अप्सराएं तथा दानव-किशोरियां राज-महिषी मन्दोदरी का शृंगार करती हुई वीणा, मृदंग, मुरज, मुरली के साथ कोकिल-कण्ठ से गान कर रहीं थीं। मौलसिरी और बकुल के पुष्पों की भीनी महक से वातावरण सुरभित हो रहा था। वसंत की मकरन्द-गन्ध और विविध पुष्पों के सौरभ से रावण मस्त हो गया। वह सुवासित मद्य पी-पीकर कामदग्ध हो विरहियों के समान लम्बी

लम्बी सासे लेने लगा।

आकाश मे चन्द्रोदय हुआ। कभी वह चन्द्रमा की ओर देखता कभी दूर तक फैले हुए सागर के विस्तार को।

इसी क्षण लाज के भार से सिकुडी, पुष्पभार से लदे वृन्त की शोभाधारिणी मन्दोदरी को सखियो समेत धीरे-धीरे प्रमदवन मे आते देखा। वह अधीर होकर दोनो हाथ फैला कर आगे बढ़ा। किन्तु कुछ सोचकर जहा का तहां रह गया। इस समय मन्दोदरी के अग पर जैसे छहो ऋतुएं वास कर रही थीं। विविध पुष्पों के मनोरम और कलापूर्ण आभूषण धारण किए, जिन्हें किन्नरियो और दानव-कुमारियों ने गूथे थे, वह मूर्तिमती वनश्री-सी दीख रही थी। उसकी देह में अगराग लगा था, केशों में कल्पवृक्ष के फूल गुथे थे। उसके नेत्र ऐसे थे जो बरबस मन को खींच लेते थे। पुष्ट नितम्ब, पूर्णचन्द्र सा मुख, धनुष सी बाकी भौंहें, गज-राज की सूड सी सटकारी जघाए, और नव पल्लव से भी कोमल उसके हाथ अनायास ही देखनेवाले के मन को मोह लेते थे।

एक चेटी ने कहा—"भर्तृदारिका, देखो, देखो, वह सागर-तीर पर धवल रमणीय सारसों की पक्ति कैसी भली लग रही है।"

"मनोरम है, किन्तु मैं श्रमित हू, आओ यहां माधवी-लता-मण्डप में विश्राम करें।"

मन्दोदरी लतामण्डप मे रखी स्फटिक-शिला पर बैठ गई। सखियों ने उसे चारों ओर से घेर लिया। इसी समय एक चेटी ने आड़ में खड़े रावण को देख लिया।

उसने मन्दस्मित सकेत करते हुए कहा—"अरे वह कौन है ?"

मन्दोदरी ने बड़े-बड़े कमल-से नेत्र उठाकर देखा—उसके नेत्र लाज और चाह से भर गए।

मन्द मुस्कान करके उसने कहा—"आर्यपुत्र ही तो हैं। अब क्या करूं ?"

रावण ने भी यह देखा। वह धीरे-धीरे आगे आया। मन्दोदरी ने खड़ी होकर कहा—

"जयत्वार्यपुत्र। इदं आसनम्।"

"अये मन्दोदरी, आस्यताम्।"

"यदार्यपुत्र आज्ञापयति।" दोनों स्फटिक-शिला पर बैठे। चेटियां दूर खसक गईं। मन्दोदरी ने कहा—"आपका मुख जल से भरे हुए मेघों के समान अश्रुक्लिन्न है, इसका क्या कारण है?"

"अहा, काशकुसुम-रेणु आंख में गिर गिया, इसी से।"

मन्दोदरी ने व्यग्र भाव से चेटी को पुकार कर कहा—"अरी, मुखोदक लाओ।"

चेटी दौड़कर गई। मुखमोदक ले आई। रावण ने मुख प्रक्षालन किया। वह मन में सोचने लगा—यह नवोढ़ाहा वाला मेरे मन की सच्ची व्यथा सुन क्या कहेगी। यों तो यह धीर स्वभाव की दीख पड़ती है, परन्तु स्त्री-स्वभाव ही अधीर है। इसीसे प्रिया से मुझे झूठ वोलना पड़ रहा है।

इसी समय चेटी ने आकर निवेदन किया—"समुद्र-गृह में शय्या सज्जित है।"

सखियों ने रावण के संकेत से मन्दोदरी को उठाया और समुद्रगृह की ओर ले चली। समुद्रगृह के द्वार पर जाकर सव ठिठक गईं। रावण ने हाथ पकड़ कर मन्दोदरी को भीतर लिया। सखी-चेटिकाएं लौट गईं। प्रासाद में मंगलवाद्य वज रहे थे तथा नृत्यांगनाएं मंगल-गान कर रही थीं। कक्ष में सुगन्धित तेल के दीप वड़े-वड़े दीपाधारों पर जल रहे थे। कृशोदरी मन्दोदरी को अंक में भर कर रावण ने उसके शतसहस्र चुम्बन ले डाले। फिर उसने उसकी आंखों में आंख डालकर कहा—"प्राणसखी, क्या यह स्वप्न नहीं है? क्या सचमुच ही तुम, मूर्तिमती कौमुदी

आज मेरे सान्निध्य में हो ? तब क्या दानव मकराक्ष ने मेरी बलि नहीं दी ? वह सब स्वप्न था ?"

मन्दोदरी ने पलकों में मुस्कान भरके कहा—"सत्य था। मैंने आपको बलि-यूप में बंधे देखा।"

"तब तुमने यह भी आशा की थी कि यह यूपबद्ध बलि-पुरुष तुम्हारा पति होगा ?"

"आशा नहीं, कामना की थी। पितृचरण से मैंने आग्रह किया था, वह तुम्हारी रक्षा करें।"

"फिर ?"

"दानवेन्द्र मकराक्ष ने पितृचरण का अनुरोध नहीं माना। इसी से पितृचरण ने अपने बान्धव दानवों से विद्रोह किया। उन्होंने दानवेन्द्र के विरुद्ध तुम्हारे पक्ष में युद्ध किया था।"

"कहां ? यह तो उन्होंने कहा नहीं।"

"न कहने से क्या, पितृचरण आत्मश्लाघा नहीं चाहते।"

"मैं उनका उपकृत हू, क्या मैं उनका कुछ प्रिय कर सकता हू ?"

"यदि तुम मातृचरण का उद्धार कर सको।"

"कहां हैं वे ?"

"उरपुर में, देवों के सान्निध्य मे।"

"किसके ?"

"वारुणों के।"

"किन्तु।"

"क्या ?"

"वहां वे क्या स्वेच्छा से हैं ?"

"मैं नहीं जानती, जब वह गईं, मैं बहुत छोटी थी।"

"कोई सन्देश नहीं मिला।"

"नहीं।"

"अच्छा,समय पर याद दिलाना। दिग्पाल वारुणों को देखूंगा मैं।"

"अनुगृहीतास्मि।"

"क्या तुम मुझे पाकर प्रसन्न हुई प्रिये, ?"

"यह तो अधिक से भी अधिक है।"

"तुमने पहिले कभी मेरा नाम सुना था ?"

"केवल क्षणभर मैंने तुम्हें बलि-यूप मे बंधा हुआ देखा था, उसी क्षण मैंने अपने को तुम्हारे पादपद्म मे अर्पण कर दिया।"

"यदि मै वलि हो जाता।"

"तो मैं भी ....।"

रावण ने प्यार-छलकती आंखो से मन्दोदरी की ओर देख कर कहा—

"अपरिचिता ही ?"

"अब और परिचय क्या ?"

"एक और ने भी कदाचित् यही सोचा।"

"कौन ?"

"वह दैत्यबाला।"

"वह बलि ?"

"हां प्रिये।"

"कौन थी वह ?"

"अभिसार-सखी। दो दिन पूर्व उसे प्रथम क्षण देखा, प्रणय हुआ, विग्रह हुआ, बन्दी हुआ। जलदेव से उसने मेरे जीवन की रक्षा की, और यहां बलि-यूप मे बन्धे-बन्धे अपना जीवन दे मेरे प्राणों की रक्षा की।"

"अहा, सुपूजिता है वह दैत्यबाला। अभिनन्दन करती हूं। इसी से आर्यपुत्र के नेत्र वाष्पाकुल है ?"

"इसी से। कल भोर मे उस हुतात्मा की स्मृति से विकल

विदग्ध जब मैं शून्य हृदय, शून्य दृष्टि से सूने सागर की लहरों को देख रहा था, दिव्यांगने, तूने न जाने कहा से पारिजात कुसुम-कलिका सी कहीं से अवतरित होकर मेरे विदग्ध प्राणों को शीतल कर दिया। कह सुभगे, किस देव की कृपा से ऐसा हुआ ?"

"जलदेव की कृपा से—जिसे तुमने जीवित दानवेन्द्र की आहुति दी"—वह हंस पड़ी। कुन्दकली-सी धवल दन्तपंक्ति से रावण ने विमोहित हो मन्दोदरी को वक्ष से लगा कर कहा—"उस जलदेव की जय हो।"

"अरे, यह क्या कह दिया ?"

"क्या हुआ ?"

"अनर्थ, अनर्थ।"

"कैसा ?"

"तुमने जलदेव की जय-जयकार की।"

"तो फिर ?"

"जलदेव तो दिग्पति वरुण है,वारुणेयों ने मेरी माता का हरण किया है। उन्हें तो तुमने विमर्दित करने का वचन दिया है।"

"अवश्य दिया है, किन्तु उनके विमर्दित होने पर जो नए जल-देव होंगे उनकी जय, जय।"

"वह कौन ?"

"तेरे पितृचरण, वैश्रवण रावण पौलस्त्य के अकारण मित्र।"

"तुम धन्य हो आर्यपुत्र।"

"परन्तु मैं आर्य नहीं।"

"आर्यपुत्र,"—मन्दोदरी रावण के वक्ष से जा लगी।

"अच्छा अभी यही सही। भविष्य में मुझे रक्षपति कहना।"

स्निग्ध चांदनी रात थी। समुद्र की आनन्ददायक वायु के झोंके आ-आकर युगल दम्पति के हृदयोल्लास को आन्दोलित कर रहे थे। रावण मुग्ध दृष्टि से मन्दोदरी को देख रहा था, जो

चन्द्रज्योत्स्ना की रजत-प्रभा में हीरक मणि-सी दिप रही थी।

दानव-कन्याएँ अलक्ष रहकर मंगल गान कर रहीं थीं। सिंह-द्वार पर बादलों की गर्जना के समान नगारे बज रहे थे। रावण अतृप्त दृष्टि से लज्जावनमिता क्षीण कटिवाली मन्दोदरी को दृष्टि से मानो पी रहा था। मन्दोदरी ने मन्द मुस्कान से कहा—

"अब क्या सोच रहे हो?"

"तू ही कह।"

"उसी महाभागा अभिसार-सखी की बात।"

"नहीं, तेरी।"

"मेरी क्या?"

"तेरा कुसुम-कोमल, अमल-धवल-तरल गात्र है, जैसे छूने से ही मैला हो जायगा।"

मन्दोदरी ने वंकिम कटाक्ष करके पति की ओर देखा, फिर हँस कर कहा—"छूकर देखो।"

"इतना तो यथेष्ट नहीं होगा प्रिये।"

"यथेष्ट कितना होगा?"

"तुझे समूची ही यदि मैं अपने में समा पाऊं तो।"

"तो?"

"आह, परम सुख की उपलब्धि हो।"

"परम सुख की उपलब्धि करो तुम।"

"तेरी अनुमति है, पर मेरा साहस कहां है?"

"दानवेन्द्र मकराक्ष को जीवित आहुति देने में सब समाप्त हो गया?"

"नहीं। देख रहा हूँ, तुझे आक्रान्त करने योग्य साहस मुझमें कभी का है ही नहीं।"

मन्दोदरी रावण के वक्ष में आ लगी। उसने मृदुल कंठ में कहा—"मैं तो तुम्हारी अनुगता हूँ, दासी हूँ। मुझसे तुम्हें



सुखो पलब्धि हो तो अहोभाग्य।"

रावण ने मन्दोदरी का चुम्बन किया। फिर कहा—

"सब कुछ अनिर्वचनीय-सा प्रतीत हो रहा है।"

"क्या?"

"जैसे आज तेरे सान्निध्य मे मेरा अह गला जा रहा है। मैं जैसे खोया जा रहा हूँ।"

"ऐसा ही तो मैं अनुभव करती हूँ आर्यपुत्र।"

"क्या तेरे लिए भी यह नई अनुभूति है?"

"है तो।"

"अहा, तो चल, वह पुष्पशय्या है, सुखासन है, सुरभित मद्य है, वासन्ती पवन है, प्राणो मे प्राणो का लय होने का क्षण है।" उसने उस अनिन्द्य दानवनन्दिनी कृशोदरी मन्दोदरी को हृदय से लगाकर कहा—

"समापो हृदयानि नौ।"





१८

स्वर्ण-लंका में

सम्पूर्ण वसन्त बीत गया। उसी मनोरम द्वीप में तालतमाल, हिन्ताल की सघन छायावाले स्थलों से परिपूर्ण उस रम्यस्थली में नव वधू दानवनन्दिनी मन्दोदरी के साथ रावण ने स्वच्छन्द मधुकाल व्यतीत किया। कभी मणिमहल के प्रतिबिम्बित कक्ष में, कभी उज्ज्वल फेनराशि से भरे हुए समुद्र-तट पर, कभी विहंगजन-कूजित वनस्थली में, कभी किसी शीतल पर्वत की उपत्यका में, कभी उस शान्त-स्निग्ध झील के निर्मल जल में प्रतिबिम्बित चन्द्र के कांपते हुए प्रतिबिम्ब के सान्निध्य में, युगल प्रेमियों ने अपने मधुदिवस यापन किए। दोनों ने दोनों में अपने प्राणों का विलय किया। दोनों ने दोनों को अपना आत्मार्पण किया। रावण और मन्दोदरी का संयोग—शौर्य और शृंगार का संयोग था। अभाव में भाव की पूर्ति थी। कुलिश-कठोर पौरुष नारी की आंच पाकर पिघल कर मोम हो गया। यह रक्ष-पति रावण, जिसने अबतक अपने उदग्र जीवन में परशु और धनुष ही स्पर्श किया था, इस रमणीरत्न दानवनन्दिनी कृशोदरी मन्दोदरी को स्पर्श कर आप्यायित हो गया।

सम्पूर्ण वसन्त की मधुयामिनी सुवासित मद्य, सुधा-संगीत और पुष्पवल्लरी-सी प्रिया के मृदु-मधुर आलिंगन में व्यतीत हुई। यहीं उसने मातुल प्रहस्त द्वारा कुबेर धनपति का निमन्त्रण पाया। उसने अपने नाना से परामर्श कर सब मनोरथ-संकल्प सोच-विचार लंका में प्रवेश करने का निर्णय किया। धूर्त सुमाली ने देखा—यही वह स्वर्णक्षण है। अब सभी पार्श्ववर्ती द्वीप जय कर

लिए गए थे। सभी जगह रावण की रक्ष संस्कृति की दुहाई फिर गई थी। देव-दैत्य-दानव-नाग-असुर-यक्ष, जो रावण की रक्ष संस्कृति स्वीकार कर लेता था वही राक्षस नाम से अपने को सम्बोधन करता था। इस प्रकार राक्षसों की एक नई संयुक्त महाजाति संगठित हो चली थी, जिसमें भारतीय महासागर के दक्षिणाचल में फैले हुए द्वीपों में बसनेवाले देव-दैत्य-दानव-नाग-असुर-यक्ष—सभी सम्मिलित थे। सभी का एक ही नारा था—"वयं रक्षाम"। इसी नारे के नाद पर रावण के विकराल परशु के नीचे दक्षिणांचल में फैली हुई सारी ही असुर जातियां एक सूत्र में गुंथ रही थीं। वह सूत्र था 'रक्ष संस्कृति' और उसका प्रस्तोता था रावण पौलस्त्य—राक्षसों का अधिपति।

उसने उन द्वीपों के राज्य-प्रबन्ध, व्यवस्था और सुरक्षा का उत्कृष्ट प्रबन्ध किया। दानवों के इस द्वीप-समूह का राज्याधिकारी मामा अकम्पन को बनाया, तथा बलिद्वीप, यवद्वीप, मलयद्वीप के राज्य-भार विश्वस्त राक्षसों को देकर, सुमाली को संग ले, रावण ने बहुत से विश्वस्त और सुभट राक्षसों के साथ तरणियों में बैठ, द्वीपों से प्राप्त बहुत सा स्वर्णरत्न साथ ले लंका की ओर प्रस्थान किया। सुमाली दैत्य की चिर अभिलाषा सम्पूर्ण हुई। लंका में रावण का कुबेर ने यथावत् सत्कार किया। उसे पृथक महल रहने को दिया। प्रेम और सौहार्द्र से सब सुविधाएँ प्रस्तुत कर दीं। साथ ही बहुत सी धन-सम्पदा भी दी। उसने स्पष्ट कहा—"भाई, यह लंका जैसे मेरी है, वैसी ही तुम्हारी भी है। इसलिए मेरे राज्य में तुम सुख से रहो।"

परन्तु रावण के तो उद्देश्य और दृष्टिकोण ही कुछ और थे। वह न केवल दक्षिण की इन सब अनार्य जातियों को एक सूत्र में बांध कर एक सम्मिलित नई जाति राक्षसों की बनाना चाहता था, वह आर्यों और अनार्यों के भेद को भी नष्ट कर देना चाहता था।

वास्तव में उसमें आर्य और अनार्य दोनों ही रक्तों का मिश्रण था, इसलिए वह चाहता था कि दोनों जातियां सब भेदभाव भूलकर एक हो जायें। इसीलिए उसने वैदिक-अवैदिक सारी प्रथाओं और परम्पराओं को मिला-मिला कर "रक्ष संस्कृति" की स्थापना की थी।

"वयं रक्षाम:" उसका नारा था। वह कोई राज्य का वैसा लोलुप न था, परन्तु शौर्य-विक्रम उसमें बहुत था। वह जानता था, जबतक लंका पर राक्षसों का अकंटक राज्य न हो जायगा, राक्षसों की यह जाति प्रतिष्ठित नहीं होगी। इसी से वह सुमाली के बढ़ावे में आ गया।

परन्तु अब, जब उसने लंका की समृद्धि देखी, कुबेर का वैभव देखा, सौध-हर्म्य-वीथी-राजमार्ग देखे, मणिरत्न और स्वर्ण के भण्डार देखे, नगर कोट, राजप्रासाद, नन्दन-वन, अशोक-वन और हाट देखे, तो वह लंका पर मोहित हो गया। उसने यह दृढ़ निश्चय कर लिया कि लंका की केवल भौगोलिक स्थिति ही नहीं, उसकी राजनैतिक स्थिति भी ऐसी है कि इसी द्वीप से सारे दक्षिण समुद्र-तट पर राक्षसों का अनुशासन कायम किया जा सकता है।

परन्तु कुबेर उसकी सबसे बड़ी बाधा था। कुबेर ही क्यों, यक्ष जाति ही उसके उद्देश्य की पूर्ति में बहुत बड़ी बाधा थी। रावण ही की भांति कुबेर दिग्पाल ने भी यक्षों की एक नई जाति देव-दैत्य-दानव-असुर और नागों में से ही संगठित की थी। उसका नारा था—"वयं यक्षाम:" अर्थात् हम भोगेंगे। इसका अभिप्राय यह था कि विश्व के भोग-ऐश्वर्य हम भोगेंगे। यह नारा बुरा न था। फिर धनपति कुबेर, स्वर्ण का अधिपति। ऐश्वर्य-भोग किसे नहीं रुचेगा। बस, बहुत से नाग-देव-दैत्य-असुर उसकी यक्ष संस्कृति के आधीन हो गए। यक्षों का काम खूब भोग-विलास

करना, मद्य पीना, खूब खाना-पीना और मौज करना था। कुवेर ने सभी यक्षों को धन-सम्पदा से सम्पन्न कर दिया था। इसीसे लंका में यक्ष खूब मौज-मजा करते थे। दिग्पति कुवेर की छत्र-छाया में उन्हें किसी बात का भय न था। परन्तु रावण ने आकर उनकी सारी व्यवस्था ही भंग कर दी। उसके नव दीक्षित राक्षस "वयं रक्षाम." का नारा लगाते, जहां-तहां उपद्रव करते, यक्षों को चिढ़ाते, कभी-कभी मारपीट भी कर बैठते थे। शस्त्राघात भी होने लगे। यक्षपति ने समझा था कि जैसे शान्तिपूर्वक हम यहां रहते हैं उसी तरह रावण भी रहे, खाए-पिए, मौज-मजा करे। सभी तो कहते हैं—वयं यक्षाम बहुत अच्छा मूलमन्त्र है। तभी तो नाग-असुर-देव-दैत्य-दानवों ने अपने कुलधर्म को यक्ष जाति में संगठित होना पसंद किया है। फिर यह रावण क्यों नए उपद्रव खड़ा करता है? यह नई "रक्ष संस्कृति" क्या बला है?

धीरे-धीरे लंका में बहुत उपद्रव होने लगे। वहां का वातावरण बहुत क्षुब्ध हो उठा। यक्ष लोग राक्षसों से डरकर घर में छिपकर बैठने लगे। राक्षस जहां किसी इक्के-दुक्के यक्ष को देखते, वे "वयं रक्षाम" का नारा उठाते। समर्थन न होने पर परिघ-शूल-परशु चला उसे मारडालते। फिर भून-पका कर खा डालते थे। धीरे-धीरे राक्षसों के ये अत्याचार इतने बढ़ गए कि एक बार धनपति कुवेर ने रावण से बातचीत की। कुवेर ने कहा—आयुष्मान् रावण, तू यह क्या अनर्थ करता है, नगर के शान्त जीवन को अशान्त बनाता है। तुझे चिन्ता क्या है? रहने को तेरे पास महालय है। धन-धान्य, दास-दासी का अभाव नहीं। खा-पी और मौज कर। हम यक्षों की यही संस्कृति है। यही नारा है—"वयं यक्षाम."।

रावण ने कहा—आप ज्येष्ठ हैं, पूज्य हैं, परन्तु हम आप से

सहमत नहीं है। खाना पीना मौज करना जीवन का ध्रुव ध्येय नहीं। मेरा नारा है—"वयं रक्षाम.।" हम प्रजापति के वशधर हैं। एक ही पिता कश्यप से भिन्न-भिन्न माताओं से दैत्य, दानव, नाग, असुर और आदित्यो की उत्पत्ति हुई है। हम सव दायाद बान्धव हैं। मैं नहीं चाहता कि आदित्य, देव, दैत्य, दानव, नाग, असुर, अपनी पृथक् जाति बनाएं, उनमे संघर्ष हो, युद्ध हो। मैं विश्व मे नृजाति को एक ही सस्कृति के आधीन करना चाहता हूं और वह संस्कृति मेरी स्थापित की हुई रक्ष संस्कृति है। हम कहते हैं—"वयं रक्षामः" और हमारी संयुक्त जाति है—"राक्षस"।

"परन्तु हम तो यक्ष हैं। हमारा नारा भी पृथक् है। हम तुम से सहमत नहीं है।"

"आप मेरे ज्येष्ठ भ्राता हैं। पूज्य हैं। इसीसे मैं आपको छोड़ता हूं। नहीं तो मेरा एक यह भी नियम है कि हमसे—हमारी रक्ष संस्कृति से—जो सहमत है, वह अभय। जो सहमत नहीं है, उसका उसी क्षण हम परशु से शिरच्छेद करते हैं, जैसा कि हमने नागराज वज्रनाभ और दानवेन्द्र मकराक्ष का किया।"

"तो आयुष्मान ! यह तो स्पष्ट युद्ध-निमन्त्रण है। मैंने तुझे इसलिए तो लंका मे बुलाया नहीं है।"

"आपने मुझे लंका मे बुला कर अपनी ही मर्यादा की रक्षा कर ली। आप यदि ऐसा न करते तो मैं स्वयं आता—उसी प्रकार जैसे मैं अन्य द्वीपों में गया हूं।"

"समझ गया, आयुष्मान् मुझसे युद्ध चाहता है।"

"नहीं, बस आप हमारी रक्ष संस्कृति स्वीकार कर लें।"

"परन्तु मैं यक्षपति, दिग्पाल धनेश कुबेर हूं।"

"सो ठीक है। वह रहे। केवल आप कहिए—"वयं रक्षामः।"

"नहीं, तुम्हीं कहो—"वय यक्षामः।"

"वय रक्षाम: ।"

"वय यक्षाम: ।"

"नहीं ।"

"नहीं ।"

"तो आप को सेवामे मेरा यह परशु है ।" रावण ने अपना विकराल परशु कुबेर के सम्मुख हवा मे घुमाया ।

कुबेर ने भी अपनी वज्र गदा लेकर उसे वायु मे घुमा कर कहा—"तुम्हारे इस परशु का जवाब मेरी यह गदा है ।"

इसी समय सुमाली झपटता हुआ आकर दोनों क्रुद्ध सरदारों के बीच में खड़ा हो गया । उसने दोनों के शस्त्रों का निवारण कर के कहा—"ऐसा नहीं रक्षपति । ऐसा नहीं यक्षपति ।"

"तो फिर कैसा ?"

"आप दोनो के बीच एक मर्यादा है । रावण आपका अनुज है—छोटा भाई है ।"

"इसी से क्षमा करता हू । इसी से मैंने उसे अपनी लका में आने दिया ।"

"लका आपकी नहीं, मेरी है । परन्तु इस बात को जाने दीजिए । इस द्वन्द का कैसे निराकरण हो, इसका निर्णय अपने पूज्य पिता पर छोड़िए । उनसे जाकर परामर्श लीजिए । वे जैसा कहें वही कीजिए । आप दोनों ही के वह समान हितैषी हैं पिता हैं ।"

कुबेर ने कहा—"तथास्तु ।"

रावण ने भी कहा—"तथास्तु ।"

कुबेर ने कहा—"वयं यक्षाम: ।"

रावण ने कहा—"वयं रक्षाम: ।"

दोनों एक दूसरे को घूरते हुए क्रुद्ध और क्षुब्ध अपने-अपने निवास पर चले गए । कुबेर सब बातों का आगापीछा समझ

और रावण और उसके साथी राक्षसों का उद्धत स्वभाव देख पुष्पक पर सवार हो अपने पिता विश्रवा मुनि के आश्रम में आन्ध्रालय में पहुंचा। पिता का विधिवत् पूजन कर, बद्धांजलि हो कुबेर ने कहा—"रावण को मैंने अपना अनुज समझ लंका में आदरसहित बुला स्थान दिया था। अब वह वहां नित नए उपद्रव मचा रहा है। उसने कहां की एक रक्ष संस्कृति स्थापित की है, वह परशु ऊंचा करके कहता है—"वयं रक्षामः"। जो कोई असहमत होता है उसका तत्काल शिरच्छेद कर लेता है। मुझसे वह युद्ध करने को तैयार है। और उसके साथी राक्षसों ने यक्षों के नाक में दम कर रखा है। न रावण, न उसके ये राक्षस लंका में किसी की आन मानते हैं। जिसका जी चाहे, उसी का सिर काट लेते हैं। देखते ही देखते बहुत से लंका के शान्त, शिष्ट निवासी देव, दैत्य, असुर, नाग, दानव, उसकी रक्ष संस्कृति में सम्मिलित होकर "वयं रक्षामः" का नाद करते और जो विरोध करे उसी का सिर काटते फिरते हैं। बालक और छोटा भाई जानकर मैंने उसे अभी दण्ड नहीं दिया है।"

सारी बातें सुनकर दूरदर्शी विश्रवा मुनि बोले—"पुत्र, तुमने जो कहा, वह मैंने सुना। इस सम्बन्ध में सब बातें मैं जानता हूं। अब तुम मेरी बात ध्यान से सुनो। यह रावण बहुत खटपटी, उग्र स्वभाव और उच्चाकांक्षी है। उसके पास वीरों का अच्छा दल है। उन्हीं की सहायता से उसने भारत-सागर के सभी द्वीप-समूहों को जीत लिया है। ऐसी अवस्था में अब लंका में अकेला तुम्हारा रहना सुरक्षा के विचार से ठीक नहीं है।"

"दूसरी बात यह कि सब झगड़ों की जड़ उसका नाना सुमाली और उसके पुत्र उसके साथ हैं। यह लंका तो पुत्र, पहिले सुमाली दैत्य ही की थी। जब मैंने वहां तुम्हें बसाया था, तब सुमाली का कुछ पता ही न था। मैं जानता था कि वह हिरण्यपुर के देवासुर-

संग्राम मे मारा गया। अब यह न जाने कहा से धरती फोड़ कर निकल आया। इसकी पुत्री ने मुझसे ऋतु-कामना की—सो मैंने धर्म के विचार से वह स्वीकार कर ली। इसी से यह रावण और उसके भाई-बहिन उत्पन्न हुए। मैंने उन्हे वेद पढाया, पर वे सब मेरे प्रभाव मे नहीं—अपने नाना और मामा के प्रभाव मे हैं। वही उसे उकसा कर ले गया। और लका पर उसका दांत है। लका के निवासी भी सब उन्हीं के भाई-बन्धु दैत्य, असुर, नाग, और दानववशी हैं। इससे पुत्र, तेरे भले की बात मैं तुझसे कहता हू कि तू इस उपद्रवी से युद्ध के झझट में न फँस। तू लका को छोड़ दे और गन्धमादन पर अलकापुरी बसा वहीं सुख से रह। वह स्थान बड़ा मनोरम है। शकर का सान्निध्य है। मन्दाकिनी—गगा है, यमुना है। वहा अनेक सरोवर हैं जिनमे अनेक कमल खिले हैं। वहा भांति-भांति के रग-बिरगे पुष्प सुशो-भित हैं। देवता, गन्धर्व और किन्नर जो वहां हैं, देवों की उप जातिया ही हैं। उनसे तेरी संस्कृति का मेल भी है। इससे पुत्र, तू यही कर। लका को छोड़ दे। यह रावण दशग्रीव बड़ा अभि-मानी और क्रोधी है। वह न किसी की बात सुनता है, न किसी मान्य-अमान्य को मानता है। इसीलिए मेरी तुम्हें यह हितकारी सीख है।"

और कुवेर ने यह सीख मान ली। इसका मर्म वह समझ गया। उसने चुपचाप लका खाली कर दी। अपने यक्षों को तथा सब सम्पदा को लेकर वह पुष्पक विमान में चढ़ गन्धमादन पर्वत पर चला गया और वहां अलकापुरी बसा कर निवास करने लगा।

रावण ने भी उससे अधिक छेड़छाड़ नहीं की। उसे अपने सब धन, रत्न और परिजनों सहित चला जाने दिया। कुवेर के लंका छोड़ते ही राक्षस बहुत प्रसन्न हुए। रावण ने आज्ञा दी—

जिसे हमारी रक्ष संस्कृति स्वीकार नहीं, वह लंका छोड़ दे, नहीं तो उसका शिरच्छेद होगा। सभी देव, दैत्य, दानव, असुर, नागो ने उसकी रक्ष संस्कृति स्वीकार कर ली। 'वय रक्षामः' का मूल मन्त्र लंका का ध्रुव ध्येय बना। अब लका को सुदृढ़ सुगठित कर विश्वस्त राक्षसो को राज्य के भिन्न-भिन्न भाग दे अपने ग्यारह मामाओ को राजसचिव बना—वह रावण लंकापति, राक्षसेन्द्र-पद पर अभिषिक्त हुआ और मन्दोदरी उसकी राजमहिषी।



१६

इन्द्र

यदि आप ध्यान से पर्शिया के नकशे के पश्चिम की ओर झुकते हुए उत्तर मे काश्यप सागर के निकटवर्ती भूखण्ड पर दृष्टि डालेगे, तो आप देखेगे कि काश्यप सागर का सम्पूर्ण दक्षिणी तट काकेशास पर्वत-श्रेणियो की शृंखला से आच्छादित है। यहीं पर जार्जिया प्रदेश है,और उसी के नीचे आर्मीनिया प्रदेश। आर्मीनिया और जार्जिया के बीच काकेशास पर्वत की उपत्यकाओ मे एक स्थान 'अजरबेजान' है, जो आजकल सोवियट राज्य की सीमा में है। इसका प्राचीन नाम 'आर्यवीर्यान्' था।

प्रलय के बाद इस स्थान का नाम आर्यवीर्यान इसलिए पड़ा कि प्रलय के बाद इसी भूखण्ड पर वरुण के नेतृत्व मे आदित्यो ने प्रलय मे बचे हुए परिवारो को स्थापित किया था। यहीं पर एक अत्रि नदी है, जिसके तट पर प्रलय के बाद अत्रि ऋषि ने अपना उपनिवेश स्थापित किया था। अत्रि भृगुपुत्र शुक्र के पुत्र थे। शुक्र भी दैत्यो के याजक थे, और अत्रि भी असुर-याजक थे। भृगु, वरुण ब्रह्मा के पुत्र थे। आजकल काकेशास पार्वत्य प्रान्त प्राचीन काल मे 'देमावन्द' कहलाने लगा था, जो देवस्थान का बिगड़ा हुआ रूप था, और जिसके सम्बन्ध मे इस परिच्छेद मे चर्चा की जायगी।

जिस स्थान पर अत्रि का उपनिवेश था, उसका नाम अत्रि-पत्तन था। आज वह स्थान "एट्रोपेटन" के नाम से प्रसिद्ध है। इस प्रदेश मे जो नदी 'आट्रोक' प्रसिद्ध है, यही नदी हमारे पुराणो मे विख्यात अत्रि नदी थी। अत्रि की यह भूमि तपोवन या तपो-

भूमि कहाती थी। इसी स्थान पर आज भी 'वन' नाम का प्राचीन नगर है। मार्के की वात यह है कि इस 'एट्रोपेटन' प्रदेश का 'देमावन्द' पर्वत सारे संसार मे एक ऐसा स्थान है, जहां रात-दिन सूर्य अस्त नहीं होता। रात-दिन प्रकाश रहता है। इस तपोभूमि को आजकल "तपुरिया" प्रान्त कहते हैं, जो वास्तव मे तपो-भूमि का विगड़ा हुआ नाम है। ईरान के निवासी इस स्थान को "पेराडाइज" या स्वर्ग कहते हैं। इसके आसपास का प्रदेश "मीडिया" प्रदेश के नाम से प्रसिद्ध है। पुराणो मे अत्रि का स्थान—परेणहिमवंतम् कहा है। इसका अर्थ 'अपवर्त' है। पर्शियन इतिहास में 'एट्रोपेटन' और अजरवेजान को अट्रीक नदी के तीर पर काश्यप सागर के निकट वताया गया है। यहीं पर वैकुण्ठ, वहिश्त और सत्यलोक भी था। पुराणो मे इस भूमि को 'कामधराधरा' कहा गया है, जिसके समर्थन मे पर्शियन इतिहासकार इसे उपजाऊ, फलों से लदी हुई वताते हैं। यहीं सोम पैदा होता था। यहीं कल्पतरु थे, जो यथेष्ट फल देते थे। यहां के निवासियो की जाति और गोत्र आज भी अत्रियस है।

यहीं पर, अपवर्त में तपोभूमि के निकट काश्यप सागर-तट के किसी ग्राम मे किसी कौशिक ग्रामपति के वीर्य से एक कन्या को गर्भ रह गया। उसने अपवाद के भय से छिप कर किसी गोशाला मे चुपचाप पुत्र को प्रसव किया। वालक के जन्म के वाद उसके पिता ने न पुत्र को स्वीकार किया, न उस कन्या को। उसने वालक को मार डालने की भी चेष्टा की।

आयु पाकर उस वालक ने पैर पकड़ कर पिता को मार डाला, और स्वयं उस ग्राम का पति वन गया। शीघ्र ही यह साहसी, परा-क्रमी वहां के आदित्यों का नेता वन गया। वरुण और विष्णु को इसने अपने ऊपर प्रसन्न कर लिया, और अपने इलाके के पश्चिम प्रदेश के मित्तन्नु और उरु, उमा आदि वेवीलोनिया जाति

के जत्थेदारो से उसने मित्रता कर ली। परन्तु उत्तर के दैत्य और दानव उसके विरोधी हो गए और उनसे उसके विग्रह भी प्रारम्भ हो गए।

इस साहसी तरुण ने इन्द्र की पदवी धारण की। उसने अपने पड़ोसी और मित्र वैबिलोनियन सम्राटो की भाति अपने को देव कहना प्रारम्भ कर दिया। वैबिलोनियन सम्राट् देव कहाते थे, तथा सोमपान का भारी उत्सव किया करते थे। उन्हीं की देखा-देखी इन्द्र ने देवभूमि मे अपनी पूजा प्रचलित की, तथा वैबिलोनियन लोगो की भाति सोमपान की परिपाटी देवो में चलाई। अबतक उस प्रान्त के सब अदिति-पुत्र आदित्य ही कहाते थे, अब उसने उस भूमि का नाम देवभूमि रखकर देवभूमि के सब निवासियो को देव-सज्ञा दे दी, और वह स्वय देवराट् बन गया।

इस समय तक वेदो की कुछ ऋचाओ का निर्माण हो चुका था, और कुछ ऋषि ऋचाओ को बराबर निर्माण करते जाते थे। इसी काल में मैत्रावरुण वशिष्ठ ने ऋग्वेद की कुछ ऋचाओं का निर्माण किया था, और एक विशिष्ठ वैदिक विधि आदित्यो में प्रचलित की थी। परन्तु वशिष्ठ के ही सौतेले भाई नारद ने—जो वरुण का पुत्र था—भृगुओं के सम्पर्क में आकर कुछ ऋचाए बनाकर वेदों की वाम विधि प्रचलित की। धीरे-धीरे वशिष्ठ और नारद, इन दोनो में वैदिक विधि और ऋचाओ को लेकर अच्छा खासा विवाद होने लगा। नारद एक मुक्खड़ और आवारागर्द मनमौजी प्रकृति के ऋषि थे। शीघ्र ही वे वशिष्ठ का विरोध करने और वेदविधि में वामविधि की स्थापना करने के कारण वामदेव के नाम से भी प्रसिद्ध हो गए। इन्द्र ने इन नारद अथवा वामदेव को अपना मित्र बना लिया, और उसे मधु और पुरस्कार देकर उनसे अपनी स्तुति में एक समूचे सूक्त की रचना करा ली, जो आगे चलकर ऋग्वेद का एक सूक्त हो गया। नारद वामदेव को जब दूसरे ऋषियो ने, जो वैसे ही मुक्खड़ थे,

इन्द्र के द्वारा पुरस्कृत होते देखा, तो उन्होंने भी इन्द्र की स्तुति मे ऋचाएं रचीं। इस प्रकार इन्द्र ने नारद और दूसरे मित्रों की सहायता से देवभूमि मे एक नई वैदिक सस्कृति की नींव डाली। यद्यपि इन्द्र का यह प्राधान्य आदित्यो को पसन्द न था। परन्तु इन्द्र एक खटपटी और धूर्त व्यक्ति था। उसने आदित्यो के नेता मित्रावरुण को लल्लोचप्पो के द्वारा और दूसरे आदित्यों को मान पुरस्कार देकर अपने अनुकूल कर लिया, और उसका यह ढग देव-लोक मे इतना पसन्द किया गया कि उसके अनुकरण पर मित्र, वरुण, यम, अग्नि आदि दिग्पालो ने भी अपनी-अपनी स्तुति की ऋचाएं ऋषियो से बनवाईं।

इन्द्र का यह राज्य दैत्यो और दानवो की राज्य-सीमाओ से लगा हुआ था, जो काश्यप सागर-तट पर दूर तक फैले हुए थे। यद्यपि ये देव, दैत्य, दानव परस्पर सम्बन्धी और दायाद बान्धव थे, तथापि उनमे सांस्कृतिक एकता न की—विग्रह ही था। परन्तु फिर भी कौटुम्बिक सम्बन्ध उनमे प्रचलित थे। इन्द्र ने पुलोमा दैत्य की पुत्री से विवाह किया था। फिर भी दैत्य और दानवा से उसके युद्ध-विग्रह चलते ही रहे। दैत्य लोग दितिपुत्र होने के कारण अपने को श्रेष्ठ और ज्येष्ठ समझते थे। आदित्यों मे वरुण की नीति तो समन्वयमूलक ही थी। परन्तु आदित्य विष्णु से, जो कि अत्यन्त महत्वाकांक्षी था, दैत्यो के सघर्ष विग्रह स्वर्णप्राप्ति पर आरम्भ हो चुके थे। जिसमे इन्द्र ने यथेष्ठ आग्रह प्रदर्शित करके विष्णु को प्रभावित किया था। इसी विग्रह के फलस्वरूप हिरण्याक्ष और हिरण्यकशिपु का वध हुआ। यद्यपि प्रह्लाद से विष्णु ने संधि कर ली थी, परन्तु विग्रह बढ़ते ही गए और इस समय तक चार देवासुर-संग्राम हो चुके थे। अब अकस्मात् ही पांचवें देवासुर-संग्राम का संयोग आ जुटा।

२०

तारकामय

यह पाचवाँ देवासुर-सग्राम तारकामय के नाम से प्रसिद्ध हुआ। पाठको को स्मरण होगा कि भृगु के पौत्र और शुक्र के पुत्र महर्षि अत्रि थे, जो देवलोक में अति प्रतिष्ठित और प्रसिद्ध थे। उनके पुत्र का नाम चन्द्र था। आज भी ईरान मे चन्द्र की पूजा होती है, तथा वहां चान्द्रवश का ही प्रचार है। चन्द्र ही वहां का राज्यचिन्ह है। ईरानी लोग रोज़ा या व्रत को सोम कहते हैं। सम्भवत. यह रोज़ा-सोम चान्द्रायण व्रत है। ईरान मे सोमाआरा नगर, सोमस नदी, और ग्रीस में सोमास द्वीप है। यह चन्द्र की ही प्रतिष्ठा मे है। काश्यप सागरतट पर जन्म होने से चन्द्र का नाम अम्बुधि भी विख्यात हुआ।

चन्द्र असुर याजक कुल मे होने के कारण अत्यन्त प्रतिष्ठित पुरुष माने गए। वे विद्वान् और वीरों के नेता थे। चिकित्सक, औषधि और वनस्पतियों के गुण-दोषो को भी जानते थे। वे वनस्पतियो के स्वामी कहाते थे। दक्ष ने इन्हें सत्ताईस कन्याए दी थीं। वरुणदेव को इनसे प्यार था। अग्नि के ये मित्र थे। चन्द्र इन्द्र के अभिन्न मित्र थे और उसने चन्द्र को देवभूमि में वनस्पतियों का स्वामी नियुक्त किया था। इस प्रकार चन्द्र इन्द्र के ही पास देवभूमि में रहते थे।

देवो के याजक अगिरस-पुत्र वृहस्पति थे। उनकी स्त्री का नाम तारा था। वृहस्पति की पत्नी इस तारा से चन्द्र का गुप्त प्रेम-सम्बन्ध हो गया, और एक दिन अवसर पाकर चन्द्र तारा को भगा ले गया। इस बात को लेकर जो झगड़ा प्रारम्भ हुआ, उसका

आगे चलकर एक विराट् रूप बन गया। बृहस्पति का पक्ष सब देवों और इन्द्र ने लिया और चन्द्र का पक्ष सब दैत्यों और दानवों ने। घातक देवासुर-संग्राम हुआ। इस युद्ध मे देव हारे, परन्तु प्रह्लाद का पुत्र विरोचन इस युद्ध मे काम आया। यही युद्ध पांचवां तारकामय देवासुर-सग्राम के नाम से प्रसिद्ध हुआ।

अन्त मे सधि हुई। तारा बृहस्पति को लौटा दी गई। परन्तु जब तारा वापिस आई, तो यह गर्भवती थी। आग्रहपूर्वक पूछने पर तारा ने स्वीकार किया कि गर्भ चन्द्रमा का है। चन्द्र ने तारा को लौटाते समय देवों से यह शर्त करा ली थी कि पुत्र का जन्म होने पर उसका पुत्र उसे लौटा दिया जाय। इस शर्त के कारण तारा के पुत्र-प्रसव करते ही वह बालक चन्द्रमा को दे दिया गया।

इस बालक का नाम बुध हुआ। युवा होने पर सूर्यपुत्र वैवस्वत मनु ने अपनी पुत्री इला उसे व्याह दी। और तपोभूमि का वह प्रदेश, जो आदित्यो के अधिकार मे था, इसे दहेज मे दे दिया। तब से यह प्रदेश इलावर्त कहाया। जिसे प्राचीन पर्शिया के इतिहास में एलम कहा गया है, और जिसके कारण वरुण को पर्शियन इतिहास में 'इलोही' अथवा 'इलाही' के नाम से पुकारा गया। इला के नाम पर मातृगोत्र के आधार पर यह वंश भी एल के नाम से प्रसिद्ध हुआ। तपोभूमि के अतिरिक्त वह असुर-प्रदेश भी, जहां के अधिपतियों का याजक चन्द्रकुल था, इलावर्त ही के नाम से विख्यात हुआ। इस प्रकार वह सारा असुर-प्रदेश जो भारत के उत्तर-पश्चिम में था, तथा आधुनिक गिलगिट के समीप कक्ष का भूभाग तथा एशियाई रूस का दक्षिण-पश्चिम भाग और ईरान का पूर्वी भाग समूचा ही इलावर्त देश के अन्तर्गत था।

२१

आर्यावर्त

चन्द्रपुत्र बुध असुर-याजक ऋषिकुल मे होने से सब दैत्य-दानवो में प्रतिष्ठित था, अब सूर्यपुत्र मनु की पुत्री से विवाह हो जाने से उसकी और भी प्रतिष्ठा बढ़ी और देव-भूमि और असुर-भूमि पर एक प्रकार से उसका पूरा अधिकार हो गया। परन्तु बुध के जन्म सम्बन्धी अपवाद और देव-दैत्यो के वैमनस्य के कारण दोनो ही श्वसुर-दामाद बुध और मनु को वहां रहना असह्य हो गया, और वे पश्चिमोत्तर के दुर्जय दर्रों को पार करते हुए इलावर्त को त्याग भारत में चले आए। भारत में आकर मनु ने तो सरयू-तीर पर अयोध्या नगरी बसाकर अपने पिता के नाम से सूर्यवश की गद्दी स्थापित की, और बुध ने अपने पिता चन्द्र के नाम पर चन्द्रवश की स्थापना करके गगा-यमुना के सगम पर प्रतिष्ठान नगरी बसा, अपनी राजधानी बसाई। नृवश में यह एक नई स्थापना थी कि पिता के नाम पर नये कुल और नए वंश स्थापित हुए। भारत में आकर दोनो ही कुलों ने वेद को अगीकार कर, तथा वर्ण-मर्यादा तथा परिवार-व्यवस्था प्रचलित कर आर्य जाति की एक नवीन सस्कृति स्थापित की, जो वैदिक थी। इस आर्य सस्कृति मे अनेक नई बातों का समावेश था। प्रथम तो यह कि उसमें विवाह-मर्यादा दृढ़बद्ध की गई थी, और कुल-परम्परा पितृमूलक निश्चित की गई थी। यहा तक कि यदि वीर्य किसी अन्य पुरुष का भी अनु-दान लिया हो तो भी सतति का पिता उस स्त्री का विवाहित पति ही माना जायगा। दीर्घतमा ऋषि ने तो यह काम अपना पेशा ही बना लिया था। वशिष्ठ और दूसरे

ऋषियो ने भी इस प्रकार दूसरों की पत्नियो को वीर्यदान दिया और उसकी संतान अपने पिता के कुल-गोत्र को चलानेवाली प्रसिद्ध हुई। इस परिपाटी से आर्य जाति के संगठन को बहुत लाभ मिला। वह एक संगठित जाति बनती गई। यह स्वाभाविक था कि उनके राज्य, सम्पत्ति आदि सब वैयक्तिक होते गए और देखते-देखते आर्यावर्त मे मानवो और एलो के महाराज्यो का विस्तार हो गया। आर्यो मे धीरे-धीरे इन दोनो वंशों की उत्तर भारत मे अनेक शाखाएं फैलीं, जो चन्द्रमण्डल और सूर्यमण्डल के नाम से विख्यात हुईं। दोनों मण्डलो का संयुक्त नाम आर्यावर्त पडा।



२२

मानव

मनु का नाम विमाता के नाम पर सावर्णि मनु और पिता के नाम पर वैवस्वत मनु प्रसिद्ध हुआ। वास्तव मे मनु ने ही आर्य जाति की स्थापना की, जिसमें पितृमूलक कुल-वर्ण व्यवस्था और वेद-प्रमाण्य की विशेषता थी। अन्य वैदिक ऋषियों के अतिरिक्त वरुण, सूर्य ,यम, शनि, आदि की भांति मनु भी मन्त्रद्रष्टा वेदर्षि थे। परन्तु उन्होने दण्डव्यवस्था और राज्यव्यवस्था का शास्त्र प्रसारित किया, जो मानव धर्मशास्त्र कहाया। मनु के नौ वशकर पुत्र हुए, जो सूर्यवश की नौ शाखाओं के मूल पुरुष थे। इन्हीं के वंशज मानव कहाए। सक्षेप मे यह कहा जा सकता है कि केवल सूर्यवशी ही अपने को 'मानव' कह सकते हैं, दूसरे नहीं।

मनु के इन नौ वशकर पुत्रों में नरिष्यन्त, नाभाग, धृष्ट, शर्याति, करुष और पृष्ठध्रु के पृथक-पृथक् कुल चले, जिनमें नाभाग, और शर्याति के कुल अधिक प्रसिद्ध हुए। इस कुल में भी अनेक मन्त्रद्रष्टा ऋषि हुए। मानवों का सातवा कुल नाभानेदिष्ट का था। इसका पुत्र भलन्दन वैश्य हो गया। परन्तु वह ऋषि था। नाभानेदिष्ट को कोई राज्य नहीं मिला, उसके पुत्र भलन्दन को कुछ धन मिला, उससे उसने वैश्यवृत्ति अधिकृत कर ली। भलन्दन का पुल वत्सप्रिभालन्दन वैश्य ऋषि था। पृपध्रु की सतान शूद्र हो गई।

मनु के आठवें पुत्र का कुल प्राशु का है। यही कुल पीछे वैशाली का प्रख्यात कुल हुआ। इसी कुल में चक्रवर्ती मरुत राजा हुआ।

मनु का सबसे ज्येष्ठ पुत्र इक्ष्वाकु अयोध्या मे रहा। यही सूर्य-कुल प्रसिद्ध हुआ, और बहुत प्रसिद्ध हुआ। इस कुल की अनेक शाखाएँ चलीं। इसी कुल मे ३६ वीं पीढ़ी मे राम ने जन्म लिया। प्रसिद्ध पुरुषो मे विकुक्षि, शशाद, ककुत्स्थ, आर्द, युवनाश्व, बृहदश्व, युवनाश्व, मान्धातृ, पुरुकुत्स, अम्बरीष, रघु, अज और दशरथ हुए।

इस कुल की तीसवीं पीढ़ी मे अनरण्य राजा हुआ। उसकी पृथक् गद्दी उत्तर कोशल की दूसरी शाखा स्थापित हुई। विख्यात त्रैयारुण, सत्यव्रत और हरिश्चन्द्र इसी शाखा मे हुए। राम से केवल एक ही पीढ़ी पहिले बाहु ने उत्तर कौशल वंश की तीसरी नई शाखा स्थापित की, जिसमे सगर और भगीरथ हुए। पैंतीसवीं पीढ़ी में अयुतायुस ने दक्षिण कोशल राजवंश की नींव डाली, जिसमें ऋतुपर्ण, सुदास, मित्रसहकल्माषपाद राजा प्रसिद्ध हुए। यह राज्य वर्तमान रायपुर, बिलासपुर और सम्भलपुर के आसपास था। उसकी राजधानी श्रीपुर थी। इसी वंश को विदेह मे मैथिल शाखा, इक्ष्वाकु के भाई ने स्थापित की, जिसमें निमि, मिथि, जनक, सीरध्वज, वीतहव्य प्रसिद्ध राजा हुए। मैथिलो की एक शाखा मूल शाखा से सैंतीसवीं पीढ़ी मे बसी, जिसमें कुशध्वज, कृतध्वज, आदि हुए। तीसरी मैथिल शाखा ऋतुजित की फटी जिसमे सीरध्वज—जनक—राम के श्वसुर—हुए।

दक्षिण कौशल राजवश के राजा ऋतुपर्ण के यहां नल ने गुप्तवास किया था। नल उत्तर पांचाल-नरेश के सम्बन्धी थे, उनकी पुत्री इन्द्रसेना पांचाल-नरेश के पुत्र मुद्गल को व्याही थी, जो वेदर्षि थे।

मुद्गल के पुत्र वध्र्यश्व के पुत्र और पुत्री दिवोदास और अहल्या थी। अहल्या का व्याह शरद्वन्त गौतम से हुआ था। इक्ष्वाकु के बाद तीसरी पीढ़ी ही में विदेह का सूर्यवश स्थापित हो चुका था

जिसकी तीन गद्दियां थीं—एक मैथिल, दूसरी सकाश्य, तीसरी ऋतुजित् ।

मनु के नौ कुल मानव कहाते थे । परन्तु इक्ष्वाकु की सब की सब शाखाओं के कुल सूर्यवंशी कहाते थे । उनका संयुक्त नाम सूर्य-मण्डल था ।



२३

पुरूरवा और उसके वंशधर

चन्द्र-पुत्र बुध अपने श्वसुर वैवस्वत मनु के साथ भारत मे आ बसे थे—यह पाठक जानते हैं। उन्होने गंगा-यमुना के संगम पर प्रतिष्ठान नगरी बसा चन्द्रवंश की स्थापना की थी। बुध बड़े भारी अर्थशास्त्री और हस्तिशास्त्री थे। अपने दादा दैत्य-गुरु शुक्र से उन्होने ये विद्याएँ सीखी थीं। उनके पुत्र पुरूरवा और भी प्रतापी हुए। उन्हें अपने पिता का प्रतिष्ठान का राज्य तो मिला ही, पितामह का इलावर्त का राज्य भी मिला। अतः उनका महत्व असुर-प्रदेश से आर्यावर्त तक व्यापक हो गया। उन्होंने चौदह द्वीप जय किए। केवल इतना ही नहीं, पुरूरवा मन्त्रद्रष्टा ऋषि भी थे। वे बड़े ही तेजस्वी, सत्यवान्, अप्रतिम स्वरूपवान् और दानशील थे। उन्होंने अनेक यज्ञाग्नियो का आविष्कार किया था। पुरूरवा के दादा चन्द्र ने उन्हें एक दिव्य रथ दिया था, जिसका नाम सोमदत्त था। यह रथ हरिण-केतन था। उनके प्रासाद का नाम मणिहर्म्य था।

मरीचि-पुत्र सूर्य और दिग्पति वरुण भाई भी थे और बान्धव भी। वरुण दैत्यगुरु शुक्र के दामाद थे और सूर्य शुक्रपुत्र त्वष्टा के दामाद। इस प्रकार वरुण सूर्य के फूफा हो गए थे। एक बार ऐसा हुआ कि मरीचि-पुत्र सूर्य ने उरपुर की अप्सरा उर्वशी को अपने विलास-कक्ष में बुलाया। देवलोक मे ऐसी ही परिपाटी थी। उन्होंने वैयक्तिक कुटुम्ब-प्रथा पूर्णतः स्थापित नहीं की थी। धन-सम्पत्ति, स्त्री-पुत्र, किसी पर भी देवलोक में व्यक्तिगत अधिकार न था। सब कुछ सार्वजनिक था। उर्वशी

सोलह शृंगार कर मरीचि-पुत्र सूर्य के पास विलास-कक्ष मे जा रही थी। छहो ऋतुओ मे खिलने वाले सुगन्धित पुष्पो के आभूषण पहिने, देह मे अगराग लगाए, केशो मे अम्लान पारिजात पुष्प गूथे, वह अपूर्व शोभा की निधि लग रही थी। उसके बड़े-बड़े नेत्र आकर्षक थे। उसका चन्द्रबिम्ब-सा मुख, वकिम भौहें, गजराज की सूड के समान जघाएँ, सुडोल भारी नितम्ब और स्वर्ण-कलश से सुढार कुचों को देख प्राणिमात्र में काम-सचार हो रहा था। मार्ग मे उसे दिग्पाल वरुण मिल गए। उस समय उर्वशी के शृंगार और रूप-वैभव को देख दिग्पाल वरुण काम-विमोहित होगए और उसे अपने विलास-कक्ष मे चलने को कहा। परन्तु उर्वशी ने विनम्र भाव से दिग्पाल वरुण से कहा—"देव, इस समय तो मेरी यह देह आपके छोटे भाई सूर्यदेव के आधीन है। उन्हीं के लिए मैंने यह शृंगार किया है। उन्हीं के बुलाने पर मैं उन्हें रति-सतुष्ट करने को जा रही हूँ। इसलिए आपका मनोरथ मैं पूरा नहीं कर सकती। परन्तु वरुण ने उसका अनुनय नहीं स्वीकार किया। उसे जबर्दस्ती अपने विलास-कक्ष ले गए। वरुण देव की सेवा से निवृत्त होकर जब वह सूर्यदेव के निकट पहुँची, उस समय उसका शृंगार खण्डित हो गया था, आभूषण तितरबितर हो चुके थे, पुष्पाभरण दलमलकर श्रीहीन हो गए थे। उसकी दशा मत्त गज द्वारा मथित कमिलिनी की-सी हो रही थी। उसकी यह दशा देख और इतनी विलम्ब से आने के कारण सूर्यदेव अत्यन्त क्रुद्ध हुए। वह पीपल के पत्ते की भांति कांपती हुई सूर्यदेव के चरणों में गिर गई, और कहा—"हे सुव्रत, मेरा दोष नहीं है, मैंने आपही के लिए शृंगार किया था, और आप ही के पास आ रही थी कि आपके भाई और फूफा दिग्पाल वरुण मुझे जबर्दस्ती पकड़ कर अपने-विलास कक्ष में ले गए। अवश मुझे यह शृंगार उन्हें अर्पित करना पड़ा।" इस पर अत्यन्त क्रुद्ध होकर सूर्य-

देव ने कहा—"अरी दुराचारिणी, मुझसे वादा करके दूसरे के पास क्यों गई ?" उन्होंने उसे देवलोक से निकाल दिया। काल पाकर उसने एक बालक को प्रसव किया। और फिर नवीन शृंगार कर सूर्यदेव को प्रसन्न कर उन्हें तृप्त किया। सूर्यदेव के औरस से भी उसे एक पुत्र की उपलब्धि हुई। कालान्तर में ये दोनो बालक युवा होने पर महर्षि अगस्त और महर्षि वशिष्ठ के नाम से प्रसिद्ध हुए। कालान्तर मे सूर्य से उसने एक अनिन्द्य सुन्दरी कन्या को भी जन्म दिया, जो यौवन का प्रसाद पाकर अपनी माता से भी अधिक दिव्यरूपा हुई। उरपुर के निवासी देव उस प्रस्फुटित कुन्दकली-सी सुकुमारी—उस उर्वशी पर मुग्ध हो उठे। उन दिनो ऐसी ही परिपाटी थी। अप्सराएँ नगर-वधू होती थीं। इसी से इस अप्सरा का नाम भी माता के नाम की भांति "उर्वशी"—उर मे रहने वाली—देवलोक मे प्रसिद्ध हो गया। इस नवीना पर बहुत लोलुप दृष्टि पड़ने लगी, पर यह बड़ी मानिनी थी। इसने किसी को भी अपना शरीर अर्पण नहीं किया।

उन्हीं दिनो दैत्यों की राजधानी हिरण्यपुर मे केशियों का एक सम्पन्न यूथपति रहता था। उन दिनो बैबिलोनिया और इलावर्त के बीच का सारा इलाका केशी लोगों के आधीन था। केशी प्रसिद्ध घुड़सवार थे—संभवतः वर्तमान कज्जाक इन्हीं के वंशधर हैं। इस केशी यूथपति ने देवताओ को परास्त कर बहुत ख्याति प्राप्त की थी। उसका बाहुबल असीम था। बहुत दिनों से उसकी दृष्टि उरनगर निवासिनी इस उर्वशी पर थी। पर सूर्य के भय से वह उससे दूर ही दूर रहता था—फिर भी वह उसे हरण करने की ताक में था। उन दिनो असुर-प्रदेश का उर नगर बड़ा प्रसिद्ध नगर था। आज भी पर्शिया में हिरण्यपुर के स्थान पर 'हिरन' नगर बसा है, तथा वहीं पर उर नगर भी अभी तक है। दैव-संयोग से उसे एक अवसर मिल गया। उर नगर के बाहर बन

मे विचरण करती हुई अकेली देवबाला उर्वशी को उसने घेर कर पकड़ लिया, और उसे बलात् हरण करके हिरण्यपुर की ओर ले भागा। सिंह के पजे मे फसी हिरणी की भांति उर्वशी उसके अक में फंसी छटपटाने तथा बाज पक्षी के पंजो मे फसी कुकरी की भाति चिल्लाने लगी। सयोग ऐसा हुआ कि इसी समय महाराज पुरूरवा उसी राह से रथ पर सवार जा रहे थे। उन्होंने उर्वशी का क्रन्दन सुना। सुनकर उन्होंने उस केशी का पीछा कर उसे ललकारा। अपने काम मे व्याघात पाकर केशी यूथपति क्रुद्ध हो अपना शिकार छोड पुरूरवा पर झपटा। दोनों महावीरों में तुमुल संग्राम छिड़ गया, और बडे भारी प्रयास के बाद पुरूरवा ने केशी को मार डाला।

यूथपति केशी से छुटकारा पाकर उर्वशी भय से पीली, कांपती हुई राजा के पास आ खड़ी हुई। उसने मौन ही केवल वाष्पाकुल नेत्रों से राजा के प्रति कृतज्ञता प्रगट की। वह राजा के रूप और शौर्य पर रीझ गई। राजा उसे रथ में बैठाकर उर में आया, तथा उसे देवों के सुपुर्द कर दिया। उर्वशी के मुख से घटना का पूरा विवरण सुन तथा महाराज पुरूरवा का शौर्य, वश और स्वरूप देख देवो ने उन्हें ही उर्वशी दे दी। अग्नि को साक्षी कर महाराज पुरूरवा उर्वशी को अपने मणिहर्म्य में ला उसके साथ विलास करने लगे। पुरूरवा ने साठ वर्ष उर्वशी के साथ कालयापन किया। इस बीच उर्वशी से उनके आठ तेजस्वी पुत्र उत्पन्न हुए। बहुत वृद्ध होने पर एक दिन महाराज पुरूरवा मृगया विनोद करने परिवार-सहित नैमिषारण्य बन गए। वहा कुछ ऋषि यज्ञ कर रहे थे। उनके यज्ञ-चाट हिरण्यमय थे। हिरण्यमय चाट देख राजा को लोभ हो आया। उसने कहा—"अरे ऋषियो, हिरण्यमय यज्ञ-चाट रखने से तुम्हारा क्या प्रयोजन है? यह स्वर्ण राजा का है। तुम मृत-चाट से यज्ञ करो।"

ऋषियो ने विरोध किया । इस पर ऋषियो से राजा का विग्रह हो गया । विग्रह मे ऋषियो के हाथ से राजा मारा गया ।

पुरूरवा के आठ पुत्रो में ज्येष्ठ आयु था। आयु का पुत्र नहुष था । नहुष बड़ा ही प्रतापवान् राजा हुआ । उसका विवाह पितृ-कन्या विरजा से हुआ था । उसने पृथ्वी के राजाओं को जीतकर चक्रवर्ती पद पाया । सभवत. वही प्रथम आर्य चक्रवर्ती नरेश था ।

२४

वार्तघ्न

मनु और बुध का इलावर्त छोड़कर भारत मे चला आना इन्द्र के लिए एक प्रिय और महत्वपूर्ण कारण बन गया। यह महत्वाकांक्षी और खटपटी तो था ही,अब वह इस समय देवो का एकमात्र कर्ता-धरता और नेताव न गया। विष्णु मे अब विरोध की सामर्थ्य नहीं रही थी और उसका उत्तराधिकारी भारत मे आर्यवर्त की स्थापना कर चुका था। इस प्रकार एक प्रबल प्रतिस्पर्धी उसके मार्ग से हट गया था। अब उसने भी अपने साम्राज्य के विस्तार पर दृष्टि डाली।

इसी समय इलावर्त मे एक बडी घटना घटी। पाठक इन्द्र की महत्वाकांक्षा को भूले न होंगे। वह इस समय देवों का नेता बन गया था। पाठक यह भी जानते हैं कि इलावर्त के पश्चिम प्रदेश के मित्तन्नु और दक्षिण के उस ओर उमा आदि वैबिलोनियन जाति की रियासतें उसकी मित्र थीं, तथा उत्तर के पर्शियन प्रबल शत्रु थे। अतः उसने अब पूर्व की ओर अपना प्रसार किया, और पंचसिन्धु की सीमा पर अपनी देव-सेना लेकर आ धमका। उस समय, वर्तमान सिंध और पजाब के उस सयुक्त क्षेत्र को-जिसे आज पाकिस्तान कहते हैं—सप्तसिंधु कहते थे। उसका अधिपति असुर याजक भृगुवशी—त्वष्टा का पुत्र वृत्र था। यह दासो का नेता था। वृत्र बड़ा धर्मात्मा, तेजस्वी और बलवान् था। मरीचि-पुत्र सूर्य—विष्णु वृत्र को बहुत मानते थे। वृत्र का तेज अपरिसीम था। सप्तसिंधु प्रदेश मे उन दिनो दासों के अनेक खण्ड-राज्य थे, जिनका नेता और अधिपति वृत्र था।

इन्द्र से त्वष्टा का मित्रभाव न था, द्वेष ही था। इसी बहाने को लेकर इन्द्र ने वृत्र पर चढ़ाई कर दी। इन्द्र पर सूर्य—विष्णु की कृपा थी। उनसे इन्द्र ने स्पष्ट कह दिया कि आप इस मामले से दूर रहें, मै वृत्र का वध कर उसके राज्य को जय करूँगा। वृत्र विष्णु को बहुत मानता था। सारे दास ही विष्णु को वृत्र का बहनोई समझ कर मान करते थे। यह किसी को आशा न थी कि विष्णु की सलाह से सब काम करनेवाला इन्द्र उसपर आक्रमण कर देगा। परन्तु सूर्य-विष्णु बड़े दीर्घदर्शी थे। उन्होंने सोचा, हमारे पुत्र मनु और दामाद बुध भरतखण्ड में आर्य-राज्य स्थापित कर चुके हैं। अत. यह अच्छा ही है, यदि सप्तसिन्धु में देवो की जय हो जाय। इससे आर्यावर्त और देवलोक दोनो ही परस्पर सम्बन्धित हो जाएँगे। तथा दैत्यो और असुरों से युद्ध के समय देव और आर्य परस्पर सहायता कर सकेंगे। इन्हीं सब बातों को विचार कर विष्णु ने चुप्पी साध ली।

दुर्भाग्य से दासो मे परस्पर फूट थी। उनके सब खण्डराज्य स्वतन्त्र थे। इसी से वे सम्पन्न होने पर भी अपना साम्राज्य न बना सके। इसी से इन्द्र को उन्हें नष्ट करने मे बहुत सुविधा मिली। उसने त्वष्टा के पुत्र त्रिशिरा—विश्वरूप को अपना पुरोहित बनाने का प्रलोभन दे, अपने पिता से वज्र ला देने को राजी कर लिया। विश्वरूप त्वष्टा का ज्येष्ठ पुत्र और असुरो का भांजा था। इन्द्र ने दासो मे से दिवोदास और सुदास—तुर्वश और यदु को अपने साथ मिला कर उन्हें अभय वचन दिया। अर्ण और चित्ररथ नामक दो भारत-राजाओ ने उसका विरोध किया; इस पर उसने उन्हें मरवा डाला।

इन्द्र बड़ा खटपटी और क्रूर पुरुष था। अपनी कार्य-सिद्धि के लिए वह सब कुछ कर गुजरता था। उसने इस अभियान में मरुतो से संधि कर उन्हें भी अपने साथ ले लिया। आजकल का

विलोचिस्तान उन दिनों मरुतों का ही देश था। इन्द्र ने बडी बुद्धिमानी से यह युद्ध-योजना बनाई थी। देवों और असुरों के दो अयोध्य नगर थे। उनके बीच मे इन्द्र ने उरग, करोटि, पयस्स-हारी, मदनयुत और महन्त—ये पाच रक्षक सैनिक केन्द्र नियत किए। इसप्रकार यह महत् दसवां देवासुर-सग्राम सप्तसिधु में छिड गया। दासो में फूट होने पर भी वृत्र ने ऐसा विकट युद्ध किया कि देव-सेना छिन्नभिन्न हो गई और इन्द्र युद्धभूमि छोड भाग खड़ा हुआ। अब सब खिन्न और खण्डित देवगण मन्दराचल के शिखर पर एकत्र हो वृत्र को जय करने के सबध में परामर्श करने लगे।

इन्द्र ने कहा—"देवगण, इस समय हम पराजित और खण्डित हैं। हमारी सामर्थ्य का क्षय हो चुका है। वृत्र हमसे बहुत प्रबल है। वह बडा विक्रमशाली है। वह देव-दैत्य सभी से पूजित है, इसलिए इस सम्बन्ध मे हमे क्या करना चाहिए—इस पर विष्णु का परामर्श लेना हितकर होगा।"

विष्णु ने देवो को सलाह दी कि अच्छा यही है कि वृत्र से संधि कर ली जाय। वह अजेय पुरुष है, और उसकी पीठ पर पराक्रमी दैत्य-दानवो का वश है। दास भी कम विक्रमशाली नहीं हैं। फिर वैजयन्तपुर का तिमिध्वज शम्बर उसका मित्र है। इन सब बातों पर विचार कर उससे सधि कर लो।

देवों को सूर्य-विष्णु की सलाह पसद आई। उन्होंने वृत्र के पास संधि के दूत भेजे। दूतों मे ऋषिगण भी थे—देवगण भी। वृत्र ने देव-दूतो का अर्घपाद्य से सत्कार करके कहा—"हे ऋषियो, हे देवो, आपके आने का क्या अभिप्राय है? मैं क्या करके आपको प्रसन्न करू?"

ऋषियों और देवों ने कहा—"हमारे आने का अभिप्राय यह है कि यह देवासुर-संग्राम समाप्त हो जाय। देव-दैत्य सभी दायाद-बान्धव हैं, बन्धुभाव से रहें। आप कृपाकर देवराट् इन्द्र से

संधि कर लीजिए।"

वृत्र ने कहा—"दो तेजस्वी पुरुषों में मित्रता नहीं हो सकती।"

"किन्तु एक बार तो सज्जनों का संग हो ही जाय, पीछे जो होगा वह होगा। सत्संग ही हमारी प्रार्थनीय वस्तु है। सत्संग से मित्रता दृढ़ होती है। धीर पुरुष के लिए मित्रता संकट में सहारा देती है। अर्थकष्ट के समय वही धनरूप हो जाती है। सज्जनों का समागम अमूल्य और प्रयोजनीय है। आप धीर, वीर, सत्यवादी और ज्ञानी हैं। आपका पवित्र याजक कुल है। आप देव-दैत्य दोनों के पूज्य पुरुष हैं, धर्मज्ञ और सूक्ष्मदर्शी हैं। इसी से हम विश्वास कर आपकी सेवा में आए हैं।"

ऋषियों और देवों के यह वचन सुन वृत्र ने हंसकर कहा—"इन्द्र बड़ा कुटिल है। वह पीछे विश्वासघात करेगा—उसका विश्वास क्या? अत: आप सत्य ही मुझसे मित्रता चाहते हैं, तो मैं प्रसन्न हूं। परन्तु, सूर्यदेव हमारे बहनोई और आपके बान्धव हैं। वे हमारे बीच रहें।"

देवों ने स्वीकार किया। इन्द्र और वृत्र में संधि हो गई। इन्द्र ने बड़ा शिष्टाचार प्रकट किया। देवगण दासों से हिल-मिल कर सोमपान करने और हास-विलास करने लगे। इन्द्र भी वृत्र के साथ वनविहार, मृगया और जलक्रीड़ा करने लगा। परन्तु वह वृत्र के मारने की घात में था। अवसर पाकर उसने एक दिन समुद्र-तीर पर उसे असावधान देख वज्र-प्रहार से मार डाला। फिर संकेत पाते ही सब देवगण शस्त्र ले लेकर दासों पर पिल पड़े। दास असावधान और नेतृविहीन हो गए थे। फिर भी उन्होंने डटकर युद्ध किया। परन्तु उनके पास अश्व न थे। देवों को अश्व दौड़ाते देख वे भयभीत हो गए। उन्होंने अश्व और योद्धा को कोई विचित्र जीव समझ कर पलायन करना आरम्भ किया।

नमुचि दास ने स्त्रियों तक को खड्ग लेकर युद्ध में भेजा। परन्तु नमुचि का युद्धस्थली मे निधन हुआ, और अन्त मे देवों ने दासों के दोनों अयोध्य नगरो को जला कर खाक कर डाला, तथा वृत्र का दास-साम्राज्य छिन्न-भिन्न कर दिया।

आज उन्हीं दो अयोध्य नगरों के ध्वंशावशेप महिन्जोदारो और हरप्पा के नाम से विख्यात हैं, जिनकी खुदाई आज हो रही है। और इस प्रतापी आक्रान्ता इन्द्र के घोड़ो से खूदी हुई दासों की वह भूमि नए-नए रहस्यों को प्रकट कर रही है। आगे इलावर्त मे परिवर्तन होने के कारण इन्द्र, उसके अनुयायी देव और सहायक मरुतों का नामोनिशान भी पर्शिया और बलूचिस्तान में नहीं रहा परन्तु भारत मे मोहनजोदारो और हरप्पा के रहस्यमय ध्वंश पुकार-पुकार कर उस अति पुरातन घटना की साक्षी दे रहे हैं।

अपने भाई वृत्र के मरने पर त्वाष्ट्र विश्वरूप बहुत क्रुद्ध हुआ। इस पर इन्द्र को इस बात का भय उत्पन्न हो गया कि कहीं विश्वरूप विद्रोह न खड़ा कर दे। विश्वरूप त्वाष्ट्र साधारण पुरुष न था। वह असुर याजक कुल का था—देव-दैत्य सभी का वह पूज्य था। इसलिए इन्द्र ने अपने अनुगत तक्ष को बुला कर कहा—"तू सोते हुए विश्वरूप का सिर काट डाल।"

"किन्तु इसके कंधे बड़े मोटे हैं, ये मेरी कुल्हाड़ी से न कटेंगे।"

"डर मत कर, तेरी कुल्हाड़ी पैनी और दृढ़ है।"

"परन्तु मेरी कुल्हाड़ी बेकाम हो जायगी।"

"नहीं होगी।"

"आप भयंकर काम कराना चाहते हैं, आपको इस क्रूर कर्म के करने में लाज नहीं आती?"

"लाज कैसी रे, मनस्वी कार्यार्थी कर्मसिद्धि को प्रथम देखते हैं।"

"किन्तु यह ऋषिपुत्र है, याजक है, इसे मारने में आपको ब्रह्महत्या का भय नहीं है?"

"मैं कठिन कर्म करके पीछे उससे छुटकारा पा लूंगा। तू अपना काम कर।"

"यह तो घोर कृत्य है।"

"मैं तुझे यज्ञ-बलि के पशु का सिर यज्ञ-भाग में दूंगा। वह सदैव तेरे वंश को मिलता रहेगा, तू इसका सिर काट।"

इस पर तक्ष ने कुल्हाड़े से विश्वरूप—त्रिशिरा का सिर काट लिया। इस पर बड़ा हल्ला मचा, और जगह-जगह लोग इन्द्र को ब्रह्महा, ब्रह्महा, कहने और विद्रोह करने लगे। इससे भयभीत होकर इन्द्र भागकर छिप गया।



२५

देवेन्द्र नहुष

इन्द्र के इस प्रकार पलायन करके छिप जाने से देव-लोक में अव्यवस्था फैल गई। अन्त मे देवो ने नहुष को ही ऐन्द्राभिषेक कराकर इन्द्रासन पर बैठा दिया। सभी देव-दैत्य, ऋषि, पितृगण, दानव और असुरो ने एकमत हो चक्रवर्ती नहुष को इन्द्र स्वीकार कर लिया। इन्द्र-पद पाकर अब राजर्षि नहुष त्रिभुवन के स्वामी हो गए। वे अप्सराओं और देव-कन्याओं के साथ नन्दनवन में विहार करने लगे। उन्होंने कैलाश, हिमवान्, मन्दराचल, श्वेतपर्वत, सह्द्र, महेन्द्र, मलय आदि पर्वतों, समुद्रो, नदियों में विविध भांति विहार किया। सब प्रकार ऐश्वर्य और विलास के साधन पा, दिव्यागनाओ और अप्सराओं के सान्निध्य में रहकर महा-वीर्यवन्त नहुष क्रीड़ा और कामभोग में रत रहने और सोमपान करने लगे।

अब उन्होने इन्द्राणी पौलोमि शची को शृ गार करके अपनी शैय्या पर आने की आज्ञा दी। परन्तु पौलोमि शची ने नहुष की अंकशायिनी होना स्वीकार नहीं किया। उसने कहा—"मैं अपने प्रिय देवराट् इन्द्र की पत्नी हू। मैं उसी की शैय्या पर आ सकती हू।'

नहुष ने कहा—"मैं ही अब देवराट् इन्द्र हू। मैं देवलोक और मनुष्यलोक का स्वामी हू। इन्द्राणी अब मेरी भोग्या है। यह मर्यादा के विपरीत नहीं है।"

इन्द्राणी ने कहा—"आपने मेरे पति को न युद्ध में जीता है, न उसने मुझे जुए के दाव में हारा है। फिर कैसे आप मुझपर अधिकार रखते हैं?"

किन्तु नहुष ने अपना हठ नहीं छोड़ा। देवों ने समझाबुझा कर पौलोमि शची को नहुष के पास भेजने का निश्चय कर लिया। देव-याजक अंगिरस बृहस्पति ने भी नहुष को समझाया कि पौलोमि शची के साथ बलात्कार करना ठीक नहीं है, परन्तु नहुष ने यही कहा—"वह मेरी विजित वस्तु है। उसपर मेरा वैसा ही अधिकार है, जैसा इन्द्र के इन्द्रासन पर।"

अंगिरस बृहस्पति ने कहा—"देवराज, प्रसन्न होकर क्रोध रोकिए। प्रसन्न हूजिए। इन्द्राणी पुलोमा दैत्यराज की पुत्री है। उसने देवराट् को वरण किया था। इसलिए आप उसपर बलात्कार न करें।"

नहुष ने कहा—"देवराट् बड़ा ही निन्दित, गर्हित पुरुष था। उसने पितृवध किया, यतियों को कुत्तों को खिलाया और ब्रह्महत्या की। मैं देवराट् हूं फिर क्यों नहीं शची मुझे पतिभाव से ग्रहण करेगी? क्या मैं इन्द्र नहीं हूं?"

बृहस्पति ने कहा—"आप महातेजवान् हैं, इन्द्र से भी बढ़कर हैं।"

"तो शची को मेरी शैय्या पर आना चाहिए।"

विवश देवों ने शची को नहुष के पास भेज दिया। क्रोध और शोक से अभिभूत शची पौलोमि आंसू बहाती नहुष के पास जा खड़ी हुई। परन्तु उसने नहुष की शैय्या का आरोहण नहीं स्वीकार किया। नहुष का आग्रह और अनुनय सभी को उसने अस्वीकार कर दिया। उधर नहुष के इस कार्य से देव, दैत्य, ऋषि सभी अप्रसन्न हो विद्रोही हो गए। अन्त में देवों ने मिलकर नहुष को इन्द्रपद से च्युत कर दिया, और उसे देवलोक से निष्कासित कर दिया।

नहुष का छोटा भाई रजि बड़ा पराक्रमशील तरुण था। उसने देवासुर-संग्राम में देवों का पक्ष लेकर विकट युद्ध किया था। देवासुर-संग्राम में प्रथम रजि से दैत्यों ने अपने पक्ष में होकर युद्ध करने की प्रार्थना की थी। तब रजि ने यह शर्त रक्खी थी कि

यदि दैत्य मुझे अपना इन्द्र बनाएँ तो मैं अपने सौ परिजनों सहित उनका पक्ष लेकर देवों से युद्ध करूं। परन्तु दैत्यों ने स्पष्ट कह दिया कि हमारा इन्द्र प्रह्लाद है। और हम उसीके इन्द्रपद के लिए देवों से युद्ध करते हैं, इस पर रजि ने देवों का पक्ष लिया। इन्द्र ने रजि से कहा—"आप ही सब देवों के इन्द्र हैं, और मैं आपका पुत्र हू।" इससे प्रसन्न होकर रजि ने इन्द्र के लिए युद्ध किया। पर पीछे इन्द्र के भाग जाने और त्रिशीर्ष को मरवा डालने के कारण देवों और ऋषियों ने उसके बडे भाई नहुष को ही इन्द्र बना दिया था। अब नहुष को इन्द्रासन से च्युत कर देवलोक से निकाल देने पर क्रुद्ध होकर रजि ने इन्द्रासन पर जबर्दस्ती अधिकार कर लिया और अपने सौ परिजनों को देवलोक की सारी व्यवस्था दे दी। उसके भय से इन्द्र इधर-उधर मारा-मारा फिरने लगा। तब उसने अगिरस बृहस्पति से कहा—"हे देवगुरु, आप किसी तरह रजि से मेरा इन्द्रासन मुझे दिलाइए।" बृहस्पति ने तब युक्ति कर चार्वाक-दर्शन का निर्माण किया। जिसमें वाद-प्रतिवाद-प्रयोजन से सयुक्त, वेदविरोधी तर्क अतितर्कों से सयुक्त हेतुवाद निहित था। उसने उसी के अनुसार राजकाज चलाने की रजि को सलाह दी। इसके परिणामस्वरूप रजि से सब देव-ऋषि विगड़ गए, और उसके परिजनो में भी रागद्वेष उत्पन्न हो गया, उनमें फूट पड़ गई। फलस्वरूप फिर बारहवां देवासुर-सग्राम हुआ।

इस प्रकार बारह देवासुर-सग्राम होने के बाद रजि की जय के साथ उनकी समाप्ति हुई। ये देवासुर-संग्राम तीन सौ वर्षों तक निरन्तर चलते रहे, और परिणाम अन्त में यह हुआ कि देवों तथा दानवों का सारा भाईचारा टूट गया। वे दायाद-बान्धव न रहकर अब पृथक् स्वतन्त्र जातियों में विभाजित हो गए। उनके पारस्परिक रोटी-बेटी-सम्बन्ध भी बन्द हो गए।

२६

पौरव

नहुष का बड़ा पुत्र यति ऋषि था। ययाति, दूसरे पुत्र, उसके उत्तराधिकारी हुए। ये बड़े भारी धर्मात्मा, मन्त्रद्रष्टा और समर्थ पुरुष थे। इनका सैन्यबल असीम था। उन्होंने पृथ्वी को जीतकर धर्मराज्य स्थापित किया। ये अभिमानी थे। इनकी दो स्त्रियां थीं—एक दैत्य याजक शुक्र की कन्या देवयानी, दूसरी दैत्यराज वृषपर्वा की कन्या शर्मिष्ठा। देवयानी से यदु और तुर्वश दो पुत्र तथा शर्मिष्ठा से अनु, द्रुह्यु और पुरु ये तीन पुत्र हुए। पुरूरवा, नहुष और ययाति तीनों ही वेदर्षि थे। पाठकों को स्मरण होगा कि पुरूरवा का वंश असुर याजक अत्रि से संबन्धित था। अब ययाति का विवाह दैत्यराज की पुत्री तथा दैत्यगुरु की पुत्री से होने तथा वैवस्वत मनु की पुत्री के कुल में होने के कारण वे दैत्यों और आर्यों के सब कुलों में सुपूजित हो गए। वे बड़े भारी शासक और दृढ़चित्त पुरुष थे। इनकी रुद्र से मित्रता हो गई। रुद्र ने इन्हें एक दिव्य रथ दिया। यह रथ जन्मेजय द्वितीय तक उनके वंशधरों के पास रहा। पीछे वृहद्रथ द्वारा जरासन्ध को मिला। इनके पांचों पुत्र भी वंशकर हुए। परन्तु इसी समय एक खेदजनक असाधारण घटना हो गई। एक बार चैत्ररथ वन में मृगया करते हुए उसकी भेंट विश्वाची अप्सरा से हो गई। राजा विश्वाची के रूप-यौवन को देखकर मोहित हो गया और उससे रति की याचना की। विश्वाची ने कहा—"हे धर्मात्मा, आप सब धर्मों के ज्ञाता—महाराज हैं। मैं गन्धर्वी हूं और पितृसंज्ञा में हमारी कुल-परम्परा है। तुम भार्यारूप में

अग्नि की साक्षी देकर मुझे ग्रहण करो तो मैं तुम्हारे साथ रति करने में प्रसन्न हू ।" राजा ने यह बात स्वीकार कर ली, और अग्न्याधान कर अग्नि की साक्षी में विश्वाची को ग्रहण किया । परन्तु वृद्ध और मन्दवीर्य शिथिलेन्द्रिय ययाति उस कामोन्मत्ता, रूप-गर्विता, मुखरा-नायिका विश्वाची के साथ रति करने में असमर्थ रहा। इस पर विश्वाची ने उसकी हंसी उड़ाई, और कहा—"राजन्, धर्मात्मा होकर, यह जानते हुए भी कि तुम वृद्ध और शिथिलेन्द्रिय—हतकाम पुरुष हो, तुमने मेरे यौवन को कलंकित किया। अब कहो, कुलव्रती होकर मैं कैसे किस पुरुष से रति-याचना करू ? इससे तुम्हारा इसी मे भला है, कि तुम्हीं इसका प्रबन्ध कर दो। जिससे कुल-मर्यादा भी रहे और धर्म भी रहे ।"

ययाति ने सोच-विचार कर एक उपाय स्थिर किया। उस काल में असुरों में ऐसा करना निन्दनीय नहीं गिना जाता था। उसने एक-एक कर अपने पांचों पुत्रो से अनुरोध किया कि वे अपना यौवन मुझे दें। अर्थात् मेरे स्थान पर विश्वाची को रति-दान करें। परन्तु ययाति के चार पुत्रों ने मातृगामी होना स्वीकार नहीं किया। किन्तु पांचवां पुत्र पुरु राजी हो गया, और उसने रति-दान से विश्वाची अप्सरा को सतुष्ट कर दिया।

इस घटना से ययाति को बड़ी ग्लानि और क्षोभ उत्पन्न हुआ। वह आप ही आप कहने लगा—हाय, हाय, कामोपभोग से काम-शान्ति नहीं होती। भोगतृष्णा प्राणों को नाश करनेवाली है। इससे इसे प्रथम ही से त्याग देना अच्छा है। यह कैसा आश्चर्य है कि शरीर जीर्ण होने पर भी कामतृष्णा जीर्ण नहीं होती।

इस प्रकार ययाति के मन में घोर ग्लानि उत्पन्न हुई, और वह अपने पुत्रों को राज्य बांट भृगुतुंग पर जा अन्नजल त्याग प्राण त्यागने जा बैठा, और अन्त में वहीं प्राण त्याग दिए।

महाराज ययाति चौदह द्वीपों के स्वामी थे। उन्होंने अपना राज्य इस प्रकार अपने पुत्रों को बांट दिया—दक्षिणपूर्व के भूभाग का राज्य तुर्वशु को दिया, जहां आजकल रीवां रियासत है। चंबल के उत्तर, यमुना के पच्छिम की दिशा में द्रुह्य को दिया। गंगा-यमुना के द्वाव के उत्तर में अनु को राज्य दिया, और ईशान में चम्बल-वेतवा और केन के मध्यवर्ती देश यदु को। अन्त में मध्य देश में पुरु को राज्य दे, उसे अपनी प्रधान गद्दी दी। इस प्रकार पुरु, द्रुह्य, अनु, तुर्वशु और यदु इनके पृथक-पृथक राज्य स्थापित हो गए, और उनके मुख्य घराने के शासक ययाति के सबसे छोटे पुत्र पुरु हुए। उन्हीं के नाम पर पौरव वंश चला। पुरु प्रतिष्ठान में राजधानी बना, गंगा-यमुना के मध्यवर्ती द्वावे पर शासन करने लगे।

२७

दाशराज-संग्राम

नाहुषों द्वारा देवलोक को अधिकृत करने की बात पाठक भूले न होंगे। नहुष को जब अपमानित करके देवों ने देवलोक से निकाल दिया तो उसके भाई रजि ने नाहुषों को लेकर बलात् उस पर अधिकार कर लिया। रजि और देवों में घनघोर युद्ध हुआ, जिसमें असुरों-दैत्यों ने रजि का साथ दिया। असल में दैत्यों का असुर-भूमि—अपवर्त से एक प्रकार से वहिष्कार ही हो गया था। इससे देवों के प्रति असुर इस प्रकार खीझ गए थे कि वे युद्ध का कोई अवसर ही न चूकते थे। नाहुषों का प्राबल्य और असुरों के सब राज्यों की सहायता से बलिष्ठ नाहुष देवभूमि को छोड़ते न थे। उनके भय और अत्याचारों से तंग और प्रताड़ित देव मारे-मारे फिरते थे। इन्द्र की भी बड़ी दुर्दशा हो गई थी। वह सर्वत्र मुंह छिपाता फिर रहा था। अब उसने पैजवन सुदास को उभारा। पाठक जानते हैं कि वृत्र-युद्ध में सुदास को इन्द्र ने मित्रवत् माना, तथा उसे राज्याधिकार दिया था। सुदास इन्द्र के इस उपकार को भूला न था। फिर इन्द्र ने वशिष्ठ को समझाबुझा कर सुदास के पास भेज दिया था। वशिष्ठ के कहने से सुदास इन्द्र के लिए युद्ध करने को सन्नद्ध हो गया। परन्तु केवल इन्द्र ही के लिए नहीं, सुदास ययाति-पुत्रों के राज्य-विस्तार को भी सहन नहीं कर सकता था।

रावी नदी का नाम उन दिनों परुष्णी था। परुष्णी के दोनों किनारों पर सुदास का राज्य था, जो उत्तर पांचाल राज्य कहाता था। सुदास पिजवन के पुत्र थे। पिजवन राजा न थे, परन्तु

प्रचण्ड युद्धकर्त्ता थे। सुदास को प्रसि
दिवोदास ने गोद लिया था तथा
दिवोदास मुद्गल के पुत्र वध्यूश्व के
के राजा नल के नवासे थे। पांच
बृहद्रिपु, क्रिमिलाश्व और जयोन
प्रमुख सुदास थे। सुदास को यह गौरव इन्द्र का ...
प्राप्त हुआ था। अब वही इन्द्र देवलोक से भ्रष्ट हो मारा-मारा फिर रहा था। संवर्ण का राज्य इनकी राज्य-सीमा से मिला हुआ था। उधर आर्यावर्त पर भी देवलोक की भांति नाहुषों का प्रावल्य हो रहा था। जो सीमाएं ययाति ने पुत्रों को दी थीं, वे उनसे सन्तुष्ट न थे। इन सब कारणों से दाशराज महासंग्राम की भूमिका बंधी। नहुषवंशियों में यदु तुर्वशु, अनु और द्रुह्य थे, तथा नाहुषों के सहायतार्थ मनुर्भरत और बहुत से अनार्य राजा एकत्र हुए थे। इनके अतिरिक्त नाहुषों के झण्डे के नीचे भार्गव,परोदास,पक्थ,भलान,आलन,शिव,विशात,कवस, युध्यामधि, अज, सिगरु और चक्षु आए थे। दानव वर्चिन अपने एक लाख दानवों को लेकर आया था। बहुत से सिम्यु जाति के मुखिया भी आए थे। केवल पौरवों ने इस युद्ध मे भाग नहीं लिया था। दस्युराज वार्चिन ही इस सयुक्त महासैन्य का नेता था।

सुदास की सहायता इन्द्र और अनेक आर्य राजाओं ने की। इस तुमुल संग्राम में नाहुषों ने रावी नदी को दो भागों मे विभक्त कर के उसे पार करने की चेष्टा की, किन्तु सुदास ने तत्काल धावा बोल दिया जिससे दबाव मे पड़कर नाहुषों की बहुत सी सेना नदी में डूब मरी। कवष और द्रुह्यवंशी सभी डूब मरे। अनु और द्रुह्यों के छयासठ सेनानायक और छः हजार वीर सेनापति खेत रहे। राजा वर्चिन के एक लाख पांच सौ सैनिक मारे गए। इस युद्ध में सात दुर्ग सुदास के हाथ लगे। युध्यामधि को उसने

में वध किया। अज, सिगरु और चक्षु ने अधीनता
.र कर ली। गगु लोग सर्वथा परास्त हो गए। तुर्वश और
ह्म का अहंकार चूर्ण हुआ। कुछ नाहुषों ने कर देना स्वीकार
किया। तुर्वश, परोदास, भृगु और द्रुह्यु ने आधीनता स्वीकार
कर ली। इस युद्ध में इक्कीस जातियों के वैकर्ण पराजित हुए।
सुदास ने शत्रुओं के सात दुर्ग और जीती हुई सामग्री त्रस्यु को
दे दीं। अज, सिगरु और चक्षु ने सुदास को कर दिया।

प्रिव के पचास हजार मनुष्य मारे गए। इस युद्ध में धनुष, वाण, खड्ग, ढाल, कवच, शिलाप्रक्षेपक और अग्न्यस्त्रों का प्रयोग हुआ। बरछे और भालों का भी प्रयोग हुआ। निशित वाण चलाए गए। इस युद्ध को जय कर सुदास ने पूर्व की ओर बढ़ कर भेद से युद्ध किया। भेद के साथ अज, शिग्नु और पक्थो ने यमुना के कछार में सुदास का सामना किया, परन्तु पराजित हुए। भेद का भारी खजाना लूट लिया गया और किले छीन लिए गए। युद्ध की समाप्ति पर विजयोत्सव हुआ, जिसमे पराशर, वशिष्ठ और सत्ययात को बहुत सा दान दिया गया। देववात अभ्यावर्तिन चायमान ने यव्यावती नदी पर वृचीनवों को हराया तथा सृंजय को तुर्वश का देश दिया। चायमान ने बीस घोड़े तथा दासियां भरद्वाज को दीं। यह चायमान मनुभरतों में पृथुवशी थे। दिवोदास ने भी भरद्वाज को धनी बना दिया। सृंजय के पुत्रों ने भी भरद्वाज को दानमान से सत्कृत किया। इस प्रकार यह उस काल का सबसे बड़ा युद्ध समाप्त हुआ, जिसका बड़ा भारी सांस्कृतिक प्रभाव आर्यों और आर्यावर्त पर पड़ा।

वशिष्ठ ने इस युद्ध में सुदास की बहुत सहायता की थी। सुदास ने भी उन्हें बहुत धन, गौ दान दिया। परन्तु किसी कारण से वशिष्ठ उनसे नाराज होकर पौरव सम्वर्ण के पास चले गए। सम्वर्ण को एक बार सुदास हरा चुके थे। वही वैर उभाड़

कर वशिष्ठ उसे सुदास पर चढ़ा लाए। तब सम्वर्ण ने युद्धक्षेत्र में सम्मुख युद्ध में सुदास का वध किया।

अब उत्तर पांचाल में अजमीढ़ के पुत्र बृहदश्व ने दक्षिण पांचाल का नया राज्य स्थापित किया। भरत के पौत्र सुहोत्र ने काशी मे एक पौरव राज्य की स्थापना की थी, जिसे दुर्दम हैहय ने आक्रान्त किया। पीछे प्रतापी प्रतर्दन ने तालजंघ के पुत्र वीतिहव्य को हैहयो की राजधानी मे घुस कर हराया। पीछे वीतिहव्य ऋषि हो गए। प्रसिद्ध वेदर्षि गृत्समिद् वीतिहव्य के दत्तक पुत्र हुए। प्रतर्दन राम के राज्यारोहण मे भी आए थे। प्रतर्दन के पुत्र वत्स ने प्रतिष्ठानपुर के कौशाम्बी प्रान्त को अपने राज्य में मिला लिया। काशी की शाखा मे सुहोत्र के पुत्र बृहत ने कान्यकुब्ज मे पौरव राज्य की स्थापना की। इन्हीं के पुत्र जन्हु थे, जिन्हे प्रतापी सूर्यवंशी मान्धाता की पौत्री ब्याही थी। यदु को चम्बल, वेतवा और केनवाला प्रदेश मिला था। इसके दो पुत्र हुए—क्रोष्टु और सहस्रजित्। इनके दो वंश चले—पहिले से यादव-वंश दूसरे से हैहय-वंश। ये यज्ञ नहीं करते थे। तथा इन्होंने असुरों से विवाह-सम्बन्ध स्थापित किए थे। यदुवंशी हर्यश्व मधु दैत्य का दामाद हुआ। पीछे इस वंश में शशिविन्दु प्रसिद्ध यज्ञकर्ता हुआ। इसके पुत्र ज्यामघ ने दक्षिण में ऋक्ष पर्वत पर मृत्तिकावती बसा कर राजधानी बनाई। हैहयो ने अपने भाई-बन्द यादवो से उनके पैत्रिक राज्य छीन कर माहंजनी और महिष्मतीपुरी बसाई। पीछे सूर्यवंशी शर्यात भी इन्हीं में मिल गए। इसके बाद भार्गवो से हैहयो का विग्रह हुआ। तुर्वश का वंश उत्तरी विहार मे राज्य करने लगा। इस वंश मे प्रसिद्ध यज्ञकर्ता मरुत चक्रवर्ती हुआ। इन्होंने दीर्घतमस ऋषि के चचा संवर्त से यज्ञ कराया। इन्हें ही हिमालय में भारी खजाना मिला। मरुत से कुछ ही पूर्व मान्धाता ने पौरव कुल को राज्यच्युत किया था।

अत्र मरुन ने अपना तुर्वश वश राजकुमार दुष्यन्त को गोद लेकर पौरव कुल मे मिला दिया। इस वश की शाखाए—पाण्ड्य, चौल और केरल—दक्षिण मे फैल गईं।

द्रुह्यु के वशधर अगार को आगे मान्धाता ने पराजित किया। इससे यह वश और पीछे हटकर गांधार तक पहुँचा। पीछे इन्होंने मान्धाता के पुत्र पुरुकुत्स को सपरिवार वन्दी किया। वन्दी अवस्था में ही त्रसदस्यु का जन्म हुआ। समय आने पर इसी त्रसदस्यु ने द्रुह्यों को चम्बल के किनारे करारी हार दी। इसके बाद यह वश और भी पच्छिम की ओर हट कर म्लेच्छदेश में चला गया। कुछ द्रुह्यवशी मध्य भारत में आ बसे, जहां वे भोज कहलाए। अनु को गगा-यमुना के द्वाव का उत्तरी भाग मिला था। इस वश का राजा महामनस पजाव की ओर बढ़ा। वह चक्रवर्ती तथा सात समुद्रों का स्वामी प्रसिद्ध हुआ। इसने सिन्धु, सौवीर, कैकेय, मद्र, वाल्हीक, शिवि और अम्बष्ट राज्यों की स्थापना की। इस वश के राजकुमार तितिक्षु ने पूर्व ओर आकर अग राज्य, वर्तमान भागलपुर के निकट, स्थापित किया। इसी वश के राजा बलि की रानी सुदेष्णा में अन्धे वेदर्षि दीर्घतमस ने वीर्यदान दे पांच पुत्र उत्पन्न किए, जो क्रमश अंग, वंग, कलिंग, सुम्ब, पौन्ड्र राज्यों के संस्थापक हुए। इसी वश के प्रसिद्ध नरेश लोमपाद दशरथ के मित्र थे।

दीर्घतमस, वीतिहव्य, जमदग्नि, राम, परशुधर औरशिवि, यदु, द्रुह्यु, अनु और तुर्वशु नाम वेद मे वहुत विख्यात हैं। गान्धार में रावलपिण्डी और पेशावर के जिले लगते थे। उसमे तक्षशिला और पुष्करावती प्रमुख नगर थे। आजकल इसे चारसद्दा कहते हैं। कैकेय लोग गान्धार और व्यास के मध्यवर्ती क्षेत्र मे थे। उशीनर, कैकेय और मद्रक आनव ही थे। यह वश देर तक मध्य पजाव में राज्य करता रहा। उत्तर मद्र हिमालय के उस पार था।

दक्षिण मद्र का राज्य स्यालकोट के निकट था। इन राज्यों की पांच श्रेणियां थीं—साम्राज्य, भौज्य, स्वराज्य, वैराज्य और राज्य। उन दिनों राजाओं की रानियों की भी चार श्रेणियां थीं—महिषी, परिवृत्ता, वावाता, पालागली। मुख्य रानी महिषी, प्रेमहीना परिवृत्ता, मुख्य प्रेमिका वावाता और अंतिम—मंत्री की कन्या—पालागली। भारी सम्राट का एन्द्राभिषेक होता था। इन बड़े बड़े राजवंशों के अतिरिक्त उस काल में गान्धार, मूजवन्त, मत्स्य, तृत्सु, भरत, भृगु, उशीनर, चेदि, क्रिवि, पांचाल, कुरु, सृंजय, घर, पारावत आदि वंशों की अनेक छोटी-बड़ी गद्दियां भरतखण्ड में स्थापित थीं।

अन्न मरुन ने अपना तुर्वश वश राजकुमार दुष्यन्त को गोद लेकर पौरव कुल में मिला दिया। इस वश की शाखाए—पाण्ड्य, चौल और केरल—दक्षिण मे फैल गई।

द्रुह्यु के वंशधर अगार को आगे मान्धाता ने पराजित किया। इससे यह वंश और पीछे हटकर गाधार तक पहुँचा। पीछे इन्होंने मान्धाता के पुत्र पुरुकुत्स को सपरिवार वन्दी किया। वन्दी अवस्था में ही त्रसदस्यु का जन्म हुआ। समय आने पर इसी त्रसदस्यु ने द्रुह्यों को चम्बल के किनारे करारी हार दी। इसके बाद यह वश और भी पच्छिम की ओर हट कर म्लेच्छदेश में चला गया। कुछ द्रुह्यवशी मध्य भारत में आ वसे, जहां वे भोज कहलाए। अनु को गंगा-यमुना के द्वाव का उत्तरी भाग मिला था। इस वश का राजा महामनस पजाब की ओर बढ़ा। वह चक्रवर्ती तथा सात समुद्रों का स्वामी प्रसिद्ध हुआ। इसने सिन्धु, सौवीर, कैकेय, मद्र, वाल्हीक, शिवि और अम्बष्ट राज्यों की स्थापना की। इस वश के राजकुमार तितिक्षु ने पूर्व ओर आकर अग राज्य, वर्तमान भागलपुर के निकट, स्थापित किया। इसी वश के राजा बलि की रानी सुदेष्णा में अन्धे वेदर्षि दीर्घतमस ने वीर्यदान दे पाच पुत्र उत्पन्न किए, जो क्रमशः अग, बंग, कलिंग, सुम्ब, पौन्ड्र राज्यों के सस्थापक हुए। इसी वंश के प्रसिद्ध नरेश लोमपाद दशरथ के मित्र थे।

दीर्घतमस, वीतिहव्य, जमदग्नि, राम, परशुधर औरशिवि, यदु, द्रुह्यु, अनु और तुर्वशु नाम वेद में बहुत विख्यात हैं। गान्धार में रावलपिण्डी और पेशावर के जिले लगते थे। उसमें तक्षशिला और पुष्करावती प्रमुख नगर थे। आजकल इसे चारसद्दा कहते हैं। कैकेय लोग गान्धार और व्यास के मध्यवर्ती क्षेत्र में थे। उशीनर, कैकेय और मद्रक आनव ही थे। यह वश देर तक मध्य पंजाब में राज्य करता रहा। उत्तर मद्र हिमालय के उस पार था।

दक्षिण मद्र का राज्य स्यालकोट के निकट था। इन राज्यों की पांच श्रेणियां थीं—साम्राज्य, भौज्य, स्वराज्य, वैराज्य और राज्य। उन दिनों राजाओं की रानियों की भी चार श्रेणियां थीं—महिषी, परिवृत्ता, वावाता, पालागली। मुख्य रानी महिषी, प्रेमहीना परिवृत्ता, मुख्य प्रेमिका वावाता और अंतिम—मंत्री की कन्या—पालागली। भारी सम्राट का एन्द्राभिषेक होता था। इन बड़े बड़े राजवंशो के अतिरिक्त उस काल में गान्धार,मूजवन्त,मत्स्य,तृत्सु, भरत,भृगु,उशीनर, चेदि, क्रिवि, पांचाल, कुरु, सृंजय, धर, पारावत आदि वंशों की अनेक छोटी-बड़ी गद्दियां भरतखण्ड मे स्थापित थीं।

२८

आनर्त

वैवस्वत मनु के एक पुत्र शर्याति थे। इन्होंने गुजरात प्रांत में खम्भात की खाड़ी के पास अपना आनर्त राज्य स्थापित किया था। शर्याति बड़े भारी सम्राट् हुए। पीछे इनका ऐन्द्राभिषेक हुआ। शर्याति के पुत्र का नाम आनर्त था, उसी के नाम पर इस राज्य का नाम भी आनर्त रखा गया था। शर्याति की एक पुत्री सुकन्या नाम की थी, जिसे भृगुपुत्र च्यवन ऋषि को व्याहा गया था। भृगु ऋषि अति प्रतिष्ठित देव-असुर-पूजित थे। उनके तीनों पुत्र—शुक्र, अत्रि और च्यवन विख्यात पुरोहित याजक हुए। शुक्र और अत्रि असुर-याजक थे, शुक्र हिरण्य-कशिपु और बलि के पुरोहित थे, जिनके पुत्र सन्द और मकरन्द को दैत्यपति हिरण्यकशिपु ने अपने पुत्र प्रह्लाद का शिक्षक नियत किया था। शुक्र वृषपर्वा दानव के भी पुरोहित थे। शुक्र और वृषपर्वा दोनों की कन्याएं देवयानी और शर्मिष्ठा ययाति एल को व्याही थीं। शर्याति ने च्यवन को अपनी पुत्री सुकन्या व्याह दी, उन्हें अपना पुरोहित भी बना लिया। च्यवन आनर्त राज्य के दामाद और गुरु बनकर राजसी ठाठ से रहने लगे। शर्याति की गणना वेदर्षियों में थी। च्यवन और सुकन्या की सन्तानों ही में दधीच, ऊर्व, ऋचीक, जमदग्नि और परशुराम उत्पन्न हुए।

कुछ काल बाद पुण्यजन राक्षसों के राजा मधु ने इस राज्य पर अधिकार कर लिया। मधु यादवों की शाखा में कुन्तराज्य का स्वामी था। मधुपुरी उसी ने बसाई, पीछे जिसका नाम मथुरा प्रसिद्ध हुआ। मधु साहस करके लंका से रावण के रंगमहल में

से रावण के नाना सुमाली के बड़े भाई माल्यवान की पुत्री कुम्भीनसी को चुरा लाया था। पीछे रावण के क्रोध से बचने के लिए उसने राक्षस-धर्म स्वीकार कर लिया था। फिर मधु ने हैहयों से भी वैवाहिक सम्बन्ध स्थापित किए। अन्त में यह राज्य हैहयों के राज्य में मिल गया। भार्गव लोग भी शर्याति की भांति हैहयों के पुरोहित बने रहे। हैहयों ने उन्हें खूब सम्मानित किया तथा धन भी खूब दिया। पीछे हैहयों को निरन्तर की चढ़ाइयों और युद्ध के कारण धन की बड़ी आवश्यकता पड़ी। उन्होंने प्रजा से धन मांगा। इसी भांति भार्गवों से भी मांगा। परन्तु भार्गवों ने धन देने से इनकार कर दिया। प्रथम तो उन्होंने आनर्त के राज्य पर अपने दामाद होने का अधिकार प्रदर्शित किया, पुरोहित और गुरुपद का भी अधिकार मांगा। बहुत हठ करने पर कहा—धन हमारे पास नहीं है। इस प्रश्न पर भार्गवों और हैहयों से झगड़ा हो गया। भार्गवों ने अपना धन भूमि में छिपा दिया। हैहयों ने उनके घर खोद डाले। फिर उन्हें लूट लिया। घरों को खोदने से बहुत धन मिला। इस पर क्रुद्ध होकर उन्होंने भार्गवों को मार डाला। उनकी स्त्रियों के गर्भ फाड़ डाले। उनमें केवल एक और्व बचकर निकल भागे, और सुमेरु-भूमि में, काव्यशुक्र के आश्रय में रहने लगे। पीछे और्व ही के नाम पर सुमेरु-भूमि का नाम 'अरब' पड़ा।

उनके साथ उनकी सगर्भा पत्नी भी थी। कालान्तर में उसने पुत्र प्रसव किया, और समय पाकर वह उसी भूमि में बढ़कर गुप्तवास में ही युवा हुआ। उसका नाम ऋचीक रखा गया। युवा होने पर और्व ने उसे सब ऊंच-नीच समझा कर माहिष्मती के राज्य से दूर सरस्वती-तीर पर आश्रम बनाकर रहने की सलाह दी। सरस्वती-तट पर बस जाने के कुछ काल ही बाद कान्यकुब्ज के राजा गाधि ने उन्हें अपनी

पुत्री सत्यवती व्याह दी। समय पाकर जिस समय सत्यवती ने पुत्र प्रसव किया, उसी समय उसकी माता ने भी किया। सत्यवती के पुत्र का का नाम जमदग्नि हुआ और गाधिपुत्र का विश्वामित्र। दोनों मामा-भांजे सरस्वती-तट पर ऋचीक ऋषि के आश्रम में पलने और शिक्षण पाने लगे। और्व ने अपने पुत्र ऋचीक को वेदज्ञ बनाया था। ऋचीक ने भी अपने पुत्र और साले को वेदविद् बनाया। फलत' जमदग्नि और विश्वामित्र उसी समय ख्यात-नामा पुरुष हो गए थे। आगे चलकर दोनों मामा-भांजो ने मिलकर वेद की ऋचाए बनाईं और वेदर्षि प्रसिद्ध हुए।

यह वह काल था, जब आर्यों के राज्यो ने गंगा और यमुना के तट छू लिए थे। दैत्य और असुर अनार्य मधुपुरी मथुरा से पीछे हटते और नर्वदा-तट पर अपने आवास बनाते जाते थे। सरस्वती और दृषद्वती का मध्यवर्ती प्रदेश आर्यों का केन्द्रस्थल वनता जा रहा था। सूर्य और चन्द्रवश के खण्डराज्यों के अतिरिक्त यहा यदु, पुरु, भरत, तृत्सु, तुर्वसु, अनु, द्रुह्यु, जन्हु जातियों के जनपद स्थापित हो चुके थे। उधर वाराणसी के गगा-तट से नर्वदा तक आर्यों के योद्धा आगे बढ़ते जा रहे थे। नए-नए राज्यों की स्थापना हो रही थी।

विश्वामित्र के पिता गाधिन् जन्हु वश के राजा थे। एक बार ऋचीक और्व उनके यहां आए और एक सहस्र श्यामकर्ण घोड़े गाधि को देकर उनकी पुत्री सरस्वती मांग ली। इस प्रकार गाधि-पुत्री से उनका व्याह हुआ।

उस युग में भृगुवंश महामहिमावान् था ही। च्यवन के सौतेले भाई उशनस शुक्र जहां सब दैत्यों के याजक गुरु थे, वहां महा महिमावान् ययाति के श्वसुर भी थे। ये ययाति भी साधारण राजा न थे, अपितु पुरु, यदु, अनु, द्रुह्यु और तुर्वशु इन पांच वशों के मूल पुरुष थे। यद्यपि उनके आचार आर्यों से भिन्न

थे, परन्तु इससे उनकी प्रतिष्ठा मे कमी नहीं आती थी। हैहयो से विग्रह होने पर उन्होंने यदु, तुर्वशु और द्रुह्यों का आश्रय लिया। ऋचीक ऋषि का असुर याजकवंशी होने से आर्यावर्त के बाहर दूसरी जातियो पर भी भारी प्रभाव था।

जमदग्नि का विवाह इक्ष्वाकुवंश की राजकुमारी रेणुका के साथ हुआ था। उनके पांच पुत्र हुए, सबसे छोटे परशुराम थे। परशुराम उदग्र प्रकृति के थे। ऋचीक ऋषि ने हैहयो द्वारा अपने कुलनाश और अपमान की इतनी भावना उनके मन मे भर दी कि तरुण परशुराम का रक्त खौलने लगा और उसने शास्त्रो के साथ शस्त्रों की भी सम्पूर्ण शिक्षा प्राप्त की। संयोग ही से एक दुर्घटना के कारण परशुराम का उग्र स्वभाव प्रकट हो गया। परशुराम की माता रेणुका का मृत्तिकावती के राजा चित्ररथ के साथ गुप्त सम्बन्ध अकस्मात् प्रकट हो गया। जमदग्नि यो शान्त पुरुष थे, पर इस घटना से वे इतने उत्तेजित हुए, कि उन्होंने अपने पुत्रों को आज्ञा दो कि वे तुरन्त ही अपनी माता का शिर काट लें। सभी पुत्र इस जघन्य कार्य को न कर सके। किन्तु परशुराम ने परशु उठा, खट से माता का शिर काट लिया।

जब सरस्वती-तीर पर जमदग्नि के आश्रम मे यह खेदजनक घटना घट रही थी, हैहयों का प्रबल प्रताप भारत पर छा रहा था। उनका राज्य मथुरा मे नर्वदा-तट तक के प्रदेशों मे फैल गया था। उधर खम्भात से काशी तक उनका विस्तार था। कोई भी अकेला आर्य राजा उनके सम्मुख आने का साहस न कर सकता था। इस प्रकार से समूचे ही मध्य-प्रदेश का स्वामी हैहय कार्तवीर्य सहस्रार्जुन था। इसके राज्य का विस्तार, पूर्व मे चर्मवती नदी—चम्बल, पश्चिम में समुद्र, दक्षिण में नर्वदा और उत्तर मे आनर्त तक फैला हुआ था। उसकी विपुल पोतवाहिनी सेना थी, और उसका हयदल अजेय था। वह प्रतापी, साहसी और मानी

था। फिर शर्यात भी उसके साथ थे।

हैहयो से हार कर यादव ज्यामघ अपना पैत्रिक राज्य छोड़कर मृत्तिकावती में विदर्भ के निकट जा छिपा। सूर्यवशी राजा वाहु और्व ऋषि के आश्रम मे आ छिपा। विश्वामित्र के पुत्र लौहि का कान्यकुब्ज राज्य उन्होंने नष्ट कर दिया। केवल अयोध्या का सूर्यवशी राज्य इसके उत्पात से बचा रहा।

परन्तु परशुराम विश्वामित्र की बहिन के पौत्र, और इक्ष्वाकु राजा के दौहित्र, तथा गरिमामय भृगुवश के उत्तराधिकारी थे। वे हैहयों को अपना चिरशत्रु समझते थे, और ज्यो-ज्यो वे सहस्रार्जुन की ख्याति तथा शौर्य-चर्चा सुनते जाते थे, उनके मन में उससे मुठभेड़ करने की इच्छा प्रवल होती जाती थी। उन्होने यादवों को अपना साथी बना लिया था। ये दोनों ज्वलन्त पुरुष इन दिनों परस्पर टकराने के लिए शक्ति-सचय कर रहे थे।

सयोगवश जमदग्नि की स्त्री रेणुका की बहिन सहस्रार्जुन को व्याही थी। इस प्रकार यद्यपि जमदग्नि अर्जुन के साढू थे, फिर भी प्राचीन वश-बैर तो था ही। अव जो उन्होंने अपनी पत्नी का वध करवा डाला, तो इससे क्रुद्ध होकर सहस्रार्जुन ने चढ़ाई करके जमदग्नि का आश्रम जला डाला, गाए लूट लीं, और मनुष्यों को मार डाला। इसपर पिता की आज्ञा से परशुराम ने अपने मौसा—इस विख्यात योद्धा सहस्रार्जुन को सम्मुख युद्ध में मार डाला। इसपर कुपित होकर अर्जुन के उत्तराधिकारी हैहयों ने राम की अनुपस्थिति में निरस्त्र जमदग्नि को मार डाला। इसपर क्रुद्ध हो, हैहयों का वीजनाश करने का संकल्प कर परशुराम ने निरन्तर कठिन युद्ध करके हैहयवश का समूल उच्छेद करके समन्तक तीर्थ मे उनके रक्त से पांच कुण्ड भरे।

२६

उत्तर कौशल

अयोध्या की मुख्य उत्तर कौशल की गद्दी पर जिस समय दशरथ अबाध शासन कर रहे थे, उसी समय उत्तर कौशल-वंश के कुछ शाखा-राज्य भी बहुत सम्पन्न थे; जिनका उल्लेख हम कर चुके हैं। इन्हीं में से एक राज्य अनरण्य ने स्थापित किया था। यह अनरण्य राजा दशरथ से छः-सात पीढ़ी प्रथम सिन्धु द्वीप राजा का पुत्र था। यह राज्य कान्यकुब्ज के निकट कहीं था। इस शाखा का त्रैयारुण राजा वेदज्ञ और प्रतापी था। त्रैयारुण का पुत्र सत्यव्रत था, जिसका त्रिशंकु नाम युवराज-काल ही में प्रसिद्ध हो चुका था। इसका कारण यह था कि उससे तीन गुरुतर अपराध हो चुके थे। प्रथम तो, उसने एक ऋषि की नव परिणीता वधू के साथ बलात्कार किया। दूसरे, चाण्डालों के साथ रहने तथा खानेपीने लगा। तीसरे, कुलगुरु वशिष्ठ की एक गाय को मार कर वह खा गया। इन तीन गुरुतरअपराधों के कारण उसके पिता ने उसे त्रिशंकु का दुर्नाम दिया और कुलगुरु वशिष्ठ की सलाह से उसे यौवराज्य-पद से च्युत कर दिया। त्रिशंकु पिता का कोपभाजन तथा राज्याधिकार से च्युत होकर वन में भाग गया।

कालान्तर में त्रैयारुण की मृत्यु हुई। परन्तु त्रिशंकु को राज्य नहीं मिला। मन्त्री वशिष्ठ ही राज्य चलाने लगे। इसी समय एक भयंकर बारह वर्ष का अकाल पड़ा, जिससे प्रजा वशिष्ठ से असन्तुष्ट हो गई। इस समय घात पाकर कान्यकुब्ज-नरेश विश्वामित्र ने इस राज्य पर आक्रमण कर दिया। वशिष्ठ ने

शवरों और म्लेच्छों की सेना संग्रह कर विश्वामित्र को पराजित किया। युद्ध के पराजय से लज्जित और लांच्छित होकर विश्वामित्र अपने राज्य में नहीं लौटे—वन में चले गए। राज्य पर उनका पुत्र अधिकारी हो गया। वन मे त्रिशकु ने विश्वामित्र की अच्छी आवभगत की। उन्हें बहुत सहायता पहुँचाई। उनके परिवार का पालन किया। इसके बाद विश्वामित्र और त्रिशंकु के सम्मिलित उद्योगो से त्रिशकु अपने पिता की गद्दी पर आसीन हुआ। इस पर वशिष्ठ, त्रिशकु और विश्वामित्र दोनो ही के वैरी बन गए, परन्तु राज्य के मन्त्री और पुरोहित बने ही रहे। कुछ दिन बाद त्रिशकु ने यज्ञ करना चाहा, परन्तु वशिष्ठ ने यज्ञ कराने से साफ इन्कार कर दिया। इस पर त्रिशकु ने विश्वामित्र से ऋत्विज बन कर यज्ञ कराने को कहा। विश्वामित्र राजी हो गए। परन्तु वशिष्ठ का विरोध साधारण न था। वे एक सहस्र बटुकों के कुलपति थे। वेद-निर्माता ऋषि थे। राज्यमन्त्री थे। उनके प्रभाव से कोई ऋषि और देवता त्रिशकु के यज्ञ में नहीं आया। इस पर विश्वामित्र ने कुपित होकर कहा—'मैं नए देवताओं की स्थापना करूंगा।' अन्त में देवताओं ने यज्ञ-भाग ग्रहण किया। परन्तु इस राज्य की पुरोहिताई वशिष्ठ ने छोड दी—विश्वामित्र उसके पुरोहित हो गए।

यह राज्य त्याग कर वशिष्ठ उत्तर पाचाल-नरेश सुदास के राज्य में पहुँचे और उस राजा के मन्त्री और पुरोहित बन गए। दश राजाओ के युद्ध में वशिष्ठ ने सुदास को बड़ी सहायता की। उसे जिताया तथा अपने हाथ से उसका राज्याभिषेक किया। परन्तु कुछ काल बाद यहा भी विश्वामित्र ने बाधा उपस्थित कर दी। सुदास ने यज्ञ कराने को विश्वामित्र को बुलाया। यज्ञ के मध्य में वशिष्ठपुत्र शक्ति ने विश्वामित्र को निरुत्तर कर दिया। इस पर विश्वामित्र ने शक्ति को अवसर पाकर जीवित ही जलवा दिया। झगड़ा इतना बढ़ा कि सुदास ने वशिष्ठ-परिवार के सौ

पुरुषों को मरवा डाला।

अब वशिष्ठ खिन्न होकर दक्षिण कौशल-नरेश कल्माषपाद के यहां चले गए। वहां विश्वामित्र ने एक विचित्र युक्ति की। किंकर नामक एक राक्षस को राजा का अन्तरंग मित्र बना दिया। उसके संसर्ग से उस राजा को नरमांस खाने का चस्का लग गया, और उस राक्षस की सलाह में आकर राजा कल्मापपाद वशिष्ठ के सब पुत्रों को मार कर खा गया।

वशिष्ठ वहां से भी हटकर अब हस्तिनापुर के राजा संवर्त के राज्य में आए। संवर्त को एक बार सुदास ने युद्ध मे हराया था। वही वैर उकसा कर वशिष्ठ ने संवर्त को युद्ध के लिए तैयार किया। अन्त में सुदास का संवर्त से घोर युद्ध हुआ, जिसमे सुदास मारा गया।

इसके बाद वशिष्ठ फिर उत्तर कौशल की अपनी जगह पर आ गए। इस समय तक त्रिशंकु की मृत्यु हो चुकी थी, और अब उनके पुत्र हरिश्चन्द्र राज्याधिकारी हुए थे। हरिश्चन्द्र बड़े योद्धा और दानी थे। इन्होंने अश्वमेध यज्ञ किया। यज्ञ मे इन्होंने विश्वामित्र को बुलाना चाहा, परन्तु वशिष्ठ ने इसका घोर विरोध किया। विश्वामित्र ने भी यह सुना। इस अपमान को उन्होंने मन ही मे रक्खा। इसी समय एक विचित्र घटना घटी। हरिश्चन्द्र के कोई पुत्र नहीं हुआ। तब उन्होंने वरुण की उपासना की और प्रतिज्ञा की कि मैं प्रथम पुत्र को वरुण को बलि दूंगा। कालांतर में पुत्र उत्पन्न हुआ और उसका नाम रोहिताश्व हुआ। परन्तु हरिश्चन्द्र ने वरुण को पुत्र की बलि नहीं दी। इससे उसे जलोदर का रोग हो गया और उसका कारण 'संकल्प छेदन' से वरुणदेव का कोप ही माना गया। बहुत सोच-विचार के उपरांत वशिष्ठ की सलाह से यह निर्णय हुआ कि पुत्र के स्थान पर कोई अच्छे कुल का दूसरा लड़का बलि देने से भी वरुणदेव संतुष्ट

हो सकते हैं। इस पर खोज खाजकर भृगुवशी अजीगर्त वेदर्षि को लाया गया और उसने एक हजार गाय लेकर अपने मझले पुत्र सुन शेप को वलि होने के लिए वेच दिया।

सभवत इस कार्य में वशिष्ठ की अभिसन्धि थी, क्योंकि यह वालक विश्वामित्र का भागिनेय था। वालक विश्वामित्र के पास जाकर वहुत रोया-पीटा और कहा—मेरे दुष्ट लालची पिता ने मुझे वलि होने के लिए वेच दिया है, आप मुझे बचाइए।

विवश विश्वामित्र यज्ञ में आए। चालाकी से वशिष्ठ इस यज्ञ में ऋत्विज नहीं वने थे। अयास्य-अगिरस को वनाया था। जव वालक को लाल वस्त्र पहिना कर वधस्थल पर लाया गया, तो कोई पुरोहित इसे यूप से वांधने को राजी नहीं हुआ। जिस पर अजीगर्त वेदर्षि ही और सौ गाएँ लेकर इस काम को भी तैयार हो गया, और उसने लड़के को यूप से वांध दिया। परन्तु विश्वामित्र के प्रभाव से वरुण ने विना बलि के यज्ञ की पूर्णता मान ली, और शुन शेप वच गया। वच जाने पर अजीगर्त वेदर्षि—हा पुत्र, हा पुत्र, कहकर उसकी ओर दौड़ा। तव उस वालक ने घृणापूर्वक उसे पिता मानने से इन्कार कर दिया और वह विश्वामित्र का पुत्र वन गया।

३०

अनार्य-जन

अनार्यों की भी भारत और भारत की सीमाओं पर उन दिनों अनेक जातियां थीं। इनमें महिप, कपि, नाग, मृग, ऋक्ष, व्रात्य, आर्जिक, राक्षस, दैत्य, दानव, कीकट, महावृष, वाल्हीक, मूंजवन आदि प्रमुख थीं। इन सब का संयुक्त नाम अनार्य ही था। इनमें से ही कुछ जातियों को यातुधान, दस्यु और सिम्यु भी कहा जाता था।

मानवशास्त्रियों का कहना है कि आजकल शुद्धतम आर्यों के वंशधर केवल काश्मीर, पंजाब और राजस्थान की कुछ जातियां हैं। गंगा-यमुना की घाटियों और विहार की जातियों मे आर्यों और द्रविड़ों का मिश्रण है। कीकट गया प्रान्त के निवासी थे। गुजरात, सिन्ध, बम्बई मे सीदियन तथा द्रविड़ों की मिश्रित जातियां हैं। नेटाल, भूटान, आसाम आदि में मंगोलों का प्राधान्य है। बंगाल, छोटा नागपुर और उड़ीसा मे मंगोल-द्रविड़ों का मिश्रण है। वायव्य सीमाप्रान्त के लोग तुरुष्क हैं, जिन्हें तुर्की ईरानी भी कहा जाता है।

मैसूर प्रान्त ही महिपमण्डल था। अत्यन्त प्राचीन काल में यहां आर्यों की विरोधिनी महिप जाति रहती थी। रावण के काल में हैहय कार्तवीर्य अर्जुन यहां राज्य करते थे। कपि या वानरों का राज्य किष्किन्धा में था। वर्तमान टोडा जाति के लोग, जो दक्षिण भारत मे हैं, संभवतः इन्हीं के वंशधर हैं। ऋक्ष भी उन्हीं प्रान्तों मे एक जाति थी। ये वास्तव में द्रविड़ जातियों के बान्धव थे। कपियों की राजधानी किष्किन्धा बहुत सम्पन्न

थी, और वहां का स्वामी बालि अजेय योद्धा था। नागों में शेष, वासुकी, तक्षक, धृतराष्ट्र आदि प्रमुख राजे थे। इनके वश दक्षिण के द्वीप-समूहों में तथा समुद्री तट-प्रान्तो मे राज्य करते थे। पाताल नाग-लोक कहाता था। सम्भवतः सिन्ध मे एक नगर पाताल नामक था, जहा वासुकी राज्य करता था। वहां से वैबिलोन तक भारतीय व्यापार होता था। पूर्वी बगाल के समुद्र-तट पर भी नागों की बस्तियां थीं। छोटा नागपुर का उत्तरी अंचल इनका मुख्य केन्द्र था। नागों के वैवाहिक सम्बन्ध आर्यों और अनार्यों में समान भाव से होते थे। सर्वप्रथम काश्यप सागर का मन्थन देवों, दैत्यों और नागो ने ही मिलकर किया था। उत्तंक ऋषि ने अपने खोए हुए कुण्डल किसी नाग नरपति से ही छीने थे। लंका के समुद्र की रक्षिका सुरसा—नागमाता थी, जिससे हनुमान की मुठभेड़ हुई थी। बलि को कैद करके आदित्यों ने नागों ही के संरक्षण में पाताल भेजा था। आर्य युवनाश्व और हर्यश्व ने अपनी बहिन धूम्रवर्णा नाग को व्याही थी। उसी की पांच कन्याओं का विवाह हर्यश्व के दत्तक पुत्र यदु के साथ हुआ था। आस्तीक इन्हीं का पुत्र था। नागों का यह वश बहुत आधुनिक काल तक भारत में चलता रहा। कृष्ण ने वृन्दावन के निकट कालीय नाग को पराजित किया और उसे वहां से खदेड़ कर समुद्रतट पर बसने को विवश किया था। रामपुत्र कुश ने भी एक नागकन्या से विवाह किया था। आगे चल कर महाराज जनमेजय से नागों का घोर युद्ध हुआ, जिसने अनगिनत नागों को हवनकुण्ड मे जीवित ही झोंक दिया था। इतिहासकार कहते हैं कि नागों ने ही कुशान वश को पराजित करके भारत में अपना साम्राज्य स्थापित किया था। इसी वंश का दौहित्र तृतीय वाकाटक नरेश था।

दैत्य, दानव और नागों का जो परिचय हम दे चुके हैं, आर्यों

से उनके कौटुम्बिक सम्बन्ध भी थे। ये आदित्यों के दायाद बान्धव थे—इससे इनमे और आर्य तथा देवों में बहुत कुछ सांस्कृतिक साम्य था। प्रह्लाद और बलि प्रसिद्ध यज्ञकर्ता थे। उनके आर्यों से वैवाहिक सम्बन्ध भी होते थे। पुलोमा दैत्य की कन्या शची पौलोमि इन्द्र को व्याही थी। उसकी कन्या जयन्ती प्रथम शुक्र—उशना को व्याही थी। वृषपर्वा दैत्य की कन्या शर्मिष्ठा का विवाह ययाति से हुआ था। दैत्य-दानवों का मेल था, यह बात भली-भांति कही जा चुकी है। परन्तु आदित्यों से उनकी लड़ाई बहुत करके जातीय थी—धार्मिक नहीं। परन्तु राक्षसो ने उनके साथ धर्मयुद्ध छेड़ दिया था।

व्रात्य बहिष्कृत—क्रियारहित आर्य थे। महावृष 'मूंजवन', वाल्हीक पंजाब, दक्षिणी जनस्थान, पच्छिमी पंजाब, पूर्वी अफगानिस्तान मे रहते थे। पारावत रावी-तट पर, आर्जिक भारत के उत्तर पच्छिम में रहते थे। संभवतः वर्तमान भील, गोंड, संथाल, सौर, कोल उस काल के कपि, महिष, ऋक्ष, राक्षस कोल आदि जातियों ही के वंशधर हैं।

दक्षिणारण्य मे यद्यपि बहिष्कृत आर्य ही जाते थे, परन्तु वहां कुछ आर्यजन स्वेच्छा से भी बस गए थे। अगस्त मुनि राम के दक्षिणारण्य मे जाने से प्रथम ही दक्षिणारण्य में आर्यों का एक उपनिवेश स्थापित कर चुके थे। शरभंग ऋषि तथा परशुराम भी वहां रहते थे। जनस्थान में बहुत ऋषि आश्रम बनाकर रहते थे। पुलस्त्य के वंशज तो वहां थे ही। इस प्रकार इस काल मे, जिसका वर्णन इस उपन्यास मे है, दक्षिण का आर्यावर्त से बहुत घनिष्ठ संबन्ध हो चुका था। ये सभी आर्य-ऋषि-मुनि बहिष्कृत आर्यजनों की बड़ी भारी सहायता करते थे।

संक्षेप मे, उस काल मे दैत्य-दानव श्वेत पर्वत—सफेदकोह पर,

देवगण सुमेरु पामीर पर, राक्षस लंका और दक्षिणारण्य में, पिशाच-यक्ष हिमालय के अंचल में, गन्धर्व और अप्सरा हेमकूट—कराकुरम पर, नाग और तक्षक निषध—निस्सा पहाड़ पर, ऋषि नीलाचल में, पितृ शृंगवान पर्वत पर, जो सुमेरु से पच्छिम और काश्यप सागर के निकट है, रहते थे। कालांतर में इन स्थानों में हेरफेर हुआ। भूतगण भूटान मे रहते थे।

हमने पीछे बताया है, कि आर्यों के भारत में आने से प्रथम मनुर्भरतों का भारतवर्ष में राज्य था। जिस भूभाग में ये मनुर्भरत राज्य करते थे, वह भरतखण्ड कहाता था। प्रियव्रत के पुत्र नाभि को यह देश मिला था और पीछे भरत के नाम पर उसे भारत नाम दिया गया था। इन भरतों के भी यहां के अनार्यों से बहुत युद्ध हुए। संभवत. स्वारोचिष मन्वन्तर में चैत्रवशी राजा सुरथ कोला नामक प्रान्त का स्वामी था। उसी से संभवतः महिषों के नेता महिषासुर का युद्ध हुआ। राजा भयभीत हो जगलों में भाग गया और उसकी महिषी दुर्गा देवी ने सम्मुख युद्ध में महिषासुर का वध किया। इसी वीर देवी ने शुम्भ, निशुम्भ नामक दो असुर-सरदारों तथा चण्ड, मुण्ड नामक उनके सेनापतियों का हनन किया। पीछे यही राजा सुरथ दैत्य मधु-कैटभ के साथ, प्रलय-काल मे विष्णु—सूर्य से लड़े थे।

इस समय भी आर्यावर्त के बाहर भरतखण्ड के पश्चिमोत्तर खण्ड में मनुर्भरतों के तथा पूर्व में अनार्यजनों के जनपद और राज्य थे। दक्षिणारण्य में बहिष्कृतों, आर्यों तथा समागत अनार्यों की नई जातियां बस रही थीं। इस प्रकार जिस समय राक्षसेन्द्र रावण अपना नवीन सार्वभौम धर्मराज्य स्थापित करने का उद्योग कर रहा था, अयोध्या की मुख्य गद्दी पर दशरथ राज्य कर रहे थे। दशरथ योद्धा और प्रतापी राजा थे। उनकी तीन महिषी थीं। प्रथम—दक्षिण कौशलाधिपति भानुमान् की पुत्री

कौशल्या। दूसरी—मगधराजकुमारी सुमित्रा। तीसरी—उत्तरी पश्चिम आनव नरेश कैकय की पुत्री कैकयी। दशरथ ने सिन्धु, सौवीर, सौराष्ट्र, मत्स्य, काशी, दक्षिण कोशल, मगध, अंग, वंग, कलिंग और द्रविड़-नरेशों को जीता तथा दिवोदास की सहायता की थी। वैजयन्ती के कुलीतर के वंशधर तिमिध्वज शम्बर असुर को, जो रावण का साढ़ू था, मारा था। अंग-नरेश लोमपाद इनके मित्र थे। अब राम यौवराज्य पा रहे थे।

आर्यावर्त में इस काल मे सूर्यवंशी राजाओं के अतिरिक्त उत्तर कौशल की दूसरी शाखा मे हरिश्चन्द्र-रोहिताश्व, तीसरी शाखा मे सगर, दक्षिण कौशलराज्य मे सुदास, या मित्रसह कल्मापपाद विदेह मे सीरध्वज, विदेह की संकाश्य शाखा पर धर्मध्वज, वैशाली में प्रमति, शर्यात शाखा मे मधु यादव राज्य कर रहे थे। सूर्यवश की इन गद्दियो के अतिरिक्त जो समृद्ध राजवंश थे, उनमे प्रमुख चन्द्रवंश था, जिसकी मुख्य गद्दी पर प्रतिष्ठान में सार्वभौम, विदर्भ मे धृतिमन्त, उत्तर पांचालमे सौनक सुदास, दक्षिण पांचाल में रुचिराश्व, मगध मे सुधन्वा, काशी मे ऋतुध्वज, महिष्मती मे सहस्रार्जुन, मालव मे दुर्जय, तथा उत्तरी विहार में सुबाहु राज्य कर रहे थे। दुर्जय सुप्रतीक, लोमपाद, और युधाजित्त भी इसी काल के नरेश थे। इन राज्यों मे विचारनेवाले ऋषियों में वशिष्ट, विश्वामित्र, वामदेव, ऋष्यशृंग, मित्रभकाश्यप, सामकाश्व, देवाट्, मधूच्छन्दस, प्रतिदर्श, गृत्समद अलर्क, भरद्वाज प्रमुख थे।

३१

राक्षसेन्द्र-रावण

रावण ने अब अपनी अजेय सामर्थ्य और प्रबल प्रतिभा से लंका का महाराज्य सुदृढ़ किया। मय दानव की पुत्री मन्दोदरी से विवाह करके उसने एक सबल जाति को अपना सम्बन्धी बना लिया था। इसके बाद उसने दैत्यपति विरोचन की दौहित्री वज्र-ज्वाला से अपने भाई कुम्भकरण का और गन्धर्वों के राजा शैलूप की पुत्री सामा से विभीषण का विवाह किया। इससे ये दोनों प्रबल और प्रतिष्ठित कुल भी उसके सम्बन्धी बन गए। राक्षस जाति का भलीभांति संगठन कर वह रक्ष संस्कृति का प्रतिष्ठाता हो गया। इस तेजस्वी महापुरुष ने अपने को समुद्र का रक्षक घोषित कर राक्षसेन्द्र की उपाधि धारण की। और अपने बाहुबल से लंका महाराज्य की स्थापना कर ली, जिसके अन्तर्गत यवद्वीप, सुमात्रा, मलाया, कुशद्वीप और मेडागास्टर आदि सात महाद्वीप तथा अन्य अनगिनत छोटे-छोटे द्वीपसमूह भी थे। उसने अपने नाना सुमाली को अपना प्रधान सलाहकार बनाया, तथा प्रवण, प्रहस्त, महोदर, मारीचि, महापार्श्व, महादंष्ट्र, यज्ञकोष, दूषण, खर, त्रिशरा, दुर्मुख, अतिकाम, देवान्तक, अकम्पन, आदि महारथी, रणमत्त, नीतिवन्त,अनुगत उच्च वंशीय राक्षसों को अपना मन्त्री,सेनापति, नगरपाल आदि बनाया। ये सब मन्त्री और सेनापति रणनीति और राजनीति के महापण्डित थे। स्वयं रावण भी नीति और वेद का महान् पण्डित था। वह दुर्मद रावण अकेला ही अजेय योद्धा और नीतिविशारद था। अब कुम्भकरण-जैसे वीर भाई और ऐसे योग्य मन्त्री और सेनानायकों को पाकर उसका बल बहुत बढ़

गया। शीघ्र ही उसे पुत्ररत्न की उपलब्धि हुई। उसका नाम रखा मेघनाद। वह द्वितीया के चन्द्रमा-जैसा बढ़ कर सब शास्त्रों तथा शस्त्रों मे निपुण हो गया। रावण के इस पुत्र में भी पिता का शौर्य और तेज था। इसके अतिरिक्त दूसरी पत्नियों से रावण को त्रिशिरा, देवान्तक, नरान्तक, अतिकाम, महोदर, महापार्श्व आदि अनेक और पुत्र भी हुए जो महाकाल के समान दुर्जय योद्धा थे। रावण के रनवास में अनेक दैत्य, दानव, नाग और यक्ष-वंश की सुन्दरियां थीं। रावण ने मेघनाद का विवाह भी दानव की कन्या सुलोचना से किया। इस प्रकार पुत्र, परिजन, आमात्य, बान्धव और राक्षसों से सम्पन्न वह रावण परम ऐश्वर्य और सामर्थ्य का प्रतीक हो गया।

इस प्रकार स्वर्ण-लंका मे अपना महाराज्य स्थापित करके तथा सम्पूर्ण दक्षिणवर्ती द्वीपसमूहों को अधिकृत करके अब उसका ध्यान भारतवर्ष की ओर गया। लंका भारत ही के चरणों मे थी।

उन दिनों तक भारत के उत्तराखण्ड में ही आर्यों के सूर्य-मण्डल और चन्द्रमण्डल नामक दो राजसमूह थे। दोनों मण्डलों को मिलाकर आर्यावर्त कहा जाता था। उन दिनों आर्यों में यह नियम प्रचलित था कि सामाजिक शृंखला भंग करनेवालों को समाज-बहिष्कृत कर दिया जाता था। दण्डनीय जनों को जाति-बहिष्कार के अतिरिक्त प्रायश्चित्त, जेल और जुर्माने के दण्ड भी दिए जाते थे। प्रायः ही ये बहिष्कृत जन दक्षिणारण्य मे निष्कासित कर दिए जाते थे। धीरे-धीरे इन बहिष्कृतजनों की दक्षिण और वहां के द्वीपपुंजों मे दस्यु, महिष, कपि, नाग, पौण्ड्र, द्रविड़, काम्बोज, पारद, खस, पल्लव, चीन, किरात, झल्ल, मल्ल, दरद, शक आदि जातियां सगठित हो गई थीं। प्रारम्भ में केवल व्रात्य ही जाति-च्युत किए जाते थे। पर पीछे यह निष्कासन उग्र होता गया। सगर ने अपने पिता के शत्रु शक, यवन, काम्बोज, चौल,

केरल, आदि कुटुम्बों को जीतकर उनका समूल नाश करना चाहा पर वशिष्ठ के कहने से उन्हें वेद-बहिष्कृत करके दक्षिण के अरण्यों में निकाल दिया । इसी प्रकार नहुपपुत्र ययाति ने नाराज होकर अपने पुत्र तुर्वसु को सपरिवार जातिभ्रष्ट करके म्लेछों की दक्षिण दिशा में खदेड दिया था। विश्वामित्र ने भी अपनी आज्ञा का उल्लंघन करने पर अपने पचास कुटुम्बों को दक्षिणारण्य में निष्कासन दिया था, जिनके वंशधर दक्षिण में आकर आन्ध्र, पुण्ड्र, शवर, पुलिन्द आदि जातियों में परिवर्तित हो गए थे ।

इस काल में लोभी, धोखेबाज, ठग, व्यापारी वणिक को पणिक कहते थे। इसका अर्थ 'पणलोभी' है। ऐसे लोभी पणिको को भी आर्यलोग बहिष्कृत करके दक्षिण में निष्कासित करते थे। दक्षिण में आकर भी ये लोग पण्यकर्म करने लगे—माल खरीदने-बेचने का व्यापार करने लगे। आगे चलकर इनकी एक जाति 'पाण्य' ही बन गई, और जिस प्रदेश में ये बसे वह प्रदेश भी 'पाण्यन्य' के नाम से विख्यात हुआ।

ऐसे ही निष्कासित चोरों की एक शाखा दक्षिण में आकर 'चोल'जाति और प्रान्त में परिणत हो गई। पणियों ने सागवान के जहाज बनाकर समुद्र के द्वीपपुंजों में दूर-दूर तक जाकर व्यापार-विनिमय आरम्भ कर दिया। उनमें से बहुत से पणिक मध्यसागर के किनारे बस्तिया बसा कर बस गए। आगे समुद्र के उस पार जाकर इन्हीं 'पणियो' और 'चोलों' ने उन देशों को आबाद किया, जिन्हें आज हम 'फिनीशिया' और 'चाल्डिया' कह कर पुकारते हैं। इस समय कोल और द्रविड़ो से लेकर लंका, मैडागास्टर, अफ्रीका और आस्ट्रेलिया तक जितनी 'इथिओपिक' उप जातियां हैं, वे सब इन्हीं बहिष्कृत आर्यो की परपरा में हैं, तथा उन सबका एक ही वश और सस्कृति है। इनमें बहुत सी तो भारत ही में दक्षिण में बस गई थीं, और बहुत सी अन्य द्वीप-

समूहों तक फैल गई थीं, जिनके उत्तराधिकारी आज समस्त एशिया, अफ्रीका, अमेरिका और योरोप के देशों में मिलते हैं।

रावण के शरीर में शुद्ध आर्य और दैत्यवंश का रक्त था। उसका पिता पौलस्त्य विश्रवा आर्य ऋषि था, और माता दैत्य राजपुत्री थी। उसका पालन-पोषण आर्य विश्रवा के आश्रम में उसी के तत्वावधान में हुआ। उसकी शिक्षा-दीक्षा भी उसके पिता ने अपने अनुरूप ही दी थी। उस समय वेद का जो स्वरूप था, उसे उसने अपने बाल्यकाल में अपने पिता से पढ़ लिया था। उस काल तक वेद ही आर्यों का एकमात्र साहित्य और कर्म-वचन था जो केवल मौखिक था—लेखबद्ध न था। रावण के मातृपक्ष में दैत्य-संस्कृति थी। दैत्य और असुर, देवों तथा आर्यों के भाईबन्द ही थे। परन्तु रहन सहन, विचार-व्यवहार में दोनों में बहुत अंतर था। विशेषकर बहिष्कृत जातियां आर्यों से द्वेष और घृणा करती थीं। बहिष्कार का सबसे कटु रूप ऋषियों-पुरोहितों द्वारा संस्कार-क्रिया से उन्हें वंचित रखना, तथा यज्ञों से बहिष्कृत समझना था। यद्यपि अभी यज्ञों का भी वह विराट् रूप न बना था जो आगे बना। फिर भी यह एक ऐसी अपमानजनक बात थी जिसने इन जातियों में आर्यों के विरुद्ध दैत्यों और असुरों से भी अधिक—जो आर्यों के दायाद बान्धव थे—विद्वेष और विरोध की ज्वाला सुलगा दी थी।

रावण के मन में तीन तत्व काम कर रहे थे। उसका पिता शुद्ध आर्य और विद्वान् वैदिक ऋषि था, उसकी माता शुद्ध दैत्य-वंश की थी, उसके बन्धुबान्धव बहिष्कृत आर्यवंशी थे। उन्हें क्रियाकर्म तथा यज्ञ से च्युत कर दिया गया था। अब उसने भारत और भारतीय आर्यों को दलित करने, उनपर आधिपत्य स्थापित करने, और सब आर्य-अनार्य जातियों के समूचे नृवंश को एक ही रक्ष संस्कृति के आधीन समान भाव से दीक्षित करने का

विचार किया। तत्कालीन परम्पराओं के अनुसार उसने नृवंश के सब धार्मिक और राजनीतिक नेतृत्व अपने हाथ में लेने का संकल्प दृढ़ किया।

देवों और आर्यों का सगठन उस काल में अत्युत्तम था। उन्होंने लोकपालो, दिग्पालों की स्थापना की थी, जो देवभूमि और आर्य-देश के प्रान्त भाग की रक्षा करते थे। देवो की प्रवर जातियों में तब मरुत,वसु और आदित्य ही प्रमुख थे। चोटी के पुरुषों में इन्द्र, यम, रुद्र, वरुण, कुबेर आदि थे। यम,वरुण, कुबेर और इन्द्र चार वंशपरा से लोकपाल थे।

रावण ने देवों और आर्यों के इस सगठन को जड-मूल से उखाड़ फेंकने की योजना बनाई। उसने सांस्कृतिक और राजनैतिक दोनों ही प्रकार के विप्लवों का सूत्रपात किया। उसका मेधावी मस्तिष्क और साहसिक शरीर ही यथेष्ट था, तिस पर उसके साथी सहयोगी, सुमाली, मयप्रवण, प्रहस्त, महोदर, मारीचि, महापार्श्व, महादंष्ट्र, यज्ञकोप, खर, दूषण, त्रिशरा, अतिकाय, अकम्पन आदि महारथी सुभट और विचक्षण मन्त्री थे। कुम्भकर्ण-सा भाई और मेघनाद-सा पुत्र था। रावण की सामरिक शक्ति अब चरम सीमा तक पहुच गई थी। खूब सलाह-सूत करके और आगापीछा विचार कर उसने रामेश्वर के निकट मंदराचल की समुद्रमग्न पर्वतशृंखला के सहारे दक्षिण भारत से सबन्ध स्थापित किया। इस समय दक्षिण भारत में दो प्रधान दल थे—एक वे जो बहिष्कृत आर्य थे, दूसरे वे—जो विदेशों से आकर भारत-समुद्र के उपकूलों पर आ बसे थे। ये दल आर्य-अनार्य के नाम से पुकारे जाते थे। रावण ने दोनों को अपने साथ मिला लिया।

सबसे प्रथम उसने यम, कुबेर, वरुण और इन्द्र के चारों देवलोकों के लोकपालों को और फिर आर्यावर्त को जय करने का संकल्प किया। अब वह खूब चाक-चौबन्द होकर सुअवसर और घात लगने की ताक में बैठ गया।

३२

रावण का भारत-प्रवेश

रावण अपनी सब तैयारी कर चुका था। उसने समुद्र-मार्ग से अपने संबंध दक्षिण भारत से जोड़ लिए थे। इसके अतिरिक्त उसने सहस्रों समर्थ राक्षसों को विविध छद्म वेष धारण करके भारत के भिन्न-भिन्न प्रदेशों मे भेज दिया था, जो सब जातियों मे रावण द्वारा स्थापित राक्षस-धर्म का प्रचार करते तथा लोगों को राक्षस बनाते थे। इस प्रकार इस समय समूचे दक्षिणारण्य में ही नहीं, आर्यावर्त में भी बहुत से राक्षस घूम रहे थे। अब रावण किसी सुयोग की तलाश में था। वह उसे अकस्मात् ही मिल गया। एक दिन एक दूत रावण के भाई धनपति कुबेर का संदेश लेकर आया और उसने रावण को कुबेर का यह संदेश दिया कि—"तुम्हारा आचरण और व्यवहार तुम्हारे कुल के योग्य नहीं है। तुम दैत्यों के संग में बहुत गिर गए हो। दक्षिणारण्य में और भरत-खण्ड में तुम्हारे भेजे हुए राक्षस बहुत उत्पात मचाते हैं। वे ऋषियों को मार कर खा जाते हैं। यज्ञ में रुधिर-मांस की आहुति देते हैं और अनार्यों से मेल रखते है। तुम्हारे ये कार्य देवों और आर्यों को अप्रिय हैं। मैं तुम्हारा बड़ा भाई हूं, तो भी तुमने मेरा बड़ा अपमान किया, फिर भी मैंने अपनी लंका तुम्हें खुशी से दे दी; और तुम्हें अज्ञानी बालक समझ कर मैंने तुम्हारे अपराध सहे हैं। परन्तु अब तुम्हारे कृतपाप असह्य होते जाते हैं। इससे मैं कहता हूं कि तुम अपने आचरणों को सुधारो और अपने कुल के अनुसार कार्य करो।"

दूत के ये वचन सुनकर रावण ने कहा—"अरे दूत, तेरी बात

मैंने सुनी। न तो तू, न मेरा भाई धनाध्यक्ष कुवेर ही—जिसने तुझे यहां भेजा है—मेरे हित को समझता है। तू जो मुझे भय दिखाता है सो मुझे तेरा यह आचरण सह्य नहीं है—फिर भी तुझे दूत समझ कर सहता हू। और कुवेर धनपति मेरा भाई है इसीलिए उसे नहीं मारता। किन्तु तू उससे जाकर कह कि रावण शीघ्र ही तीनों लोकों को जीतने के लिए आ रहा है। तभी वह तेरी बात का जवाब देगा।"

दूत को विदा कर रावण ने अपनी योजना आगे बढ़ाई। सब बातों पर सोच-विचार करके उसने दण्डकारण्य का राज्य अपनी बहिन सूर्पनखा को दिया, और अपनी मौसी के बेटे खर और सेना-नायक दूषण को चौदह हजार सुभट राक्षस देकर उसके साथ भेज दिया। इस प्रकार जनस्थान और दण्डकारण्य मे राक्षसो का एक प्रकार से अच्छी तरह प्रवेश हो गया, तथा भारत का दक्षिण तट भी उसके लिए सुरक्षित हो गया।

बहुत दिन से लका में ताड़का नाम की एक यक्षिणी रहती थी। यह यक्षिणी जम्भ के पुत्र सुन्द यक्ष की स्त्री थी। एक पुत्र प्रसव होने के बाद, एक युद्ध में अगस्त ऋषि ने सुन्द यक्ष को मार डाला था। अगस्त के साथ शत्रुता होने के कारण ताड़का ऋषियों से घृणा करती थी। उसने यक्षपति कुवेर से कहा था कि वह उसके पति के वैर का बदला अगस्त से ले, परन्तु कुवेर अगस्त का मित्र था। इससे उसने उसकी बात पर कान नहीं दिया। जब रावण ने नई रक्ष सस्कृति की स्थापना की, और कुवेर को लंका से खदेड़ दिया, तो यह यक्षिणी लका से नहीं गई—उसने अपने पुत्र मारीच सहित उसका राक्षस-धर्म स्वीकार कर लिया। मारीच को साहसी तरुण देख रावण ने उसे प्रथम अपने सेनानायकों में और फिर मन्त्रियों मे स्थान दे दिया। अब जब रावण का अभिप्राय ताड़का ने सुना तो उसने रावण के निकट जाकर कहा—"हे रक्षराज, आप

अनुमति दें तो मैं भी आपकी योजना-पूर्ति में सहायता करूं। आप मेरी बात ध्यानपूर्वक सुनिए। मेरा पिता सुकेतु यक्ष महाप्रतापी था। भरतखण्ड में—नैमिषारण्य मे उसका राज्य था। उसने मुझे सब शस्त्र-शास्त्रो की पुरुषोचित शिक्षा दी थी। और मेरा विवाह धर्मात्मा जम्भ के पुत्र सुन्द से कर दिया था, जिसे उस पाखण्डी ऋषि अगस्त ने मार डाला। अब उस वैर को हृदय में रख मैं अपने पुत्र को ले जी रही हूँ। जो सत्य ही आप आर्यावर्त पर अभियान करना चाहते हैं, तो मुझे और मेरे पुत्र मारीच को कुछ राक्षस सुभट देकर नैमिषारण्य में भेज दीजिए, जिससे समय आने पर हम आपकी सेवा कर सकें। वहां हमारे इष्टमित्र, सम्बन्धी-सहायक बहुत हैं, जो सभी राक्षस-धर्म को स्वीकार कर लेंगे।" ताड़का की यह बात रावण ने मान ली, और उसे राक्षस भटों का एक अच्छा दल देकर, तथा उसी के पुत्र मारीच को उसका सेनानायक बनाकर, तथा सुबाहु राक्षस को उसका साथी बनाकर नैमिषारण्य मे भेज दिया। आजकल बिहार प्रान्त मे जो शाहाबाद जिला है, वही उस काल मे नैमिषारण्य कहाता था। इस प्रकार भारत में रावण के दो सैनिक-सन्निवेश स्थापित हो गए। एक दण्डकारण्य में—जहां आज नासिक का सुन्दर नगर है—दूसरा नैमिषारण्य में—जहां आज शाहाबाद शहर बसा हुआ है; सोन और गंगा-संगम के निकट।

दण्डकारण्य

रणशास्त्र और नीतिशास्त्र का महापण्डित रावण जब दण्डकारण्य और नैमिपारण्य में अपने सबल सैनिक-सन्निवेश स्थापित कर चुका और समूचे भरतखण्ड और आर्यावर्त एव देवभूमि में अपने राक्षसों के जाल फैला चुका, तो वह अपने नाना सुमाली को लंका का प्रबन्ध सौंप एकाकी ही अपना परशु हाथ में ले चुपचाप छद्म वेश धारण कर भरतखण्ड में प्रविष्ट हुआ।

प्रथम उसने दण्डकारण्य में घूमना आरम्भ किया। इस महावन का नाम महाकान्तार भी था। यह अति दुर्गम बन था इसका प्राकृत सौंदर्य भी अपूर्व था। बन में बड़े-बड़े पर्वत-शृंग झरने, झील और नदी-नाले थे। दक्षिणारण्य में अभी तक दण्ड कारण्य ही ऐसा स्थान था, जहां बहुत विरल बस्ती थी, तथा जहा राक्षसों का प्राबल्य था। यहीं, रावण की बहिन सूर्पनखा—खर दूषण तथा चौदह सहस्र राक्षस सुभटों के साथ रहती थी इसके अतिरिक्त यहां कुछ और भी विकट राक्षस थे। जिनमें एक प्रबल पराक्रम तुम्बुरु गन्धर्व था, जिसे कुवेर ने क्रुद्ध होकर लंका से निकाल दिया था और अब वह यहां दण्डकारण्य में विराध नाम धारण कर विकट राक्षस की भांति रहता था। यह बड़ा ह धूर्त, नरभक्षी और साहसी तथा दुराचारी राक्षस था। रावण और सूर्पनखा की आन में वह निर्भय विचरण करता हुआ, ऋषिय को तग करता तथा अवसर पाकर उन्हें मार भी डालता था। ऐसे ही और भी अनेक राक्षस थे। इनके अतिरिक्त इस वन में बाघ सिंह, शूकर, भैंसा, गेंडा आदि हिंस्र जन्तुओं की भी कमी न थी

फिर भी यहां कुछ ऋषिगण अपने आर्य-उपनिवेश स्थापित किए हुए थे, जिनमें प्रमुख शरभंग और सुतीक्ष्ण ऋषि थे। सुतीक्ष्ण ऋषि का उपनिवेश मन्दाकिनी नदी तट पर एक मनोरम स्थल पर था। यह उपनिवेश बहिष्कृत आर्यों का सबसे बड़ा आश्रयस्थल था। यह उपनिवेश अत्यन्त रमणीय था। यहां सुगन्धित पुष्पों और फलों के लताद्रुम बहुत थे। शीतल-स्वच्छ जल के जलाशय थे। दण्डकारण्य के भीतर ही एक उपनिवेश माण्डकर्णि का भी था। माण्डकर्णि राजसी प्रकृति के ऋषि थे। अतः इनके उपनिवेश में सुन्दरी अप्सराएँ नृत्यगान करतीं, और ऋषि उनके साथ स्वच्छन्द विहार करते थे। परन्तु इस दुर्गम अंचल में सबसे अधिक महिमावान अगस्त का उपनिवेश था। महर्षि अगस्त बड़े प्रतापी ऋषि थे। अगस्त के आश्रम के पास ही उनके भाई का भी उपनिवेश था। वहां के सभी जन उनकी अगस्त के समान ही प्रतिष्ठा करते थे। यों तो ये सभी ऋषि राक्षसों से लड़ते-झगड़ते रहते थे, पर अगस्त ने वीरतापूर्वक अनेक राक्षसों का वध कर डाला था, जिनमें वातापि और इल्वल प्रमुख थे। इससे अगस्त का आतंक राक्षसों पर भी था।

आजकल जहाँ नासिक है उसी के इधर-उधर पंचवटी के निकट ही अगस्त का उपनिवेश था। पचवटी में ही विनता के पुत्र श्येनवशी गरुड़ के भाई अरुण के पुत्र जटायु का उपनिवेश था जो गोदावरी के तट पर एक मनोरम स्थान पर भी था, यह स्थान प्राकृतिक सौन्दर्य से ओतप्रोत था। वहां अनेक पर्वतीय गुफाएँ थीं। इन गुफाओं में अनेक ताल, तमाल, खजूर, कटहल, आम, अशोक, तिलक, केवड़ा, चम्पा, चन्दन, कदम्ब, लकुच, धर्व, अश्वकर्ण, खैर, शमी, पलाश और बकुल के सघन वन थे। हंस, सारस और जल-कुक्कुटों का वहां कलरव परिपूर्ण रहता था।

रावण ने भी अपनी बहिन सूर्पनखा के नेतृत्व में दण्डकारण्य

में एक उपनिवेश ही स्थापित किया था। यद्यपि वास्तव में वह था सैनिक-सन्निवेश। ये राक्षस केवल अपनी संस्कृति का प्रचार बलात् करते और वहां के लोगों को राक्षस बनाने की चेष्टा करते थे। रावण की आज्ञा युद्ध करने की न थी। इसी कारण यद्यपि यहां खर-दूषण चौदह हजार राक्षसों के साथ रहते थे, परन्तु वह लोग लड़ते-भिड़ते न थे। केवल ऋषियों के यज्ञों में आकर बलि मांस बलात् डालते, उन्हें पकड़ ले जाते, उनकी बलि देते तथा नरमांस खाते थे।

रावण दण्डकारण्य की सुषमा पर मोहित हो गया। इस समय शरद ऋतु बीत गई थी और हेमन्त आ गई थी। परम रमणीय गोदावरी के निर्मल जल में रावण स्वच्छन्द विहार करता और वहां की स्वस्थ वायु में स्फूर्तिलाभ करता था। इस समय वहां वन-उपवनों की शोभा भी निराली हो रही थी। सूर्य दक्षिणायन थे। यह काल हिमालय की ओर बढ़ने योग्य न था। वहां की वायु समशीतोष्ण थी। हेमन्त में रात्रि अधिक अन्धकारयुक्त हो जाती है। रात्रि का समय भी दिन से बढ़ गया था। चन्द्रमा का सौभाग्य भगवान् भास्कर ने हरण कर लिया था। कोहरे तथा पाले के कारण पूर्णिमा की रात्रि भी मलिन-धूमिल सी प्रतीत होती थी। वन-प्रदेश की शस्य-श्यामला भूमि सूर्य के उदय होते ही सुहावनी प्रतीत होने लगती थी। इस समय सूर्य आकाश पर चढ़ जाने पर भी चन्द्रमा के समान प्रिय लगता था। मध्याह्न का सूर्य भी प्राणियों को प्रिय होता था। जल इतना शीतल हो गया था कि गजराज प्यास लगने पर जब अपनी सूंड जल में डुबाते थे; तब तुरन्त ही बाहर निकाल लेते थे। जल के पक्षी जल के समीप बैठे हुए भी उसमें चोंच डालने का साहस नहीं कर सकते थे। शीत के कारण वन में फल-मूल की कमी हो गई थी। नदियां

कुहरे के कारण ढकी सी दीख पड़ती थीं। सरोवरों में कमल-वन श्रीहत हो गए थे।

रावण इन सब प्राकृत दृश्यों का आनन्द लेता तथा छद्म वेष में ऋषियों के उपनिवेशों में आता-जाता, मतलब की बातें खोज-खबर लेता रहता था। इसी प्रकार उसने दण्डकारण्य में रहते हुए आर्यावर्त और भरतखण्ड के राज्यों का बहुत सा ज्ञान-सम्पादन कर लिया था।

●

३४

असुरों का देश

इस काल में भरत-खण्ड में असुरों के भी अनेक राज्य थे। परन्तु मूलत असीरिया ही असुर-भूमि थी। यह स्थान भूमध्य सागर के पूर्वी भाग में स्थित है। आजकल यह देश फारस और थोड़ा शामदेश की सीमाओं के अन्तर्गत है। इसका यह नाम शेम के पुत्र असुर के नाम पर हुआ। इतिहासकार सैलिन का मत है कि असीरियन साम्राज्य की स्थापना ईसा से कोई ढाई हजार वर्ष पूर्व हुई है। यह असुर-साम्राज्य ससार की ऐतिहासिक सीमा में आए हुए तीन प्राचीनतम साम्राज्यों में एक था। इसकी आरम्भिक राजधानी 'असुर' नगर था, जो असुर ने अपने नाम पर बसाया था। समय-समय पर इसकी भौगोलिक सीमा घटती गई। जब यह साम्राज्य उन्नति के शिखर पर था, उस समय इसका विस्तार भूमध्य सागर के दक्षिण से लेकर पूर्व में मनाई पर्वत तक था। मूल असीरिया की सीमा वर्त्तमान कुर्दिस्तान से मिलती-जुलती थी। उस समय यह उत्तर में जाग्रीस पर्वत तथा पच्छिम में दजला नदी तक को स्पर्श करता था। इस असुर-भूमि में पार्वत्य देश, समथल मैदान और चासोपयोगी भूमि भी देखने को मिलती थी। यहीं पर सिमरा नामक पर्वत से रात में प्रकाश निकलता दीख पड़ता है, जो वर्षाकाल में बढ़ जाता है। होमर ने अपने काव्य में इस देश को ऐसे राक्षस का रूपक देखकर वर्णन किया है जिसका सिर सिंह का, धड़ बकरे का, और पूंछ सांप की हो।

यहां के पर्वत अनेक खनिज पदार्थों से भरे पड़े हैं। और मैदान

चूना और बालू से। सेव, अंजीर, वड, वैर और ताल के वृक्ष पाए जाते हैं। घासोपयोगी भूमि में फसलें उपजती हैं। घने जंगल भी पहले थे। जलवायु इस देश की भिन्न प्रकार की है। पहाड़ी हवा शीतकाल में ठंडी रहती है। बर्फ भी गिरता है, पर गर्मियों में पहाड़ तप जाते हैं। कहीं मौसम मध्यम रहता है। फरात, दजला और जैब यहां की प्रधान नदियां हैं। इसकी दोनों प्राचीन राजधानियां—निनवे और वैबिलोन क्रमशः दजला और फरात नदी पर बनी थीं। फरात नदी तो वैबिलोन के बीच में होकर गई थी।

कहा जाता है कि पहिले यहां अकाद नाम की कोई पहाड़ी जाति बसती थी, पीछे उत्तर से सेमेटिक लोगों का आगमन हुआ। कुछ काल बाद ये दोनों जातियां परस्पर आचार-विचार में मिल गईं। इन्हीं दोनों जातियों के मिश्रण से असुर जाति और आसुरी भाषा का निर्माण हुआ। असुरों ही की एक शाखा सीरिया में जा बसी, जो फोनिशियन के नाम से प्रख्यात हुई। फोनिशियन बड़े नाविक, वणिक व शिल्पकार थे। कुर्दिस्तान का प्राचीन नाम निमरी है। यह स्थान आरमीनिया के नीचे कुरु प्रदेश—पौराणिक उत्तर कुरु है। जिसे आजकल निमरुद कहते हैं उसे उस काल में कजेरवी कहते थे। निमरुद से हटकर असुर निमरी में बस गए। आगे यही प्रदेश असीरिया—असुरों का देश प्रसिद्ध हुआ। यहां के निवासियों की जाति पाश्चात्य इतिहासवेत्ता "असी" बताते हैं। यह 'असी' असुर का ही लघु रूप है। सूर्य के श्वसुर विश्वकर्मा—त्वष्टा यहीं के महिदेव थे। ईसा से कोई सत्ताईस सौ वर्ष पूर्व असुर स्वतन्त्र राजा हो गए थे। असुर रानी शशि और आदित्यों में ईसा से पन्द्रह सौ वर्ष पूर्व एक संधि हुई और ईसा से तेरह सौ वर्ष पूर्व असुरों ने वेबिलोनिया को देवों से छीन लिया, परन्तु फिर हारकर वे देवों की प्रजा बन गए।

ईसा से पूर्व ग्यारहवीं शताब्दी में असीरिया फिर स्वतन्त्र हो गई। मितानि-हित्तैति, ईलाम, वैविलोनिया और मिश्र देशों को असुर नरेश सरगन व उसके उत्ताधिकारियों ने ईसा पूर्व ७२२ में छीन लिया। फिर असुर वेणीपाल ने ई० पू० ६४८ में वैविलोनिया तथा ६४५ में सुषा इदावोगश इन्द्रदेव से छीन कर देवों के राज्य इन्द्रासन का सदा के लिए अन्त कर दिया। इसके वाद सम्भवत. ये आदित्य भारत मे मुलतान होकर आए। उन्होंने सिन्ध के तट पर मूलस्थान नगर बसाया जो आगे चल कर मुलतान के नाम से प्रसिद्ध हुआ। यहां जगद्विख्यात सूर्य का मन्दिर महमूद गजनवी के अंतिम आक्रमण तक स्थापित था, तथा तब भी उसकी वैसी ही ख्याति थी।

इस प्रकार ई० पू० २४०० से ३४५ ई० पू० तक सुषा प्रदेश सुरो का सुरपुर बना रहा—पीछे वह असुरों का प्रदेश बना। सभवतः सुरों का विरोधी होने ही से इन्हें असुर कहा गया है। प्राचीन इतिहासकार डियोडोरस, स्त्रीहमी, टालोमी, टाड, कनिंगहम और चीनी विद्वान प्राचीन ईरान के लोगों की दो जातियां बताते हैं—एक सुर और दूसरी असुर। पर वे यह नहीं वता सके कि वे कौन थे। वास्तव में ये दोनों जातियां सुर और असुर ही थीं।

ये असुर ही सेमेटिक सभ्यता के जनक हैं, जिस प्रकार सुमेरु सभ्यता के जन्मदाता आदित्य देव हैं। असुर-सम्राट नम्रूद ने राज्य-शक्ति प्राप्त कर दजला के किनारे निनवे को अपनी राजधानी बनाया। पहिले असीरिया का राज्य वैविलोनिया साम्राज्य के अन्तर्गत था। पीछे स्वतन्त्र हो गया। वैविलोनिया का राजा धर्माध्यक्ष के आधीन होता था, परन्तु यहां का राजा स्वय धर्माध्यक्ष बन गया और वही राज्य में सर्वेसर्वा हो गया। धीरे-धीरे असुरों का वल बढ़ता गया और वैविलोनिया की शक्ति का ह्रास

होता गया। प्रथम तिगथल पिलेसर ने साम्राज्य-विस्तार का कार्य प्रारम्भ किया। उसने कई स्थान असीरिया मे मिला लिए। पीछे मिस्र को भी जय किया। द्वितीय असुर नासिरपाल की विजयिनी सेनाओ ने चारों ओर आतंक जमा दिया। यह एक निर्दयी राजा था जिसने नगर, देश जलाकर छार कर डाले। लोगो को तलवार के घाट उतार दिया। परन्तु द्वितीय शालमनसेट के काल में असुरो की सेना लूटमार छोड़ कर देशों को विजय करने में जुट गई। फलत. असुर-राज्य साम्राज्य मे परिवर्तित हो गया। कला-कौशल को भी प्रश्रय दिया गया। अनेक राजाओं ने आधीनता स्वीकार कर ली। फिलस्तीन का युद्धस्थल अधिकृत होने के बाद तो पच्छिमी एशिया मे यह साम्राज्य सर्वप्रथम हो गया।

ईसा से पूर्व आठवीं शताब्दी मे यह साम्राज्य ढीला हुआ। सेना ने और करद राज्यो ने विद्रोह कर दिया। धीरे-धीरे पुराने राज्य वंशलुप्त हो गए और पुलु नामक एक सैनिक ने सिंहासन हस्तगत कर लिया। इसने इसके विद्रोही राज्यो को दबा कर असीरिया का साम्राज्य फिर दृढ़ किया। इसके वंश मे अनेक राजा हुए और उनके काल मे बहुत उलटफेर होते रहे। अन्त मे ई० पू० ६३७ मे इस साम्राज्य ने मिस्र को जय किया और साम्राज्य को बारह प्रदेशो मे बांट कर प्रत्येक पर एक-एक शासक स्थापित कर दिया। सेमाचेरिब ने प्राचीन नगर बेबिलोन को विध्वस कर दिया। उसके उत्तराधिकारी इशारदन के राज्यकाल मे साम्राज्य की दो राजधानियां हो गईं। पीछे इसके मरने पर साम्राज्य दो टुकड़ो मे बँट गया। एक भाग का स्वामी असुर बेनीपाल हुआ। यह बड़ा विद्याव्यसनी था। इसने बड़ा पुस्तकालय संचित किया। कुछ दिन बाद इसका भाई विद्रोही हो गया और राजभवन मे जल मरा। मिस्र भी हाथ से चला गया। अंत मे ईसा से कोई छै सौ वर्ष पूर्व निनवे पर सब ने मिलकर चढ़ाई की। राजा हारा

और उसका राजमहल मटियामेट कर दिया गया। इस प्रकार सात सौ वर्षों तक अखण्ड रह कर इस असुर-साम्राज्य का ऐसा पतन हुआ कि इसका नामोनिशान ससार से उठ गया।



३५

वैजयन्ती-पुरी

दण्डकारण्य के दक्षिण भाग के पास एक वैजयन्तपुर था। जहां का स्वामी असुरों का एकाधिपति कुलीतरवंशी तिमिध्वज शम्बर था। जो सौ दुर्गों का स्वामी था। शम्बर की राजमहिषी दितिपुत्र मय दैत्य की पुत्री तथा रावण की महिषी—मन्दोदरी की सगी बड़ी बहिन थी। उसका नाम माया था। माया अपूर्व रूपसुन्दरी थी। उसका रंग तपाए हुए सोने के समान कांतिवान् था, और उसके अंग-प्रत्यंग इतने सुडौल थे कि देखकर उसके रचयिता को धन्य कहना पड़ता था। शंबर जैसा प्रतापी और सम्पन्न असुरराज था, वैसा ही शालीन वीर और महिमावान् भी था। रावण विचरण करता हुआ अकस्मात् ही शम्बर की राजसभा में जा पहुंचा। ज्वलन्त अग्नि-शिखा के समान तेजस्वी एक तरुण को बहुमूल्य मणियों के भुजबन्द और महार्घ मरकत मणि का कटिबन्ध पहिने, विशाल बाहु, प्रशस्त वक्ष, उन्नत ललाट, उत्फुल्ल नयन और कृष्णकाकपक्ष पर मणिमुकुट पहिने, कन्धों पर दुर्धर्ष परशु रखे, लापरवाही से नगर के राजपथ पर अग्रसर होते देखा तो बहुत जन कौतूहल से उसके पीछे हो लिए। रावण चारों ओर नगर की सुषमा निहारता हुआ, गवाक्षों से झांकती हुई पुर-वधुओं पर कटाक्ष फेंकता हुआ, असुर बालकों, याचकों और कन्याओं को स्वर्ण देता हुआ, हंसता-मुस्कराता, हंस की चाल से चलता—राजपथ पर राज-महालय की ओर चला जा रहा था। असुर नागर आश्चर्यचकित हो इस तेजस्वी आगन्तुक

एकाकी परदेशी को देख रहे थे। किसी का भी साहस उससे परिचय पूछने का न होता था।

राजद्वार तक पहुचते-पहुँचते बहुत भारी भीड उसके साथ लग गई। राजद्वार पर द्वार-पुरुष ने पूछा—"महाभाग, आप कौन हैं, और किस अभिप्राय से आप राजद्वार पर पधारे हैं ? आपने अपने जन्म से किस कुल को धन्य किया है ? आज्ञा कीजिए तो मैं स्वामी से निवेदन करू।"

द्वार-पुरुष का ऐसा विनय देख रावण प्रसन्न हो गया। उसने अपने कण्ठ से बड़े-बडे मोतियो की माला उतार उसके कण्ठ में डाल दी और हस कर कहा—"तेरे विनय से संतुष्ट हूँ। तू अपने स्वामी से जाकर कह कि द्वार पर एक अतिथि आया है, राजदर्शन का इच्छुक है। अपना शेप परिचय मैं तेरे स्वामी ही को दूंगा।"

ऐसा बहुमूल्य उपहार पाकर, और रावण के गरिमामय वचन सुनकर द्वारपुरुष ने झुककर रावण का अभिवादन किया और कहा—"जैसी आपकी आज्ञा, मैं अभी स्वामी से जाकर निवेदन करता हू। तब तक महानुभाव इस आसन पर विराजमान हों।" यह कहकर द्वारपुरुप शम्बर की सभा में गया। जाकर उसने करबद्ध प्रार्थना की—"महीपाल, एक महिमावान् तेजस्वी अतिथि राजद्वार पर उपस्थित है। वह राजदर्शन की प्रतिष्ठा प्राप्त किया चाहता है। मुझ दास को उसने यह मुक्तामाल प्रसन्न होकर प्रदान की है। अपना परिचय वह स्वय देना चाहता है। आगे देव प्रमाण।"

द्वारपुरुष का यह वचन सुनकर और मोतियों की वह बहुमूल्य माल देख, असुरराज ने आश्चर्य किया। फिर अपने मन्त्रियो की ओर देखकर उसने कहा—"ऐसी मुक्तामाल द्वार-पुरुष को देने वाला पुरुष अवश्य ही कोई महिमावान् है। तुम स्वय उसकी अभ्यर्थना कर उसे मेरे पास ले जाओ।"

मन्त्रिगण अर्घपाद्य ले द्वार पर आए। रावण का अर्घपाद्य से सम्मान किया, और कहा—"महाभाग, अब आप चलकर हमारे असुरपति से भेंट कीजिए।"

हंसते-हंसते शम्बर के सन्मुख जाकर रावण ने कहा—"असुर-राज शम्बर की जय हो! मैं पौलस्त्य विश्रवा मुनि का पुत्र रावण, लंकापति, राजमहिषी मायादेवी का बहनोई, आपका साढ़ू, आपके दर्शनार्थ आया हूं। आप मेरे ज्येष्ठ हैं। मैं आपका अभिवादन करता हूँ।" रावण के ऐसे वचन सुन कर शम्बर दोनों हाथ फैलाकर आसन से उठकर रावण की ओर दौड़ा। उसने अंक में भर कर रावण को बारंबार आलिंगन करके कहा—"आज मैं धन्य हुआ, प्रतिष्ठित हुआ, पौलस्त्य रावण, तुम पूजार्ह हो। अभ्यर्थना करता हूं। इस असुरपुरी में तुम्हारा स्वागत है। भाई, यह तुम्हारी ही पुरी है। तुम अपने ही घर आए हो।"

आनन्दातिरेक से शम्बर के नेत्रों से जलधार बह चली। उसने अपने मंत्रियों को आज्ञा दी कि नगर में उत्सव मनाया जाय, सब कोई आज दीपावली करें। यह हमारा प्रिय सम्बन्धी पौलस्त्य रावण प्रजापति के वंश का है—सुपूजित है, सुप्रतिष्ठित है। इसके आने से मेरा कुल धन्य हुआ—मेरा यह नगर पवित्र हुआ। फिर उसने रावण को अपने पास आसन पर बैठाकर हंसते हुए कहा—"किन्तु यह क्या? लंकाधीश एकाकी, बिना ही परिच्छद?"

रावण ने भी हंसते-हंसते कहा—"घर में आने के लिए परिच्छद की क्या बात, आपके दर्शनों का चाव खींच लाया। देवी मन्दोदरी भी अपनी प्राणाधिका बहिन को बहुत याद करती हैं, मैंने सोचा—पूज्या हैं वह, श्लाघ्या हैं वह, चलकर पद-वन्दना कर आऊं।"

शम्बर ने कहा—"तो चलो बन्धु, अन्तःपुर में देवी तुम्हें देख कर प्रसन्न होंगी।" उसने चेटिका की ओर देखकर कहा—"अरी

जा, देवी से निवेदन कर, हमारा बन्धु लकाधिपति पौलस्त्य रावण आया है। और अब हम अवरोध मे आ रहे हैं।"

चेटिका मस्तक अवनत कर, 'जो आज्ञा' कह चली गई। और असुरराज शम्बर रावण के कन्धो पर हाथ रखकर धीरे-धीरे बातें करते हुए अन्त:पुर में प्रविष्ट हुए।



३६

मायावती

अपराह्न की मनोरम वेला मे मायावती अन्त पुर की मदन-वाटिका के माधवी-मण्डप मे अकेली ही कुछ विचारमग्न-सी बैठी थी। आयु उसकी अभी अट्ठाईस ही वर्ष की थी, परन्तु अपनी आयु से वह बहुत कम दीख पड़ती थी। उसका रंग तप्त कांचन के समान देदीप्यमान था ही, उसकी भाव-भगिमा भी बड़ी मोहक थी। उसका शरीर उठानदार था, कद कुछ लम्बा था। ऐसा प्रतीत होता था जैसे अंग से रक्त फूट कर बाहर निकलना चाहता है। लावण्य और स्वास्थ्य की कोमलता का उसके शरीर मे कुछ ऐसा सामजस्य था कि किसी भी तरह सुषमा का वर्णन नहीं किया जा सकता। उसके नेत्र काले और बड़े थे। कोये दूध जैसे सफेद थे। दृष्टि मे कुछ ऐसी मादक भाव-भगिमा थी कि जिससे उसके आग्रही और अनुरागपूर्ण भावना का प्रकटीकरण होता था। केश उसके भौंरे के समान, दो भाग मे बँटे थे। उनमे बड़ी कारीगरी से मोती गूथे गए थे। ध्यान से देखने पर उसकी बांकी भौंहें कुछ घनी प्रतीत होती थीं। कान छोटे, पतले और कोमल थे। शंख के समान कण्ठ, भरावदार उन्नत उरोज और देह छरहरी थी। उसके देह की सुडौलता देखे ही बनती थी। वह ग्रीष्मकालीन बहुत ही महीन कौशेय शरीर पर धारण किए हुए थी, जिसमे से छन-छन कर उसके शरीर की लावण्य-छटा दुगनी-चौगुनी दीख पड़ रही थी। उसके छोटे-छोटे सुन्दर पैरों मे पड़े सुनहरी उपानतो के लाल माणिक्य नेत्रों मे चकाचौंध उत्पन्न कर रहे थे।

शम्बर एक प्रतापी पुरुष अवश्य था, पर उसकी अवस्था पचास वर्ष से अधिक थी। वह राजकीय आवश्यकता और युद्धों से घिरा रहता था। यद्यपि वह प्रेमी, भावुक और स्वच्छ हृदय का पुरुष था, परन्तु सच्चे अर्थों मे मायावती की माग का वह पूरक न था। वह एक अच्छा पति था, पर मायावती की उद्दाम वासना पति के स्थान पर प्रेमी चाहती थी। इतने बड़े राज्य का अधिपति पचास वर्ष की ढलती आयु में प्रेमी नहीं हो सकता था। मायावती को कोई सतान भी नहीं हुई थी, इससे भी उसकी वह पिपासा भड़की हुई थी। फिर भी मायावती के चरित्र में कोई दोष न था। उसकी मानसिक भूख मन ही तक मे थी। अपनी मर्यादा, चरित्र तथा दायित्व का उसे पूरा ज्ञान था।

रावण की अवस्था अभी लगभग मायावती के बराबर ही थी। कहना चाहिए—एकाध वर्ष कम ही थी। रावण निर्द्वन्द, हसमुख, विनोदी, वीर और साहसी था। उल्लास और आकांक्षाओं से उसके रक्त की प्रत्येक बू द भरपूर थी। माया को देखते ही रावण के नेत्रों में मद छा गया। माया उसकी साली—पत्नी की बडी बहिन थी, अत माया से वह न केवल खुलकर हास्य-विनोद ही करता, व्यग-विनोद भी करने लगा। रावण के स्वभाव, विनय, स्वास्थ्य, सौन्दर्य और पौरुष—इन सबपर मायावती विमोहित हो गई। एक अज्ञात आकर्षण रावण के प्रति उसके मन में उत्पन्न हो गया। वह रावण को चाहने भी लगी और प्यार भी करने लगी।

माधवी-मण्डप में अकेली वह असुर-सम्राज्ञी रावण ही के विचार में कुछ अनमनी-सी बैठी थी। उसका मन परस्पर विरोधी भावों से आन्दोलित हो रहा था। उसके आग्रही स्वभाव और दुर्दमनीय इन्द्रिय-लालसा का नारी-धर्मनीति से द्वन्द चल रहा था। उसका प्रेमी रमणी-हृदय परस्पर विरोधी आवेग से अधीर

हो रहा था। एकाध वार रावण से उसकी कुछ एकान्त-वार्ता हुई थी। असुरराज शम्वर ने उसका आत्मीय की भांति अपने घर में स्वागत किया था और सम्राज्ञी को अपने वहनोई का सव भांति सत्कार कर उसे संतुष्ट रखने का वारंवार अनुरोध किया था। उस समय असुरराज पर देवों और आर्यों का एक अभियान होने वाला था। उसके लिए समूची असुरपुरी वैजयन्ती में भारी तैयारियां हो रही थीं। दूर-दूर के असुर भट सन्नद्ध होकर रणरंग मचाने वैजयन्ती में आ रहे थे। असुर-सम्राट् इस वार शत्रु से कठिन मोर्चा लेने की भीषण तैयारियों में लगे थे। उसका प्रवल शत्रु देवमित्र पांचाल-नरेश दिवोदास था। यह एक निर्णायक युद्ध का सूत्रपात था, इसी से असुरराज इस युद्ध की ओर से वेखवर नहीं था। इसी से उसने अपने साढू लंकापति रावण के आतिथ्य का भार अपनी पत्नी मायावती पर डाल दिया था। शम्वर मायावती को अत्यन्त प्रेम करता था। उन दिनों असुर, दैत्य और दानवों की अपेक्षा, संस्कृति में आर्यों से अधिक साम्य रखते थे। वे अपने को आर्यों ही की शाखा में मानते थे। इसी से विवाह-मर्यादा इनमें आर्यों ही के समान थी। मायावती भी आर्य-ललना की भांति स्त्री-नीति तथा स्त्री-धर्म को समझती थी, यद्यपि आर्य-ललना से वह अपने अवरोध में भी स्वतन्त्र थी—वन्धनमुक्त थी। उन दिनों असुर-महिलाएँ आर्य-पत्नियों से अधिक स्वाधीनता तथा समानता का उपभोग करती थीं।

मायावती जैसी आग्रही स्वभाव की थी, वैसी ही मानवती भी थी। जव वह अपनी गर्वीली चाल से हंसिनी अथवा हथिनी की भांति चलती थी तव उसकी शोभा देखते ही वनती थी। इस समय अपने मन की चंचलता को छिपाने के लिए उसने अपनी सभी दासी—चेटियों को अलग कर दिया था। केवल एक दानवी किंकरी नंगी तलवार लिए लतागृह के द्वार पर पहरा दे रही थी। अपराह्

की सुनहरी धूप छन-छन कर लता-मण्डप में आ रही थी। इसी समय रावण भी उपवन में घूमता हुआ वहीं आ पहुँचा। किंकरी को नंगी तलवार लिए मण्डप के द्वार पर खड़ी देख उसने अनुमान किया कि अवश्य ही मायावती मण्डप मे है। वह तेजी से कदम बढ़ा कर उसी ओर चला। किंकरी को देख कर उसने हंसकर कहा—"लता-मण्डप में यदि स्वामिनी हैं तो उनकी सेवा में रावण का अभिवादन निवेदन कर दे।"

किंकरी ने जब मायावती को रावण की विज्ञप्ति की तो उसकी बड़ी-बड़ी चमकीली आंखों में एक मद आ गया। उत्तेजना के मारे उसके उरोज उन्नत-अवनत होने लगे। वह ससम्भ्रम उठ खड़ी हुई। किंकरी पीछे हट चली गई। इसी समय रावण ने हंसते-हंसते मण्डप में प्रवेश करते हुए कहा—"देवी प्रसन्न हो, इस मंगलमयी सान्ध्य वेला में वनश्री की शोभा को आपने अपनी उपस्थिति से कैसा सजीव कर दिया है। ऐसा प्रतीत होता है कि इस माधवी-लता से आवेष्ठित मण्डप में छन-छन कर जो अस्तंगत मरीचिमाली की स्वर्णिम रश्मिराजि एकत्र हो गई हैं, उन्हें किसी जादूगर ने जैसे एकत्र कर एक मूर्त्तरूप दे दिया है।"

"ओह, लंकेश्वर केवल वीर-शिरोमणि ही नहीं हैं—चाटुकार भी वैसे ही हैं। इसी गुण ने शायद मन्दोदरी को मोह लिया है, कि कभी वह अपने आत्मीयों को याद भी नहीं करती।"

"परन्तु आपकी आनन्द और श्रद्धा की मूर्ति तो उसी ने मेरे हृदय में अंकुरित की है। तभी तो आपके चरणों में श्रद्धांजलि अर्पण करने इतनी दूर आया हू।"

"जाइए, बातें न बनाइए। श्रद्धांजलि उन्हीं चरणों में अर्पित कीजिए जो नूपुरध्वनि से लंका के मणिमहालय को मुखरित करते हैं। अपात्र में दान करने से पुण्यक्षय होता है—ऐसा नीतिकारों का वचन है।"

"आपका वचन प्रमाण है। किन्तु अभयदान मिले तो कुछ निवेदन करूं।"

मायावती हंस दी। उसने हाथ उठाकर अभिनय-सा करते हुए कहा—"अभय, लंकाधिपति, आपको अभय।"

"तो मुझे कहने दीजिए कि रावण लंकाधिपति नहीं, आपका दास है, उसे इन चरणों में श्रद्धांजलि अर्पण करने दीजिए।" हठात् रावण मायावती के सम्मुख घुटनों के बल बैठ गया।

मायावती ने भयभीत होकर इधर-उधर देखा। उसका मुंह लज्जा से लाल हो गया। उसने कहा—"उठिए, यह आप क्या कर रहे हैं?"

"आराधना कर रहा हूँ—उस देवी की, जिसकी अप्रतिम छवि मेरे रक्त के प्रत्येक बिन्दु में व्याप्त हो गई है। क्षमा करो सुन्दरी, यह रावण आपका दास है।" इतना कहकर उसने उसके दोनों हाथ अपने हाथों में लेकर होठों से लगा लिए।

हठात् रावण के इस आचरण से मायावती विचलित, विस्मित हो गई। वह भीता-चकित हरिणी की भांति कांपने लगी। उसके मुंह से बात न निकली। एक अकथनीय आनन्द में वह विह्वल हो उठी, पर तुरन्त ही सावधान होकर उसने अपना हाथ खींच लिया और कहा—"यह क्या लंकेश्वर?"

"स्वीकार करता हूँ, मैंने अपराध किया है। किन्तु यह आपकी इस अतुलनीय रूप-माधुरी का सत्कार है। इस दिव्य ज्योति की मानसी पूजा है। आप रुष्ट क्यों हो गईं?"

"रुष्ट नहीं हूं, परन्तु आप मर्यादा से बाहर आचरण कर रहे हैं।"

"देवी प्रसन्न हों, निस्सन्देह अकिंचन आपकी कृपा के योग्य नहीं, पर इस दिव्य सौन्दर्य की पूजा से तो आप मुझ दास को वंचित मत कीजिए।"



"यह क्या आप व्यंग कर रहे हैं लंकेश ?" मायावती ने अपनी प्रशंसा सुनकर असंयत होकर धड़कते हुए हृदय से कहा।

"नहीं देवी, मैं सच कह रहा हूँ। मैं चाटुकारिता नहीं करता। मैं आप पर मुग्ध हूँ, मेरा हृदय आप पर न्योछावर है।"

"यह तो आप मन्दोदरी के प्रति अन्याय कर रहे हैं।"

"मन्दोदरी को निस्सन्देह मैं प्राणों से अधिक प्यार करता हूं पर आपके इस दिव्य रूप की तो मैं पूजा करता हूँ, परन्तु आपके क्रोध से भय खाता हूँ।"

मायावती के आग्रहशील हृदय में प्रवृत्ति की लहरें उमड़ने लगीं। उसने मन्द-मन्द मुस्का कर कहा—"वीरध्वज लंकेश भी भय खाते हैं स्त्रियों से, यह तो लंकेश के लिए प्रशंसा की बात नहीं है।" रावण के नेत्रों की तृष्णा उभर आई, उसने कहा—"आह, तब आप मुझ पर एकदम निर्दय नहीं हैं।"

"यह आपने समझ लिया ?"

"आपके इस चन्द्रच्छटा-सम उज्ज्वल हास से।"

"किन्तु मैं ऐसी अकृतज्ञ नहीं हूँ कि आप की स्तुति के लिए आपका आभार न मानूं।"

"यह तो मेरे अंतःकरण की श्रद्धा है।" फिर एकाएक उत्तेजित होकर उसने कहा—"सच तो यह है कि मेरा मन तुम पर अनुरक्त है सुन्दरी, कहो, वह कौन बड़भागी है जिसके लिए तुमने यह साज सजा है ? वह कौन भाग्यवान है जो तुम्हारे इन कमल-सी सुगन्धवाले अधर-पल्लवों का चुम्बन करेगा ? स्वर्णघट के समान तुम्हारे यह उभरे हुए कुच कठोर, आज किसके आलिंगन की प्रतीक्षा में हैं ? प्रिये, आज तुम मुझे रति दो। मैं लंका का स्वामी, पौलस्त्य रावण काम-पीडित हो तुमसे नम्रतापूर्वक रतिदान मांग रहा हूं। मैं जब से यहां आया हू—तेरी मनोहारी मूर्ति हृदय में रख, रात दिन उसकी आराधना करता हू।" इतना कह कर रावण

अत्यन्त उदग्र भाव से दोनों हाथ फैलाकर मायावती को अपने आलिंगन मे बांधने को आगे बढ़ा। उसका यह भाव देख—और उसका अभिप्राय समझ मायावती थर-थर कांपने लगी। उसने कहा—"लंकेश, यह तुम क्या कह रहे हो? तुम मेरी छोटी भगिनी के पति, मेरे सम्बन्धी हो। मैं धर्म से तुम्हारी ज्येष्ठा हूँ। सोचो तो, मेरे पति यह सुनेंगे तो क्या कहेंगे। तुम्हारे भाई कुबेर लोकपाल त्रिलोकी में विख्यात हैं। तुम भी धर्माधर्म को समझते हो—ऋषि-कुमार हो। इसलिए ऐसा न करो। जो मेरा पति है, उस ही के लिए मैं शृंगार करती हूं। मैं असुर-कुल की स्त्री हूं—पत्नी हूं। तुम्हारी रक्ष संस्कृति है, मेरे सत्व की तुम रक्षा करो। कहो—वयं रक्षामः।"

रावण ने हंसकर कहा—"कहीं असुर-रमणियों के भी पति हुआ करते हैं? फिर यह एकान्त रति का नियम तो मानवों में है। इसलिए मेरी अभिलाषा तुम्हें पूर्ण करनी पड़ेगी।"

इतना कहकर रावण ने झपट कर मायावती को अपने अंक-पाश मे दबोच लिया। मायावती बाज के पंजे मे दबी हुई कबूतरी की भांति छटपटाने लगी। उसका शृंगार अस्तव्यस्त हो गया, वस्त्र फट गए। केश बिखर गए। वह केले के पत्ते के समान कांपने लगी। मायावती की दुर्दमनीय प्रवृत्ति भी तीव्र अभिलाषाग्नि से उद्दीप्त हो उठी। उसने कांपते हुए मृदुमन्द स्वर मे कहा—"नहीं, नहीं, मत करो, ऐसा मत करो।"

इस पर रावण ने उसे और भी कसकर अपनी बलिष्ट भुजाओं में भर लिया। और उसके होठों के निकट अपने उत्तप्त होठ ले जाकर कहा—"प्रिये, तू मेरी आराध्या है।"

उसने अपने अधर मायावती के अधरों से मिला दिए। मायावती भी आवेश में आ रावण के अंग मे समा गई। वह भूल गई अपना स्त्री-धर्म, राजपद-मर्यादा, असुरराजमहिषी का गौरवमय

पद। अपने पति असुरराज को वह भूल गई। कर्त्तव्याकर्त्तव्य को भूल गई। विश्व की सब बातों को भूल गई। उसने उन्मत्त हो सब कुछ भूल, उस नायक के आलिंगन में अधखुले नेत्रों के साथ अपना शरीर अर्पण कर दिया।



३७

असुर का विक्रम

वज्र-गर्जना के समान शम्बर के शब्द दोनों के कानों में पड़े। असुरराज कह रहा था—"अरे विश्रवा मुनि के पुत्र, तेरे शस्त्र कहां हैं, शस्त्र ले। तू कुलीन है, प्रजापति का वंशधर है, लोकपाल का भाई है। तुझे मैं निरस्त्र वध नहीं करूंगा।"

असुर-सम्राट के ये वाक्य सुनते ही मायावती मूर्छित हो गई। रावण ने उसे छोड़ दिया। वह नीची आंखें करके शम्बर के आगे खड़ा हो गया।

शम्बर ने कहा—"शस्त्र ग्रहण कर रावण।"

"नहीं, आप मेरा निरस्त्र ही वध कीजिए।"

"यह मेरे कुल की मर्यादा नहीं।"

"किन्तु मैं शस्त्र ग्रहण नहीं करूंगा।"

"तो मल्लयुद्ध कर।" शम्बर ने अपने हाथ का शूल दूर फेंक दिया। परन्तु रावण उसी भांति सिर नीचा किए खड़ा रहा।

शम्बर ने कहा—"मैं विलम्ब और आज्ञा की अवज्ञा सहन नहीं कर सकता रावण।"

"मैं आपसे युद्ध नहीं करूंगा।"

"नहीं कैसे करेगा रे, लम्पट, परस्त्रीगामी, चोर।" असुर ने एक लात रावण के वक्ष पर मारी। लात खाकर रावण भूमि पर जा गिरा। असुर ने कहा—"युद्ध कर।"

"नहीं, किन्तु तुम अब वध करो असुरराज।"

"वध नहीं, पाद-प्रहार करूंगा।"

"पाद-प्रहार नहीं। अनुग्रह मांगता हूँ, तुम मेरा वध करो।"

परन्तु असुर ने फिर रावण की छाती पर लात मारी। इस बार रावण लात खाकर गिरा नहीं। दो कदम पीछे हट गया। उसने कहा—"असुर शम्बर, अब बस करो। बहुत हुआ। दोष-निवारण हो गया। मैं तुम्हें क्षमा करता हूं, अब मुझे जाने दो"।

"तू ऐसा जघन्य अपराध करके जीवित जायगा मेरी पुरी से?"

"किन्तु मैंने तुम्हारा कोई अपराध ही नहीं किया।"

"अरे लम्पट, अपराध नहीं किया? तूने क्या मेरी पत्नी से बलात्कार की चेष्टा नहीं की?"

"स्त्री और पृथ्वी वीरभोग्या हैं—फिर असुरों की स्त्रियों पर किसी का एकाधिकार नहीं, वे सभी के लिए हैं।"

"किन्तु मेरी यह लात केवल तेरे लिए है।" असुर ने फिर रावण के वक्ष पर लात मारी। इस बार रावण ने असुर का पैर पकड़ कर उसे अपने सिर के चारों ओर घुमा कर दूर फेंक दिया। शम्बर घूमते हुए चक्र की भांति एक धनुष दूर जा गिरा। इस बीच रावण ने अपना कुठार उठा लिया।

शम्बर भी उठकर शूल लेकर रावण पर झपटा। उसने भरपूर वेग से शूल रावण के ऊपर फेंका। शूल रावण के पार्श्व में घुस गया। पर रावण ने परशु सिर पर घुमा कर असुर पर आघात किया। असुर घूम कर वार बचा गया। किन्तु वह घुटनों के बल गिर गया। रावण ने फिर परशु का प्रहार किया। असुर ने लेटकर प्रहार बचा, रावण के पैरों में घुस; उसे गिरा दिया। परशु उसके हाथ से छूट गया। दोनों योद्धा परस्पर गुथ गए। दोनों एक दूसरे पर लात-मुक्कों का प्रहार करने लगे। दोनों दोनों को दलमल करने लगे। दोनों के शरीर और नाक-मुंह से रक्त झरने लगा। लड़ते-लड़ते दोनों

योद्धा फिर खड़े हो गए। असुर ने विकराल खड्ग उठाया। रावण ने अपना परशु लिया। दोनों घात-प्रतिघात करने लगे। रावण प्रबल पराक्रम से भिड़ गया। अन्त में असुर ने खड्ग का रावण के सिर पर प्रहार किया। उस प्रहार से रावण का किरीट गिर गया और वह बेसुध होकर कटे वृक्ष की भांति धरती पर गिर गया। शम्बर ने उसके हाथ-पैर बांध कर अन्धकूप में डलवा दिया।

-३८

शम्बर-संग्राम

मायावती की ओर ध्यान देने का शम्बर को समय नहीं मिला। इसी समय चर ने उसे सूचना दी कि देवों और आर्यों की सेनाएँ वैजयन्तपुर की सीमा लाघ चुकी हैं। गिरिव्रज में आ पहुँची हैं। शम्बर ने भी तत्क्षण ही असुरों को सन्नद्ध होने का संकेत किया। भेरी मुरज और शंख बजने लगे। दुंदुभी धमक उठी। हाथी चिंघाड़ने लगे। घोड़े हिनहिनाने लगे। असुरवाहिनी बरसाती नदी के वेग के समान दुर्मद शत्रुओं का दर्प चूर्ण करने बढ़ चली। सिंहल के विराट हाथी पर छत्र-चवर लगा कर असुर-सम्राट बैठा। वैजयन्तपुरी और गिरिव्रज के बीच का मार्ग सेना से आपूर्यमाण हो गया। उसकी सेना मे दस हजार रथ और साठ हजार योद्धा असुर थे। उसके मित्र बान्धव और सेनापतियो में हृष्टरोमा, महाकाम, सिंहदंष्ट्र, प्रकम्पन, तन्तुकच्छ, दुरारोह, सुभाय,वज्रपजर, धूम्रकेतु, प्रमथन और विकटाक्ष अत्यन्त पराक्रमी थे। छत्तीस छत्रधारी राजा असुर-सम्राट के झण्डे के नीचे युद्ध करने जा रहे थे।

गिरिव्रज की उपत्यका में पाचालपति दिवोदास और महाकोशल के स्वामी राजसिंह आर्येन्द्र दशरथ अजेय की संयुक्त वीरवाहिनी शत्रु की प्रतीक्षा कर रही थी। दिवोदास की सेना में देव-नाग-गन्धर्व और आदित्य सभी सुभट थे। सुबाहु, निर्घात, मुष्टिक, गोहर, प्रलव, प्रमाथ, पंकट, पिंगल आदि एक सहस्र अर्धरथ थे। भ्रकुटी, सोमिल, देवशर्मा, पितृशर्मा, उग्रभट, महाभट, कुमारक, वीरस्वामी, सुराधर, भण्डीर, सिंहदत्त,

क्रूरकर्मा, शवरक, हरदत्त आदि अर्ध सहस्र पूर्णरथ थे। यज्ञसेन, इन्द्रवर्मा, विरोचन, कुम्भीर, दर्पित, प्रकंपन आदि तीन सौ द्विरथ और बाहुशाल, विशाख, प्रचण्ड आदि दो सौ त्रिरथ थे। प्रवीर, वीरवर्मा, अमराम, चंद्रदत्त, सिंहभट, व्याघ्रभट आदि एक सौ पंचरथ थे। उग्रवर्मा अकेला षड्रथ था। राजा सहस्रायु का पुत्र शतानीक महारथों के यूथ का स्वामी था। इनके अतिरिक्त महारथों के यूथपति, अतिरथों के यूथपति, पूर्णरथों के यूथप अनेक थे। इन सब यूथपतियों के अधिपति अयोध्यानाथ दशरथ थे।

दोनों ही पक्ष के भट आमने-सामने हो युद्ध करने को विकल हो उठे। आर्यों के प्रधान सेनाधिपति ने महाशुचि व्यूह का निर्माण किया। उस व्यूह के दक्षिण पार्श्व पर साठ अतिरथ यूथप, और वाम पार्श्व में साठ पंचरथ यूथप अपने यूथों सहित आसीन हुए। मध्य में गज-सैन्य और केन्द्र में पांचालपति दिवोदास और उसकी देवसेना। अग्रभाग में दशरथ अपने दस सहस्र अतिरथों के साथ। शम्बर ने अपनी सेना का अर्ध-चन्द्र व्यूह रचा। उसके मध्य में गज-सैन्य के साथ वह स्वयं रहा। आगे पीछे और पार्श्व में छत्तीस छत्रधारी राजा।

व्यूहबद्ध होने के बाद ही दोनों सेनाओं में रणवाद्य बज उठे। देखते ही देखते दोनों ओर से शस्त्र चलने लगे। जय-जयकार का महाशब्द होने लगा। बाणों से आकाश छिप गया। शस्त्रों के परस्पर टकराने से आग निकलने लगी। हाथी, घोड़े और सुभट मर-मर कर गिरने लगे। उनके रुधिर की नदी बह चली, जिसमें मृत वीरों के शरीर ग्राह-से तैरने लगे। कोई सुभट सुभट से द्वन्द करने लगा। किसी ने अर्धचन्द्र बाण से किसी का सिर काट लिया। किसी के मर्मस्थल में बाण घुस जाने से वह चीत्कार कर घूर्णित-सा भूमि पर गिर गया। देवों की

विकट मार से विकल होकर असुर इधर-उधर भागने लगे। यह देख शम्बर ने बाणो की विकट वर्षा कर दिवोदास के सारथी को मार दिया। उसके घोड़े भी मर गये। यह देख असुरों ने बड़ा भारी जयनाद दिया। इस पर दिवोदास रथ से कूद कर शबर के रथ पर चढ़ गया। उसने उसका धनुप काट दिया तथा ध्वजा गिरा दी। यह देख बडे-बड़े विकट असुरों ने पाचालपति को घेर लिया। विद्याधरो के राजा विकृतदंष्ट्र पचरथ ने यह देखा तो वह समुद्र-गर्जना की भांति महानाद करता हुआ असुरो के दल पर पिल पडा। गन्धर्वों का विकट विक्रम देख असुर भयभीत होकर भागने लगे। शंबर ने यह देखा तो हुकार भर कर अपना रथ उसी ओर बढाया और प्रबल पराक्रम से उसके सारथी, ध्वजा, रथ तथा घोड़ों को मार कुण्डल समेत उसका सिर काट लिया।

महाराज दशरथ के साथ कैकेयी धनुपबाण ले राजा के पृष्ठ की रक्षा कर रही थी। महाराज दशरथ अपने यूथपों को ललकार कर विकृतदंष्ट्र का बदला लेने आगे बढ़े। उनका क्रोध देख और प्रचण्ड बाण-वर्षा से व्याकुल हो असुर चीत्कार कर भागने लगे। कुछ बाणो से विद्ध हो हो कर मरने लगे। इस पर ककट, अकुरी, प्रचण्ड और कालकम्पन—इन चार असुर यूथपतियों ने बाणो की वर्षा से दशरथ के रथ की धज्जियां उड़ा दीं। घोड़े मार डाले, चक्र तोड़ डाले। इस पर महाराज दशरथ रथ से कूद कर खड्ग और चक्र चलाने लगे। असुर यूथपतियों ने उन्हें चारों ओर से दबोच लिया। उनका अग बाणों से बिधकर छलनी हो गया। इस पर विकट साहस कर रानी कैकेयी ने एक हाथ से चक्र को सम्हाल कर घायल राजा को रथ पर बैठा बाण वर्षा करनी आरम्भ कर दी।

पाचालपति दिवोदास ने दूर से महाराज दशरथ का यह

संकट देखा। वह अपने दस सहस्र अतिरथों को ललकार कर उधर बढ़ा। उसने विकट पराक्रम से दशरथ का मूर्छित शरीर अपने रथ पर डाल, उन्हें निरापद स्थान में भेज दिया। फिर वह दूसरे रथ पर आरूढ़ हुआ, जिसमें सोलह श्यामकर्ण घोड़े जुते थे। अब उसने कालचक्र धनुष पर चढ़ा कर उसका प्रहार किया। देखते ही देखते यह महास्त्र असुर यूथपतियों को काट काट कर ढेर करने लगा। इस समय तक हाथी, घोड़े और योद्धा इतने मर चुके थे कि चारों ओर रणस्थली में कबन्ध ही कबन्ध दीख पड़ते थे। इस प्रकार असुरों का मर्दन देख असुरराज शम्बर दिवोदास के रथ की ओर बढ़ा। उसका सूर्य के समान ज्वलन्त रथ अपनी सहस्रों घंटियों की रणकार से रण-निमन्त्रण देता हुआ सा पांचालपति के सन्मुख आ खड़ा हुआ। अब दोनों महावीरों ने ऐसा विकट युद्ध किया कि असुर-देव-गन्धर्व-मनुष्य सब कोई हाथ रोक कर उनका द्वन्द देखने लगे। देखते ही देखते दोनों के रथों के सारथी और घोड़े मर गए। रथ की धज्जियां उड़ गईं और दोनों विरथ हो परस्पर खड्ग-युद्ध करने लगे। दोनों ने एक प्रहर प्रचण्ड युद्ध किया। उनके शरीर से रक्त की सहस्र धाराएँ बह चलीं। इसी समय अवसर पाकर दिवोदास ने शम्बर का सिर काट लिया। सिर कटने पर भी दो मुहूर्त तक उसका कबन्ध लड़ा। असुर का कबन्ध गिरते ही देवों ने विजय-शंखध्वनि की। भयभीत होकर रक्त की कीचड़ में लतपत युद्ध-भूमि से असुर भाग चले। इसी समय सूर्य अस्ताचल को गए। पांचालपति दिवोदास विजय के नगाड़े बजाता हुआ, पीछे लौटा।

३६

सहगमन

मूलुण्ठिता मायावती की उपेक्षा कर, शम्बर रणक्षेत्र की ओर चल दिया था। जाने से पूर्व उसने मायावती से भेंट भी नहीं की। यह पुश्चली थी। मानवती और भावुक मायावती पति की इस अवज्ञा, अपने पाप और रावण के अपराध से अभिभूत हो, चैतन्य आते ही मृत्यु की कामना करने लगी। शम्बर को वह प्यार करती थी। शम्बर ने भी माया को सदैव प्राणाधिक समझा था। उसके जीवन में यह प्रथम क्षण ही था, जब उसकी अवज्ञा हुई—अप्रतिष्ठा हुई। परन्तु वह जितना ही विचार करती, उसे अपना अपराध गुरुतर प्रतीत होता जाता था। उसने यह निर्णय किया कि वह पति से दण्ड की याचना करेगी, फिर अग्नि-प्रवेश करेगी। उसने मौन धारण किया, आहार भी ग्रहण नहीं किया, शृंगार और विलास उसने त्याग दिया। वह समरांगण से पति के लौट आने की प्रतीक्षा करने लगी। सूखे मृणाल की भाँति वह सुकुमारी, मायावती मुर्झा कर श्रीहीन हो गई। इसी समय उसे युद्धक्षेत्र से पति के निधन की दारुण सूचना मिली। मायावती सुनकर काठ हो गई। राजमहालय क्रन्दन से भर गया। नगरी मे विषाद छा गया। उस दिन नगरी में किसी ने दीप नहीं जलाया। किसी ने भोजन नहीं किया। उस दिन पौर-बधुओं का शृंगार नहीं हुआ।

सम्राट के शव को योद्धा रणांगण से ले आए। प्रतिमा-गृह मे राजशव की प्रतिष्ठा हुई। शव का सस्कार कर, उसे अगरु-केशर-कस्तूरी चन्दन गोरोचन से चर्चित कर, श्वेत कौशेय

से आच्छादित कर, उसके चारों ओर सहस्र घृत के दीप जलाए गए। शोकपूर्ण वाद्य गर्भगृहों में बजने लगे। असुर-पुरोहितों ने मन्त्रपाठ करना आरम्भ किया। बलि, अर्चना और अन्त्येष्टि के अन्य उपचार सम्पन्न होने लगे। मायावती ने असुरराज-महिषी की गरिमा धारण की। अश्रुविमोचन नहीं किया। सहमरण को सन्नद्ध होकर चिता तैयार करने की आज्ञा दी। मज्जन किया, शृंगार किया, अंगराग लगाया, और मंगलचिन्ह अंग पर धारण किए। फिर वह पति के सिर को गोद में लेकर बैठ गई। अगरु और चन्दन की चिता रच कर तैयार की गई थी। घृत और कपूर स्थान-स्थान पर उसमें रख दिए गए थे। असुर-पुरोहित मन्त्रपाठ कर रहे थे और असुर प्रमुख बलि-पशु ला लाकर डाल रहे थे।

अभी रावण अन्धकूप में बन्दी था। मायावती ने उसे बन्धनमुक्त करके अपने सम्मुख लाने की आज्ञा दी। सम्मुख आने पर मायावती ने कहा—"राक्षसेन्द्र, अब तुम अपनी पुरी को लौट जाओ, मैं तुम्हें क्षमा करती हूं और तुमसे क्षमा-याचना करती हूँ। क्षमा करती हूँ तुम्हारे अपराध-अविनय-अनीति-आचरण के लिए, और क्षमा याचना करती हूँ अतिथि और आत्मीय से मेरे पति ने विग्रह किया, इसलिए। इस असुरपुरी में तथा असुरराज-महालय में तुम्हारे लिए कुछ भी अदेय नहीं है। रत्न-मणि-माणिक्य-दासी-दास जो कुछ तुम्हें रुचे, ले जाओ। तुम मेरी छोटी बहिन के पति हो, मुझे उसी के समान प्रिय हो, जाओ, मेरा आशीर्वाद मन्दोदरी से कहना। और कहना—उसको बहिन ने उसके लिए सत्पथ प्रदर्शित किया है।"

इतना कह कर मायावती मौन हो गई। उसने नेत्र बन्द कर लिए। रावण ने कहा—"देवि, इस असुर-निकेतन में यदि सत्य ही मेरे लिए कुछ भी अदेय नहीं है, तो तुम अपने ही को मुझे दे

स्तम्भित रह गया। उसका रूप संसार के नेत्रों को आनन्द देने वाला था। मित्रावसु ने अर्ध विक्षिप्तावस्था में रावण को उस अगम गन्धर्व-क्षेत्र में विचरण करते देख, उसके निकट आकर कहा—"तू कौन है आयुष्मान, वीर गन्धर्वों के इस अगम क्षेत्र में कैसे निर्भय घूम रहा है? क्या तू आसन्न विपत्ति से असावधान है?"

रावण ने गन्धर्वों के राजा को और उनकी कन्या को देख कर खिन्न मन से कहा—"मुझ विपन्न-विदग्ध,दुर्भाग्य-पीड़ित जन से आपका क्या प्रयोजन है? मनोरम स्थान समझ, हैममारुत से अपने विदग्ध प्राणों को शीतल करने यहां चला आया हूं। यह यदि अगम क्षेत्र है तो मैं अभी चला जाता हूँ। आप रुष्ट न हों। विशेषकर इस सुन्दरी को तो मैं क्रुद्ध करना ही नहीं चाहता। मैं जाता हू—आपका कल्याण हो।"

रावण के यह वचन सुनकर मित्रावसु गन्धर्वराज ने हँस कर कहा—"तेरी वाणी दृढ़ है, दृष्टि में तेज है, अचल गात है, प्रलम्ब बाहु हैं, प्रशस्त ललाट है, विशाल वक्ष है, क्षीण कटि है, तू निस्सन्देह श्रेष्ठ कुल का पुरुष है। परन्तु तू खिन्न है, यह तेरे भारी-भारी प्रश्वासो से मैंने जान लिया। मैं गन्धर्वों का राजा मित्रावसु गन्धर्व हूँ। और यह मेरी प्रिय पुत्री चित्रागदा है। मैं तुझ पर प्रसन्न हूँ। कह, मैं तेरा क्या प्रिय करूं।"

रावण ने गन्धर्वों के राजा के यह वचन सुनकर कहा—"सुनकर सम्प्रहर्षित हुआ। मैं विश्रवा का पुत्र पौलस्त्य रावण हूँ। लंका का अधीश्वर हूँ। किन्तु आप ज्येष्ठ हैं, पूजार्ह हैं। मैं आपका अभिवादन करता हू, और आपकी पुत्री कमलनयनी, पुष्पलतिका-सी इस बाला का अभिनन्दन करता हूं।"

"स्वस्ति, पौलस्त्य रावण, तेरा यश मैंने सुना है। तेरा शौर्य

भी मुझे अविदित नहीं है,परन्तु तू छिन्न-क्लान्त क्यों है ?"

"भाग्यदोष से मैं प्रियजन-विछोह से दुःखित हूं, मैं बड़ा भाग्यहीन हूँ।"

"पौलस्त्य, इस गन्धर्व-लोक मे तेरा स्वागत है। प्रसन्न हो। यह मेरी प्राणाधिका पुत्री चित्रांगदा है। यह तेरा मनोरंजन करेगी। तेरे प्रियजन-विछोह से विदग्ध हृदय को आप्यायित करेगी। इसे मैं तुझे देता हूँ। तू समिधा ला। अग्न्याधान कर।"

रावण ने समिधा ला अग्न्याधान किया। गन्धर्व ने अग्नि की साक्षी में अपनी अनिन्द्य सुन्दरी कन्या रावण को प्रदान कर दी। कन्या रावण को देकर गन्धर्वराज चला गया। चित्रांगदा पुष्पभार से लदी लता-सी लज्जावगुण्ठिता रावण के पास खड़ी रही। रावण ने कहा—"कह कल्याणी, अब तेरा क्या प्रिय करूं।"

चित्रांगदा ने कहा—"हे नरशार्दूल, अब खिन्नता त्याग दीजिए। आपको किस प्रिय का विछोह हुआ, मुझसे कहिए और किस सेवा से आप संप्रहर्षित होंगे, यह बताइए।"

रावण ने कहा—"विचित्र संयोग है, प्रिये! प्रत्येक दुःख की चिकित्सा है। अन्धकार के बाद प्रकाश है। निराशा के बाद आशा है। मैं तो तेरे दर्शनो ही से सम्पन्न हो गया। तेरे सान्निध्य का सुख अवर्णनीय है।"

"वह सामने एक सरोवर है। चलिए वहां आप विश्राम करें। वहीं मेरी सखियां भी हैं। वे आपको अर्घपाद्य से सत्कृत करेंगी।"

रावण ने सरोवर-तट पर जाकर देखा—उसमे नीलमणि-सा स्वच्छ जल भरा है। बड़े-बड़े रक्त कमल खिल रहे हैं, उनपर भौंरे गुंजार रहे हैं। लता-पुष्पों से स्थान सुशोभित है। वह बाला एक लता-मण्डप में पुष्पों के एक बिछौने पर बैठ गई।



उस समय उसकी ऐसी शोभा प्रतीत हुई मानो शरदकाल के मेघों पर विराजमान चन्द्रमा की कला हो। उसकी इस दिव्य सुषमा को देख कर रावण आश्चर्य और उत्कण्ठा से भौचक रह गया। इसी समय उसे ऐसा प्रतीत हुआ कि मानो आकाश से उतरता हुआ तेज-पुंज आ रहा है। उसने सुन्दरी चित्रांगदा से पूछा—"प्रिये, यह क्या चमत्कार है।"

चित्रांगदा ने कहा—"आर्यपुत्र, ये सब विद्याधरी, गन्धर्वी, अप्सराएँ, नाग-कन्याएँ, मेरी सखियां हैं।" वे सब अपने हाथों में, कोई ताजा कमल फूल, कोई गन्ध-पराग, कोई अंगराग, कोई वीणा-मृदंग-पटखजरीक, कोई गोरोचन, कोई मयूरपुच्छ लिए वहां आ पहुँची। उस सजीव रूप-सागर को देख रावण विमूढ़ हो गया। उन सुन्दरियो के बीच घिरी हुई चित्रांगदा, नक्षत्रों के बीच में चन्द्रकला के समान सुशोभित होने लगी। वह उत्फुल्ल शतदल कमल के समान प्रसन्नवदना चलचंचल मकरन्द-लोलुप भ्रमरलोचना, हंसगामिनी, कमल-गन्धा चित्रांगदा गन्धर्वराज-कन्या, काम-संजीवनी सी प्रतीत हो रही थी। उसके लहरों के समान मनोहर त्रिवलियुक्त मन्दोदर को देख रावण इस प्रकार चलायमान हो गया जैसे समुद्र चन्द्रकला को देख चलायमान हो जाता है। रावण अपने चारों ओर कपूर-चन्दन तथा अगर के वृक्षों से आती हुई सुगन्ध से मत्त हो गया। उसने आनन्दातिरेक से विभोर होकर चित्रांगदा से पूछा—"प्रिये, इस मनोरम स्थान का नाम क्या है ?" चित्रांगदा ने कहा—"स्वामिन, यह कमसर तीर्थ है। अब आप इस पुनीत सरोवर में स्नान कर अपना श्रम दूर कीजिए।" इतना कह कर उसने सखियों को संकेत किया। अब वे सब घेर कर रावण को सरोवर के तट पर ले गईं। उन दिव्यांगनाओं के साथ रावण ने यथेष्ट जल-विहार किया। फिर उन दिव्यांग-

नाओं ने रावण को नवीन वस्त्राभरण धारण कराए। प्रियतमा गन्धर्व-नन्दिनी सहित उसे दिव्यासन पर बैठा कर स्वर्णथालों में विविध प्रकार के स्वादिष्ट भुने मांस, मिष्ठान्न, पक्वान्न परोसे। सुगन्धित मसालेदार मद्य मणि-कांचन-पात्रों में भर-भर कर पीने को दिया। रावण उन दिव्यांगनाओं के सान्निध्य में उस मनोरम उपवन में, स्वादिष्ट उत्तम भोजन और सुगन्धित मद्य पाकर भूल गया असुरपुरी के अन्धकूप की वेदना और परम रूपवती मायावती को।

इस प्रकार सेवा-सत्कार, स्नान-अर्चना, आहार-विहार से सब भांति तृप्त कर, रावण की सब क्लान्ति हरण कर चित्रांगदा उसे दिव्य कनक-रथ में बैठाकर अपने मणिमहल में ले गई। वह मणिमहल भी बड़ा विचित्र था। उसमें अनेक गुप्त और मांगलिक भवन थे। सूर्य के समान तेजस्वी उसका प्रकाश था। उसमें इन्द्रनील और महानील मणियों की वेदियां रची थीं जिनमें सोने की सीढ़ियां बनी थीं। वेदियों में सोने की जालियां लगी थीं। उसका फर्श स्फटिक मणि का था, जिसके जोड़ों में हाथी दांत लगा था। सीधे चिकने और बहुत ऊंचे अनेकों मणिमय खम्भों से उसकी शोभा अकथनीय हो गई थी। छत में और दीवारों में मोती-मूंगा-माणिक्य और चांदी-सोने का काम किया हुआ था। उसमें बहुमूल्य बिछौने बिछे थे। उस मणिमहल में अनगिनत दिव्यांगनाएँ रंगबिरंगे सुन्दर वस्त्र पहिने अपनी रूप-छटा से दिशाओं को आलोकित करती कण्ठों में पुष्पहार पहिने इधर-उधर व्यस्तभाव से आ-जा रही थीं। उनके तेज तथा उनके पहिने हुए रत्नाभरणों के प्रकाश से वह मणिमहल जगमगा रहा था। ठौर-ठौर पर अनेक मोहक और अद्भुत पक्षी स्वर्ण-पिंजरों में टंगे थे। उनके कलरव से मणिमहल मुखरित हो रहा था।

धीरे-धीरे सन्ध्या का अतिक्रमण हुआ। रात्रि हुई। महल अनगिनत सुगन्धित तेलों के दीपों तथा रत्नदीपों से आलोकित हो उठा।

सखियां चित्रांगदा और रावण को अब अपने शयनागार में ले गईं। वहां एक बहुत ऊंचा अद्भुत पलंग बिछा था, जिस पर बहुमूल्य कोमल वस्त्र बिछा था। उस पर चन्द्रमा के समान एक छत्र लगा था। चित्रांगदा पति के अंक में उस शैय्या पर जा बैठी। दिव्यांगनाएँ चन्दन और मयूरपुच्छ की पंखियां लेकर उनकी हवा करने लगीं। कुछ चरण-सेवा में आ लगीं, कुछ मरकत के पात्रों में सुवासित मद्य ढाल-ढाल कर देने लगीं, कुछ स्वर्ण-थालों में शूकर-हरिण और भैंसे का भुना मांस और विविध भोज्य पदार्थ ला-लाकर निवेदन करने लगीं। कुछ अंगराग गन्ध-द्रव्य अंगों और वस्त्रों पर लगाने लगीं, कुछ केसर-कस्तूरी मिश्रित ताम्बूल अर्पण करने लगीं। कुछ ने कोमल तन्तुवाद्य सम्हाले, कुछ ने मधुर कण्ठ से आलाप लेना आरम्भ किया। कुछ मृदंग ले बैठीं। कुछ नृत्य करने लगीं। इस प्रकार रावण उस सुख-सागर में जैसे खो गया। उसने विविध रास-रंग-विहार किया। सब दिव्यांगनाओं ने चित्रांगदा की अनुमति पाकर स्वच्छन्द आहार-पान किया। सुवासित मद्य पी-पीकर तथा भुने हुए स्वादिष्ट मांस खा-खाकर वे सब भी असंयत होने लगीं। वे परस्पर एक दूसरे को आलिंगन करने, हँसने, चूमने और ठठोलियां करने लगीं।

दिव्य गन्धर्वकन्या चित्रांगदा के साथ रति-विलास कर, श्रान्त-श्रमित रावण सो गया। मदिरा से मत्त दिव्यांगनाएँ भी उसी केलि-भवन में, जहां जिसे स्थान मिला, सो गईं। अर्ध रात्रि अब व्यतीत हो रही थी। हास-विलास-क्रीड़ा और विहार से वे थक गई थीं। मदिरा के प्रभाव से बेसुध हो वे सब इधर

उधर सो गईं। वह केलि-भवन उस समय शरदकालीन आकाश की शोभा धारण कर रहा था। किसी स्त्री के केश खुल कर बिखर गए, किसी के फूलों के गजरे टूट कर गिर पड़े, किन्हीं के आभूषण इधर-उधर बिखर गए। मद्यपान के प्रभाव और नृत्य की थकावट से चूर-चूर हो दिव्यांगनाएं अचेत सोई पड़ी थीं। बहुतों के वस्त्रादि उनके शरीर से पृथक हो गए थे। बहुतों के कण्ठहार टूट-टूट कर भूमि पर बिखरे पड़े थे। कुछ सुन्दरियों के हार उनके स्तनों के बीच में पड़े उनकी सांस के साथ ऊपर-नीचे हो रहे थे। उनके मुंह से मदिरा की मदिर गन्ध आ रही थी। अनेकों प्रमदाएँ मदिरा से मदोन्मत्त हो परस्पर आलिंगन कर एक दूसरे से लिपटी पड़ी थीं। इस समय वे एक गुथी हुई सुन्दर फूलों की माला-सी सज रही थीं। रात गल रही थी, सब कोई सो रहे थे। केवल कक्ष में सोने के आधारों पर रखे हुए मणिदीप ही उन सुन्दर रमणियों के रूप-सागर को देख रहे थे। इन दिव्यांगनाओं में कोई गोरी, कोई काली, कोई सांवली और कोई स्वर्णवर्णा थी। इन सुन्दरियों के कानों के हीरे के कुण्डलों की अमन्द आभा से वह कमरा ऐसा जगमग कर रहा था, मानो तारागण के प्रकाश से आकाश देदीप्यमान हो रहा हो। नशे की झोंक में ये गन्धर्व-बालाएँ जहां थीं, वहीं सो गई थीं। उनके बगल में दोनों ओर अनेक वस्तुएं पड़ी थीं। मृदंग बजानेवाली मृदंग के साथ, वीणावाली वीणा को अंक में लिए, और डिमडिम बजानेवाली डिमडिम के साथ सोई पड़ी थी।

राक्षसराज रावण सो रहा था। वह उस समय सघन घनश्याम जलधर की शोभा धारण किए हुए था। उसके शरीर पर सुगन्धित रक्तचन्दन का लेप हो रहा था। उसके मदरंजित निमीलित लाल नेत्र और विशाल भुजाएं इस समय अत्यन्त शोभनीय प्रतीत हो रहीं थीं। पर्यंक पर फैली हुई उसकी भुजाएं,

जिनमें स्वर्ण के भुजबंध बंधे थे, खड़े हुए क्रुद्ध भुजंग के समान दीख रही थीं। उसके स्कन्ध वृषभ के समान थे। उसकी सांस के साथ पान, पूग और मद्य की गन्ध आ रही थी। उसका स्वर्ण-मुकुट अपने स्थान से हट गया था। सोते हुए रावण के मुख पर उसके कर्ण-कुण्डल बड़े सुन्दर लग रहे थे। सोया हुआ रावण ऐसा प्रतीत होता था जैसे गंगा में गजराज पड़ा सो रहा हो। रावण की बगल में ही चित्रांगदा सोई पड़ी थी। उसकी सुषमा निराली थी। उसके गौर वर्ण पर पुष्पाभरण अपूर्व शोभा-विस्तार कर रहे थे। उसका लावण्य अपूर्व था। उसके अंग पर मकड़ी के जाले के समान महीन वस्त्र थे, जिनमें छन-छन कर उसका स्वर्णगात अपूर्व शोभा-विस्तार कर रहा था। कमल की पंखुड़ी के समान उसके लाल अधर मन्द-मन्द हिल रहे थे। वह कोई सुख-स्वप्न देख रही थी। ऐसा प्रतीत होता था जैसे चन्द्रमा की चांदनी वहां सिमटी पड़ी हो।



४१

गन्धर्वपुरी से प्रस्थान

कुछ काल रावण ने गन्धर्व-कुमारी के साथ यथेष्ट विहार किया। वह उस आनन्दालोक में प्रहृष्टमन रमण करता रहा। सुवासित गान्धर्वी सुरा-पान कर और शील-रूप और कोमल हाव-भाव में अद्वितीय गन्धर्व-कुमारियों के साथ नाना विध हास-विलास और रति कर जब वह तृप्त हुआ, तो उसने वहां से चलने का विचार गन्धर्वी चित्रांगदा पर प्रकट किया। सुनकर चित्रांगदा विकल हो गई। गन्धर्वराज को जब राक्षसेन्द्र का यह विचार ज्ञात हुआ तो उसने प्रसन्नमन वेदी रच, ढाई-ढाई मन की हज़ार विदरी स्वर्ण, रत्नाभरणों से, तथा अनेक प्रकार के बहुमूल्य वस्त्रों से भरे सौ ऊँट, सात हजार घोड़े, पांच हजार हाथी और एक हजार रूपलावण्यवती किशोरी कुमारी गन्धर्व-कन्याएँ तथा सात देश रावण को वेदी पर संकल्प कर दिए और सब गन्धर्वों ने उत्सव मना रात भर पान-गोष्ठी की।

अन्त में रावण ने एकान्त पा अपने श्वसुर मित्रावसु गन्धर्व से कहा—"हे पूज्य, मेरा एक गूढ उद्देश्य है; जिसके कारण मैं सम्पूर्ण भरतखण्ड और आर्यावर्त में प्रच्छन्न भाव से भ्रमण कर रहा हूँ। शीघ्र ही मैं राजपरिच्छद सहित आकर आपकी पुत्री और भेंट को ग्रहण करूँगा।" उसका गूढ़ अभिप्राय समझ गन्धर्वपति ने कहा—"जैसी तेरी इच्छा हो, मैं तुझ पर प्रसन्न हूँ। कह, मैं तेरा अब और क्या प्रिय करूं।"

रावण ने बद्धांजलि हो श्वसुर को प्रणाम किया, उसकी परिक्रमा की। रावण ने पूछा—"तात, आप क्या बता सकते हैं

कि इस समय भरतखण्ड में अजेय योद्धा कौन है, जिनसे मैं युद्ध-याचना करूं ?"

इस पर मित्रावसु गन्धर्व ने कहा—"पुत्र, आर्यावर्त में महादुर्जय सूर्यवंशी दक्षिण कोशल-नरेश अनरण्य हैं। दूसरे महाविक्रम दशरथ अयोध्यापति हैं। आर्यों का यह सूर्यवंश हमारा परम्परा का वैरी है। मैं उस पुरातन वैर की बात तुझसे कहता हूं। जब दस राजाओं के युद्ध मे प्रबलप्रताप यदु-अनु-द्रुह्य आदि का निधन हुआ, तब द्रुह्य के पुत्र अगार ने पच्छिमी आनव-नरेश अरुद्ध को जीत कर वहां अपना राज्य स्थापित किया। परन्तु सूर्यकुल के चक्रवर्ती मान्धाता ने उन्हें पराजित कर खदेड़ दिया। पीछे मान्धाता का वध जब मथुरा के असुरों ने कर डाला, तब अगार के पुत्र गधार ने गान्धारों का यह राज्य स्थापित किया, तथा गान्धारो की यह नगरी बसाई। परन्तु ये आर्यजन जब-तब हम पर आक्रमण करते रहते हैं। अभी थोड़े ही काल पूर्व मैंने मान्धाता के पुत्र कुत्स को युद्ध में बन्दी किया था, जिसके मोचन के लिए उसके भाई मुचकुन्द और अम्बरीष ने गन्धर्वों पर अभियान किया था। अब कुत्स तो लज्जा के मारे राज्य छोड़ नर्वदा-तट पर चले गए हैं, और मुचकुन्द ने माहिष्मती बसाई है, जिसे हैहय महिष्मन्त ने जय कर अपनी राजधानी बनाया है। अब वहां हैहयतालजंघ के बल से बली कार्तवीर्य अर्जुन सहस्रबाहु राज्य कर रहे है। अम्बरीष विकट युद्धकर्ता थे। सो इस समय दशरथ-अनरण्य आर्यावर्त में, और कार्तवीर्य हैहय अर्जुन भरतखण्ड में अजेय पुरुष हैं। परन्तु इनसे बिना चतुरंगिणी सेना के युद्ध नहीं हो सकता है। इसलिए यदि तेरी इच्छा इनसे युद्ध की हो तो मैं गन्धर्वों की सेना तुझे दूंगा और सब भांति तेरा प्रिय करूंगा।"

रावण ने श्वसुर को फिर अभिवादन किया और कहा—"देव,

मेरा उद्देश्य केवल युद्ध-जय ही नहीं है। मै आर्यों की परंपरा पर रक्ष-संस्कृति की स्थापना करना चाहता हूँ। आर्यों की खण्ड-नीति मुझे सह्य नहीं है। वे अपना अंग काट-काट कर तनिक-तनिक बात पर आर्यजनो को बहिष्कृत करते हैं। मैं सब आर्य अनार्य, देव, दैत्य, असुर, नाग, आनव, मानव और आदित्यो तथा गत, आगत, समागत जनो को एक धर्म—एक संस्कृति के नीचे लाना चाहता हूँ। इसके लिए मुझे सर्वप्रथम आर्यों को और देवो के दिग्पालो को जय करना होगा। मै शीघ्र ही अपनी चतुरंगिणी सेना लेकर आऊंगा। तभी मैं आपकी सहायता से भी लाभ उठाऊंगा।"

गन्धर्वपति ने प्रसन्न होकर कहा "स्वस्ति, ऐसा ही कर पुत्र, कामना करता हूँ, तेरा सदुद्देश्य सफल हो। किन्तु अब तू यहां से किष्किन्धापुरी जा। वहां के वानरों का राजा बालि बड़ा दुर्मद और बली है। उसे अपना मित्र बना। वह किष्किन्धा का राज्य दुर्गम है और तेरे मार्ग मे है। उसकी मित्रता से तुझे लाभ होगा।

"तू यहां से पश्चिम-दक्षिण दिशा में जा। सारा मार्ग पुष्पों-लताओं से भरा हुआ और मनोरम है। वह तुझे सुखद और सुभग होगा। वृक्षों के मधुर स्वादिष्ट फल खाता हुआ तू अपनी यात्रा कर। आगे तुझे एक महावन मिलेगा। फिर पर्वत-श्रेणियां। उन्हें पार करते ही तू पंपा सरोवर पर पहुँच जायगा। यहीं ऋष्यमूक पर्वत पर मनोरमा किष्किन्धापुरी है। वहां इन्द्र के पुत्र वानरराज बालि का राज्य है।"

रावण यह सूचना पा प्रसन्न हुआ। उसने कहा—"हे देव, मैं ऐसा ही करूंगा।" उसने गन्धर्वराज की प्रदक्षिणा की, और प्रियतमा गन्धर्वनन्दिनी चित्रांगदा को विविध भांति का आश्वासन दे चल दिया। प्रियतम-विछोह से विदग्धा गन्धर्वपुत्री चित्रांगदा कटे वृक्ष की भांति भूमि में मूर्छित हो गिर गई।

किष्किन्धापुरी में

वन-पर्वत-उपत्यका सब को पार करता हुआ धीरशिरोमणि रावण अन्ततः पंपा सरोवर पर आ पहुचा। वहां की भूमि समथल थी। घाट सुन्दर और सुगम थे। सरोवर के नीचे की भूमि बालुकामय थी। असंख्य नील कमल और रक्तोत्पल उस सरोवर की शोभा बढ़ा रहे थे। वहा पंपा के जल में विचरने वाले हंस, कुरर, कारण्डव और क्रौंच आदि पक्षी मधुर स्वर में कूज रहे थे। वे हिंसा को जानते ही न थे। अनगिनत वानर अपनी-अपनी पत्नियो के साथ वहां विहार कर रहे थे। पंपा के तट पर फल-फूल वाले इतने वृक्ष थे कि सरोवर का तट उनसे ढक गया था।

सरोवर के पश्चिम तट पर ही महामुनि मातंग ऋषि का आश्रम था। उस आश्रम में एक हजार बटुक वेद पढ़ते थे और ब्रह्मचर्य धारण करते थे। आश्रम में अनेक वानर-कुमार ब्रह्मचारी वेदपाठी थे। अनेक यति, तपस्वी, व्रतधारी पुरुष-स्त्री वहां तपस्वी का जीवन बिताते थे। इसी आश्रम में एक अमोघ प्रभाववाली महिला शबरी रहती थी। वह जाति की तो निषाद थी, परन्तु महाज्ञानवती एवं तपस्विनी थी। शबरी का प्रताप उस सरोवर के अंचल में विख्यात था। वह प्रत्यक्-स्थली वेदी में तपस्या कर रही थी।

सरोवर के सम्मुख ही ऋष्यमूक पर्वत था। यह पर्वत जैसा मनोरम था वैसा ही दुरारोह भी था। इस पर्वत पर सर्प बहुत थे। वन मे हाथियो के भी बहुत झुण्ड विचरण करते

थे, जो यूथ बनाकर सरोवर के तट पर जल पीने आते थे। पर्वत के अचल मे बड़ी-बड़ी प्राकृत गुफाएँ थीं। फल-फूल और कन्द-मूल की तो वहां कोई कमी थी ही नहीं। रावण ने सरोवर में स्वच्छन्द स्नान किया। तृप्त होकर कन्द-मूल-फलों का आहार किया। फिर वह मुनि के आश्रम में गया।

महामुनि मातंग ऋषि तथा शबरी ने रावण का आतिथ्य किया। उसे अर्घ्य-पाद्य दिया। इसके बाद रावण ने किष्किन्धा नगरी मे प्रवेश किया। उस स्वर्ण-नगरी मे स्वच्छ, सुगन्धित पवन प्रवाहित था। उसमे विन्ध्य पर्वत के समान ऊँचे गगन-चुम्बी प्रासाद थे। नगर मे अनेक रगस्थलियां थीं। वानर नागरिक और उनकी पत्नियां सजी हुई पालकियो में इधर-उधर आ-जा रहे थे। वानरी महिलाओं की सवारी के आगे सैनिक शंखध्वनि करते जा रहे थे। ये सैनिक दैत्यों और दानवों के समान पराक्रमी और वीर थे। वालि के सेनापति का नाम विनत था। यह वीर पर्वत के समान भीमकाय था। वह मेघ की भांति गर्जना करता था। वानरगण विविध स्वर्णाभरण अंग पर धारण किए स्वर्ण-किरीट सिर पर रखे, बड़ी आनबान से यहां घूम रहे थे। यहां इन्द्रपुत्र महाबली वालि और सुग्रीव दो भाई राज्य करते थे। वालि का शरीर लोहे के समान कठोर था। जब वह मुद्गर लेकर युद्ध मे उतरता था, तब बड़े-बड़े योद्धा भी उससे पार नहीं पा सकते थे। वह अब तक किसी वीर से परास्त नहीं हुआ था।

ऋष्यमूक पर्वत पर कभी सात ऋषियों के आश्रम थे। अब उनके स्थान पर सात विशाल ताड़ वृक्ष थे। उन्हीं के निकट किष्किन्धापुरी थी। रावण राजपथ, वीथी, अट्टालिकाएँ देखता हुआ राजमन्दिर की पौर पर जा खड़ा हुआ। राजमन्त्रियों ने उसे अतिथि-अभ्यागत जान अर्घ्यपाद्य से सत्कृत किया।



परिचय पूछा, आने का कारण जाना। मन्त्री तार ने कहा—"आप तनिक विश्राम कीजिए। वानरराज बालि, समुद्र-तट पर सन्ध्योपासना को गए है। यह उनका नित्य-नियम है, आप उनसे युद्ध-याचना कर सकते हैं अथवा किसी भी वानर से द्वन्द रच सकते हैं, इससे हमारा भी मनोरजन होगा।"

परन्तु रावण ने कहा--"मन्त्रिप्रवर, मुझे वानरराज के दर्शन की बड़ी उत्सुकता है, मै वहीं जाकर उनसे युद्ध-याचना करूंगा। अन्य वानरों से द्वन्द करने का मेरा क्या प्रयोजन है ?" मन्त्रियों ने कहा—"यदि आपको अपने जीवन का मोह नहीं है तो आप समुद्र-तट पर चले जाइए। वहीं महा तेजस्वी सुभट बालि से आपका साक्षात् हो जायगा।"

समुद्र-तट पर जाकर रावण ने देखा—बालि एकाग्रमन सूर्य पर दृष्टि दिए द्वितीय सूर्य के समान अचल भाव से समुद्र-जल में खड़ा है। रावण ने उच्च स्वर से कहा—"युद्धं देहि। युद्धं देहि।"

बालि ने मुंह फेर कर महावीर्यवान् रावण को देखा। सूर्य को जलांजलि दी। फिर जल से बाहर आकर कहा—"आप कौन महाभाग मुझ से युद्ध-याचना कर मेरी प्रतिष्ठा बढ़ा रहे हैं ?" रावण ने कहा—"मैं सात द्वीपों सहित लका का अधीश्वर पौलस्त्य रावण हूँ। और किसी गूढ़ उद्देश्य से आप से युद्ध-याचना कर रहा हूँ। आइए, आप भयभीत नहीं हैं तो युद्ध कीजिए।"

बालि ने हँस कर कहा—"अतिथि का अर्घ्यपाद्य से सत्कार किया जाता है। फिर आप महाप्रतिष्ठ हैं। परन्तु आप युद्ध-याचना करते हैं, आपका अभिप्राय गूढ है, तो ऐसा ही हो। आप शस्त्र-पात कीजिए।"

"नहीं वीर, आप विरथ हैं, मैं मल्ल-युद्ध करूंगा।"

"तो ऐसा ही हो।"

रावण ने अपना परशु फेंक दिया। दोनों वीर समुद्र की सोनरेती में मल्लयुद्ध करने लगे। कुश्ती के दाव-पेच चलने लगे। दोनों अप्रतिम योद्धा थे, वे परस्पर एक दूसरे की प्रशंसा करते हुए बड़ी देर तक मल्लयुद्ध करते रहे। दोनों के शरीर पसीने से लथपथ हो गए। युद्ध करते-करते उन्हें दो प्रहर का काल हो गया। अन्त में वालि ने रावण को परास्त कर उसके वक्ष और कण्ठ पर अपना चरण रख कर, हँसते हुए कहा—"पौलस्त्य रावण, तुम्हारी अभिलाषा पूर्ण हुई या अभी और कुछ इच्छा है ?"

रावण ने भी हँस कर कहा—"संतुष्ट हुआ इन्द्रतनय, तू महावीर है। तुझमें अद्भुत बल है, विक्रम है। तेरी गति वायु के समान है। मैं विश्रवा मुनि का पुत्र पौलस्त्य रावण सात द्वीपों सहित लंका का अधिपति, तेरा अभिनन्दन करता हूँ। तेरे बल की थाह के लिए मैंने तुझसे युद्ध किया था, क्योंकि मैं तुझ से मित्रता स्थापित करना चाहता था। अब अग्नि की साक्षी में तुझे मैं अपना मित्र बनाता हूं। अब से स्त्री, पुत्र, नगर, राज्य, भोग, वस्त्र सब वस्तुएँ हमारी-तुम्हारी एक ही रहेंगी। हम-तुम दोनों मिल कर ही इनका उपभोग किया करेंगे।"

रावण के ये वचन सुन, वालि प्रसन्न हो गया। उसने उसके कण्ठ से अपना चरण हटा कर कहा—"मैं तुझ पर प्रसन्न हूं। तू श्रेष्ठ कुल का वीर है, पूज्य है, श्लाघ्य है। आ, अग्न्याधान कर, हम अग्नि को साक्षी देकर बन्धुत्व की स्थापना करें।"

दोनों ने अग्नि प्रज्वलित कर परस्पर बन्धुत्व की प्रतिज्ञा की। फिर दोनों ने एक दूसरे का आलिंगन किया।

इसके बाद दोनों किष्किन्धा के राजमन्दिर में परस्पर एक दूसरे का हाथ पकड़े, इस प्रकार घुसे जैसे दो सिंह किसी गुफा में प्रवेश करते हों।

४३

रुद्र

यम की पत्नी वसु से आठ वसु उत्पन्न हुए, जिनमे सब से ज्येष्ठ धर थे। धर के पुत्र रुद्र थे।

रुद्र के ग्यारह कुल चले। इन ग्यारह कुलों के प्रवर्तक— १ अजएकपात, २ अहिर्बुध्न्य, ३ विरूपाक्ष, ४ त्वष्टा, ५ वीरभद्र, ६ भैरव, ७ हर-महेश्वर (शिव), ८ त्र्यम्बक, ९ सावित्र (कपाली), १० शम्भु और ११ शर्व (पिनाकी)।

रुद्र के चार स्थान प्रसिद्ध हैं। प्रथम मूल स्थान मूजवान् पर्वत हेमकूट (हिन्दूकुश) का प्रत्यन्त पर्वत, जो पश्चिम के कोह-सुलेमान से बहुत उत्तर—सफेद कोह (श्वेत गिरि—धवल) से भी उत्तर में है। यहां ही सोम होता था। इसी के पूर्व की ओर क्रौंचगिरि है, जिसे अब "काराकुरम" कहते हैं। इसी का विदारण कुमार कार्तिकेय ने किया था। उमावन—शरवन इसी स्थान के आसपास है। यहां के आगे की वायु बहुत प्रचण्ड है। इसी से रुद्र को तूफानों का देवता कहा है। इस प्रदेश में मूजवन, महावृष, बाल्हीक तथा मरुत जातियां रहती थीं, जो आर्य न थीं। परन्तु मरुत लोग देवराट् इन्द्र के सहायक हुए। दूसरा भद्रवट, कैलाश के पूर्व की ओर, लौहित्य-गिरि के ऊपर है। उसके नीचे ब्रह्मपुत्र नदी बहती है। तीसरा कैलाश, हिमांचल-प्रदेश का—मानसरोवर के निकट का स्थान।

पर्शिया के एक प्रान्त मे 'शंकरा' जाति अब भी निवास करती है। पुराणों मे रुद्र को मरुतों का पूर्वज माना गया है। रुद्र को

वृषभ के समान शक्तिवान् तथा दुर्धर्ष तेजवाला बताया गया है। वह जरारहित, स्थिरयौवन तथा सर्वाधिपति माना गया है। ऋग्वेद से यह भी पता लगता है कि उसके होठ सुन्दर थे, रंग बादामी था, वह सिर पर बड़े-बड़े बाल रखता था, शरीर उसका सूर्य के समान देदीप्यमान था, वह प्रचण्ड धनुर्धारी योद्धा था।

असीरिया के फ्रीजिया देश में 'सेवा' या 'सेवाजियः' नाम के देवता की उपासना होती है। वहां भी, तथा मिश्र में भी 'सेवा' देवता के साथ सर्प का सम्बन्ध जोड़ा गया है। अमेरिका के पेरू प्रदेश में सिवु देवता पूजा जाता है। यह सब शिव की ही पूजा है। पैलेस्टाइन देवों का 'पाल' नामक धाम था, जो दैत्यों ने छीन लिया था, उसी के उद्धार के लिए शिव ने त्रैपुर युद्ध किया था। डेड सी—मृत्यु-सागर ही वह स्थान है, जहां त्रैपुर के मृत वीरों को जल-प्रवाह किया गया था।

मसीह से पूर्व २१८६ में मिश्र के महिदेव कपोत थे, जो मिश्राइज्म के नेता भी थे। इन्हें वहां के फरोहा ने देश से निकाल दिया था। तब शिश्तान के राजा शिवि ने उन्हें आश्रय दिया था। इस प्रसिद्ध ऐतिहासिक घटना को पुराणों की इस विख्यात आख्यायिका से मिलाइए कि शिवि ने कबूतर के बदले अपना मांस दिया। कपोत जाति को कबूतर बना दिया गया। यह शिवि राजा भी रुद्र के वंश में थे। शेष रुद्रों का विस्तार सारी सुर और असुर-भूमि में हुआ और वे सभी सुरों और असुरों में समान भाव से पूजित हुए।

अफ्रीका का प्राचीन नाम शिवदान है। पीछे जब राम ने रावण को विजय किया, तथा अपने पुत्रों को राज्य दिया, तब अफ्रीका महाद्वीप कुश को दिया; तब से वह कुशद्वीप प्रसिद्ध हुआ। अफ्रीका का मध्य देश जिसे सूडान कहते हैं, शिवदान का ही बिगड़ा हुआ रूप है। यहां भूमध्य-सागर के अंचल में यवन-

सागर है, जिसके तट पर वह प्रसिद्ध पुरी त्रिपुरी थी, जो स्वर्ण-निर्मित तथा तीन खण्डो में विभक्त थी। इसे ही शिव ने भस्म कर के जलमग्न किया था। आज भी उस स्थान पर त्रिपोली नगर और प्रान्त है जिसमे 'शिव' नामक नगर भी है।

शिव के इस महाद्वीप में आने से प्रथम यहा प्रसिद्ध पृथ्वी-विजयी चाक्षुस उर और उनका पुत्र अगिरा आ चुके थे, तथा तमाम द्वीप पर अधिकार कर चुके थे। उरन, रियो—उर उन्हीं की स्मृति को ताजा करता है। अफ्रीका का दक्षिणांचल तो अंगिरा प्रदेश ही कहाता है। अकोला प्रदेश तथा अग्रा-पैक्वना इसी के विगड़े हुए नाम हैं। चाक्षुस और शिव के बाद भी सूर्यवंशी सम्राटों ने पीछे इस प्रदेश को अधिकृत किया। मान्धाता—(मान्डाटे) अम्बरीप—(अम्ब्रे) मलिन्द, ताम्रकुण्ड-प्रदेश—(टेम्बद्द), दमी प्रदेश आदि इसी बात के द्योतक हैं। इरिट्रिया प्रदेश भी आदित्यों ने जय किया था। इरिट का अर्थ सूर्य है।

मत्स्य पुराण में लिखा है कि ब्रह्मराक्षसों का स्थान नलिनी नदी के तीर पर है। यह सम्भवत. रावण के ऊपर ही व्यग है। यदि आप अफ्रीका के नकशे को ध्यान से देखेंगे तो आपको ज्ञात होगा कि अबीसीनिया के मध्य मे एक तन नामक झील है, जिसके पूर्वी तट पर तीन पर्वत हैं। ये तीनों पर्वत मिले हुए हैं, और तीन ओर से इस झील को घेरे हुए हैं। चौथी ओर नील नद है। यही त्रिकूट पर्वत है जिसका उल्लेख पुराण में है।

अम्बरीष, मान्धाता के पुत्र थे। मान्धाता सात द्वीपों के सार्वभौम सम्राट् थे। इनके पुत्र अम्बरीष ब्राह्मण हो गए थे। शिवदान द्वीप में ब्राह्मण या ऋषि को दमी कहते थे। अफ्रीका में दमी प्रदेश भी है और अम्बरीष की खाड़ी भी है। ये दोनों ही पिता-पुत्र निस्सन्देह इस द्वीप में आए तथा उन्होंने इसे अधिकृत किया था।

मिस्र का भी प्राचीन नाम शिवदेश—औसिस आफ शिव था। यहां के राजा पीछे महिदेव—प्राइस्ट-किंग्स कहलाने लगे। ईजिप्ट नाम भी संभवतः जटा के नाम पर पड़ा हो। एक रुद्र का नाम कपर्दी था। कपर्द का अर्थ है जटा जूट-धारी। तृत्सु लोगों को भी ऋग्वेद में "कपर्दिय:" कहा है। सभवतः कपर्दी उनका नेता हो; और वे यहां के आदिवासी हों। बैबिलोनिया के अक्केडियन लोगों में भी जूड़ा बांधने की प्रथा थी, परन्तु सुमेरियनो में नहीं थी। सम्भव है, इसी आधार पर इसका नाम ईजिप्ट हुआ। हां, ईरान में एक प्रदेश जाटा भी है। संभव है, वहां के लोगों का यहां संपर्क रहा हो। मिस्र नाम भी संस्कृत है और महिदेवों ने यह नाम रक्खा था।

मिस्र के ऊपरी भाग में एक स्थान डमीटा है। यहां कभी 'दमित्र' नगर बसा था, जो किसी विजेता आदित्य ने बसाया था। दमित्र, सूर्य या विष्णु का नाम है। त्रिपोली (त्रिपुर) जिसे शिव ने भस्म किया था, वह मिस्र के पश्चिम-उत्तर में प्रमुख नगर है। सब जानते हैं कि त्रिपोली प्रदेश का एक भाग सिरटियन सागर में जलमग्न है। कुछ दिन पूर्व इस जलमग्न भाग की जांच-पड़ताल की गई थी। इसी के निकट कावस स्थान है, यह दैत्ययाजक शुक्र के नाम पर है, क्योंकि शुक्र का नाम 'काव्य' भी है। मिस्र देश भूमध्यसागर के तट पर है। इस सागर में आद्रसागर—आड्रियाटिक सी है। इसी के नीचे यवन सागर है। आद्र इक्ष्वाकु के पुत्र थे, और इनके पुत्र यवनाश्व थे। इन सूर्यवंशियों ने संभवतः इस द्वीप पर अधिकार अम्बरीष और मान्धाता मे भी प्रथम किया होगा, जिनके नाम पर ये समुद्र हैं। विचारणीय बात यह है कि मान्धाता और अम्बरीष के स्मृति-चिन्ह प्रदेश के नीचे के भाग में हैं, जब कि ये दोनों समुद्र द्वीप के सिर पर ही हैं। अग्निद्वीप भी यहीं है। सुनि नदी तथा अशान्ति नदी अफ्रीका में हैं।

४४

देवाधिदेव

रुद्र के दादा यम यद्यपि आदित्य थे, तथा वेदर्षि भी थे, परन्तु उन्होंने आर्य-संस्कृति स्वीकार नहीं की। न वे आदित्यों में सम्मिलित हुए। देव, दैत्य, दानव सभी से उनका वरुण की भांति समभाव रहा। देवों में खटपट तो सूर्य ही करते थे। सूर्य यम के पिता थे, फिर भी ये पिता-माता दोनों से उपेक्षित थे। इसी से ये वरुण के आश्रित हुए, तथा वरुण की सहयोग-नीति ही इन्होंने अपनाई थी। आदित्य यम को अपना कुटुम्बी और आत्मीय समझ पूज्य पुरुष मानते थे, पर उनकी देवों में यदा-कदा ही गणना करते थे। उनकी संतान आठ वसु भी अर्द्ध देव माने जाते थे। रुद्र भी देवों से पृथक् ही रहे, पर वे बड़े तेजस्वी और प्रतापी थे। देवों की भांति उनका दैत्यों से भी सद्भाव था। बलि-पुत्र बाणासुर से तो उनके प्रगाढ़ मैत्री-सम्बन्ध थे। वे बहुत दिन तक उसकी नई राजधानी वन में रहे, तथा बाण का बहुत बल उन्होंने बढाया। उनका शरीर-बल बहुत था। उसकी तुलना सांढ़ से की गई है। देव लोग जिन्हें दस्यु और अनार्य कहते थे, वे भी रुद्र के दर्बार में अभय पाते थे। वे बड़े धनुर्धारी थे, नागों के परम मित्र और संरक्षक थे। उन्हें चोरों, डाकुओं और व्रात्यों का त्राता कहा गया है। पुंजिष्ठ और निषादों का भी उन्हें स्वामी बताया गया है। इनके क्रोध और बाण से देव, दैत्य सभी भयभीत ही रहते थे, और संकट-काल में देव, दैत्य, दानव, नाग सभी रुद्र की शरण में जाते थे। उनका प्रसिद्ध शस्त्र त्रिशूल था।

वे नाद-विद्या के आगम थे। डमरू उनका वाद्य था। कहते हैं, अक्षर समाम्नाय उन्होंने प्रादुर्भूत किया और सबसे प्रथम उन्हीं ने वाणी को उद्‌घोषित किया। वनस्पतियों से भी उन्हें प्रेम था। वे वनस्पतियों के स्वामी प्रसिद्ध थे। स्वभाव उनका उदार था। जैसे जल्द वे क्रुद्ध हो जाते थे, वैसे ही झटपट प्रसन्न भी हो जाते थे। काम-विज्ञान के भी वे आविष्कर्त्ता थे। प्रसिद्ध है कि हज़ार अध्यायों का कामशास्त्र उन्होंने रचा था, इसी से उन्हें कामजयी कहते हैं।

इन्हीं सब कारणों से देव, दैत्य उनसे भय खाते तथा उनका आदर भी करते थे; पूज्य पुरुष समझते थे, परन्तु यज्ञ में भाग देते समय देव न यम को और न रुद्र को ही अपनी पंक्ति में बैठाना पसंद करते थे। पाठकों को ज्ञात है कि रुद्र को भी दक्ष ने एक कन्या दी थी, परन्तु रुद्र से कतराते वे भी थे। रुद्र भी दक्ष को कुछ गिनते न थे। वास्तव में रुद्र यज्ञ-पाखण्ड के समर्थक न थे। निस्संदेह उन्होंने कुछ ऋचाएँ तैयार की थीं, परन्तु वे स्वयं वैदिक न थे। उनकी अपनी एक स्वतन्त्र परंपरा थी, जो ग्यारहों रुद्रों ने उन-उन देशों में, जिन-जिन मे उनका प्रस्तार हुआ, प्रचलित की। उनके समर्थक उन्हें देवाधिदेव कहते थे और वे आत्म-यज्ञ को सबसे अधिक महत्व देते थे, जिसकी व्याख्या उनकी अपनी थी, तथा उनके इस आत्म-यज्ञ के समर्थक बहुत ऋषि उन दिनों सम्पूर्ण एशिया महाद्वीप में फैले हुए थे।

अभी जब परस्पर विरोधी भावनाएँ चल ही रही थीं, कि इसी समय रुद्र के श्वसुर दक्ष ने यज्ञ किया। यज्ञ मे देव, पितर, ऋषि, नाग, यक्ष, वरुण आदि सभी युग-पुरुष आए। अत्रि, पुलह, पुलस्त्य, क्रतु, इन्द्र, वशिष्ठ भी बुलाए गए। विधिवत् चातुर्होत्र की वहां स्थापना की गई। वशिष्ठ होता, अंगिरा अध्वर्यु, बृहस्पति उद्गाता और नारद ब्रह्मा हुए। आठों वसु, बारहों आदित्य,



दोनों अश्विनी कुमार, उनचास मरुद्गण, वहां एकत्र हुए। बहुत भारी समारोह हुआ। दस योजन भूमि में यज्ञ-समारोह हुआ।

यहां यज्ञ-समारोह के सम्बन्ध में भी मैं कुछ कहूँगा। यह एक प्रकार की अग्नि-पूजा थी, जो इलावर्त और आसपास के देव, दैत्य सभी में प्रचलित हो गई थी। मैंने बताया है कि देमावन्द पर्वत पर काश्यप प्रदेश में एक स्थान बाकू है, जहां भूमि से अग्नि निकलती है। इसी से इरानी लोग अग्नि की पूजा करते हैं। उसी अग्नि की पूजा का प्रचलन देवों, आर्यों में यज्ञ-रूप से हुआ। पारसी लोग भी अग्निपूजक हैं। उनकी अगियारी में सैकड़ों वर्ष की अखण्ड अग्नि रहती है। धीरे-धीरे यह साधारण अग्नि-पूजन जहां-जहां आदित्य गए, यज्ञ के रूप में साथ लेते गए। पीछे इसमें और विधियों का भी समावेश हुआ और यज्ञ के समारोह धीरे-धीरे सब सामाजिक और राजनैतिक प्रश्नों के निपटारे के मूल समारोह हो गए। यज्ञों ही में देवों की भूमि तथा दाय का बँटवारा होता था। यज्ञ-भाग पाकर ही देव अपना निर्वाह करते थे।

इस यज्ञ में दक्ष प्राचेतस ने रुद्र को नहीं बुलाया। यज्ञ में न-बुलाने का अभिप्राय अपमान ही न था। मुख्य अभिप्राय यह भी था कि उन्हें यज्ञ-भाग न मिले। वास्तव में देवों का सब कुछ यौथ समाज था। पृथक् संपत्ति किसी की न थी। यज्ञ-समारोहों में एकत्र सामग्री यज्ञ-भाग कह कर बांटी जाती थी। रुद्र को न बुलाना सरासर रुद्र को उनके भाग से वंचित करना था। परन्तु रुद्र की पत्नी सती, बिना ही बुलाए यज्ञ में पिता के घर चली आई। उसने पिता से कहा—"आपके यज्ञ में सम्पूर्ण देव और ऋषि पधारे हैं। हमारी सब बहिनें, बहनोई, भांजे सपरिवार आए हैं। तब क्या कारण है कि आपने हम लोगों को नहीं बुलाया? मेरे पति को आपने यज्ञ-भाग से वंचित कर दिया।"

दक्ष ने कहा—"रुद्र वैदिक मर्यादा नहीं मानते। देवों को कुछ समझते नहीं हैं। त्रिशूल और दण्ड धारण करते हैं। आत्मयज्ञ का प्रचार करते हैं। नागों को साथ रखते हैं। उनके गण भी चोर, डाकू, दस्यु हैं। यह सब उनका अभद्र आचरण है। इस अभद्र आचरण और अभद्र वेश में वे कैसे देवों के साथ बैठ सकते हैं।" इस पर सती ने क्रोधित होकर कहा—"जिन्हें आप अभद्र कह कर निन्दा करते है, उन्हीं के तेज और प्रभाव से देव निर्भय हैं। आप उनके प्रताप को नहीं जानते। मैं अपने पति का अपमान नहीं सह सकती।" यह कह कर वह धधकते हुए यज्ञ-कुण्ड मे सबके देखते देखते ही कूद गई। देव, नाग, गन्धर्व, मरुत्त, गुह्यक—'यह क्या?' 'यह क्या?' कहते ही रह गए। देव, ऋषि सब भयभीत हो गए। सती जल मरी। यह सूचना पाकर, रुद्र ने क्रुद्ध हो, नंदीगणों को दक्ष का यज्ञ विध्वंस करने को भेज दिया। गणों के दल-बादल यज्ञ पर छा गए। देखते-देखते उन्होने दक्ष-यज्ञ-विध्वंस कर डाला और दक्ष का सिर काट कर यज्ञ-कुण्ड में झोंक दिया। रुद्र के इस कोप से सब देव शोकग्रस्त हो गए। यम और रुद्र दोनों ही के सहायक सब दैत्य, असुर और दानव थे, तथा हाल ही में देवासुर-संग्रामों में वे उनसे हार चुके थे। इसके अतिरिक्त देव उनको आत्मीय भी मानते तथा दबते थे। अत. रुद्र को उन्होंने समझा-बुझा कर बड़ी कठिनाई से शान्त किया। पर प्रिय पत्नी की अपमृत्यु से रुद्र अत्यन्त संतापित हुए। रुद्र एक महा प्रतापी योद्धा थे ही। उनका बल असह्य था। उनका प्रभाव मरुतों पर बहुत था। ये मरुत् वर्तमान समरकंद या बिलोचिस्तान के आस-पास कहीं रहते थे। इस घटना के बाद रुद्र भी उनके साथ चले गए। इन मरुतों से देवराट् इन्द्र ने मित्रता कर ली थी, और समय-समय पर देवराट इन्द्र तथा देव, रुद्र से सहायता लिया करते थे, परन्तु रुद्र विष्णु की भांति दैत्यों और दानवों के शत्रु थे ही नहीं। दैत्य और दानव भी उन्हें

उसी प्रकार पूज्य पुरुष मानते थे, तथा समय-असमय में रुद्र दैत्य-दानवों की भी वैसी ही सहायता करते थे जैसी देवों की। इस प्रकार अपने काल में रुद्र देव-दैत्य-दानव सभी में पूजित थे। फिर भी उन्हें अत्यन्त क्रोधी समझकर उन्हें सहारक ही समझा जाता था। उनका दैत्य-दानवों के गणों का संगठन इतना भयानक था कि उससे देव-दैत्य सभी भय खाते थे।

सती की मृत्यु होने के कुछ काल बाद रुद्र ने हिमांचल की राज-कन्या पार्वती से विवाह किया। पार्वती ने रुद्र की यशोगाथा पर मोहित होकर स्वय ही रुद्र से विवाह-याचना की। पार्वती की सेवा से सतुष्ट हो वे अब शान्त भी हो गए। अब तक उनके रुद्र नाम के अतिरिक्त भव, शर्व, पशुपति, नीलकठ आदि नाम थे। अब सब लोग उन्हें शिव—शान्त मूर्ति कहने लगे। यहा देवी पार्वती से उन्हें दो पुत्रों की प्राप्ति हुई। एक गणपति, दूसरे कार्तिकेय। उन्होंने हिमवान् के अचल में अपना कैलाश नाम का मनोरम आश्रम बनाया और वहां रहने लगे। उधर रावण से खदेड़े हुए कुबेर ने भी उनके निकट ही अपनी अलकापुरी बसाई। इस प्रकार रुद्र—शिव का कुबेर और यक्षों से खूब मेल-जोल हो गया। एक प्रकार से यक्षपति कुबेर की रुद्र से मित्रता ही हो गई।

●

४५

देव-सान्निध्य

हिमालय के अंचल में छद्मवेशी रावण, कुबेर की अलका के चारों ओर घूम-फिर कर सब घाट-घर देखने लगा। घूमते-घूमते वह शरवन में जा पहुंचा। यह शरवन सूर्य की धूप में सुवर्ण, सूर्य और अग्नि के समान चमक रहा था। यहां शरवन में कास इतना घना और ऊँचा था कि रावण को आगे की राह ही नहीं मिली। रावण अभी विमूढ़-सा हो इधर-उधर देख ही रहा था कि एक विकट पुरुष उसके पास आया। उसने रूखे स्वर में पूछा—

"तू कौन है रे पापिष्ठ, कैसे इस अगम वन में आने का तूने साहस किया?"

रावण ने उससे तनिक भी भयभीत न होकर कहा—

"तू ही कह, तू कौन है, और किस अभिप्राय से तू इस वन को अगम कहता है?"

"अरे, तो तू क्या नहीं जानता, यहां भगवान् रुद्र का निवास है। यह कैलाश की उपत्यका है।"

'यह रुद्र कौन है, जिनका नाम लेकर तू मुझे डराता है?"

"देव-दैत्य-पूजित भगवान् रुद्र को तू नहीं जानता है? अब भाग यहां से। इस अगम क्षेत्र में प्राणियों का आना निषिद्ध है। यहां मेरी चौकी है।"

"तू कौन है?"

"मैं भगवान् रुद्र का किंनर नन्दी हूं।"

"तेरे भगवान रुद्र रहते कहां हैं, उन्हें मैं भी देखा चाहता हूं।"

"तेरा दुस्साहस है। जा, जा, भाग जा। भगवान् रुद्र के दर्शन यों ही नहीं होते, साधना से होते हैं।"

"कैसी साधना से ?"

"वह तुझ अपात्र से मैं क्या कहू, तू यदि भगवान् रुद्र के कोप का भोग नहीं होना चाहता है, तो जल्द भाग जा।"

"पृथ्वी पर विचरण करने का हर एक प्राणी को अधिकार है। और मुझे तो ऐसा विचरण प्रिय है। तेरे रुद्र के कैलाश को भी मैं देखना चाहता हू, चल।"

इतना कह कर रावण हँस कर पर्वत पर चढ़ने लगा।

नन्दी ने बाधा देकर कहा—"मैं कहता हू—भाग जा, आगे न बढ़, यह अगम क्षेत्र है।" पर रावण ने नहीं माना, तो नन्दी ने उसे पकड़ कर पीछे ठेल दिया। इस पर रावण ने अनायास ही उसे उठाकर दूर फेंक दिया। उस पुरुष का ऐसा बल देख नन्दी आश्चर्य-चकित रह गया। नन्दी में भी अमोघ बल था। वह रावण की ओर देख कर बोला—"तू सत्ववान् पुरुष प्रतीत होता है। आ, मुझसे मल्ल-युद्ध कर।"

रावण तैयार हो गया। बहुत देर युद्ध करने के बाद रावण ने नन्दी को पछाड़ दिया। इस समय तक शोर-शप्पा सुन कर बहुत से गण वहां आ गए थे। वे सब मिलकर शोर मचाने और शस्त्र चमकाने लगे। नन्दी ने कहा—"नहीं, इसे मारो मत, यह सत्ववान् पुरुष है, इसे भगवान रुद्र की सेवा मे ले चलो।"

सब गण रावण को घेर कर ले चले। रावण भी अपना परशु कन्धे पर रख उनके साथ चल खड़ा हुआ। ज्यों-ज्यों वह पर्वत-शृग पर आरोहण करने लगा, त्यों-त्यो उसका सौन्दर्य देख मोहित होने लगा। चारों ओर मोहक, हिमाच्छादित गिरिशृंगों पर सुनहरी सूर्य की किरणें पड़कर रग-विरगी छटा दिखा रही थीं। पर्वतीय पक्षी जहा-तहां उड़ते बड़े भले प्रतीत होते थे। ज्यों-

ज्यों वह ऊपर चढ़ता जाता था, चारों ओर हिमाच्छादित पर्वत-शृंगों की पंक्तियां ही दृष्टिगोचर होती थीं।

कैलाश-शिखर पहुँच कर विकट गणों से सेवित रुद्र को उसने देखा। पिंगल जटा-जूट, कटि में बाघ-चर्म और दृष्टि में अन्तर्ज्योति। रावण ने ऐसे प्रभावशाली पुरुष को पहिले कभी नहीं देखा था। फिर भी उसने रुद्र को अभिवादन नहीं किया। अपना विकराल परशु कन्धे पर रख निर्भय सम्मुख आ खड़ा हुआ।

रुद्र ने देखा, देख कर नन्दी से पूछा—"यह कौन पुरुष है, और किस अभिप्राय से हमारे पास आया है?"

नन्दी ने कहा—"देव, इस पुरुष ने परिचय नहीं दिया। किन्तु यह कैलाश के नीचे के अगम क्षेत्र में घूम रहा था। मेरे रोकने पर इसने मुझ से विग्रह किया और मुझे पराभूत किया।"

"तुझे पराभूत किया? श्लाघ्य है तब तो यह पुरुष।" फिर रुद्र ने रावण की ओर मुख करके कहा—"अपना परिचय दे पुरुष, और मेरे अगम क्षेत्र में विचरने का कारण भी कह।"

रावण ने कहा—"महाभाग, मैं धनेश कुबेर का भाई रक्षपति लंकेश रावण हूं; मैं इस वन में स्वच्छन्द विचरण कर रहा था, तभी इस पुरुष ने मुझे बाधा दी। इसलिए विग्रह का दायित्व मुझ पर नहीं है।"

रुद्र ने सुन कर हँसते हुए कहा—"अच्छा, अच्छा, रावण तू ही है! स्वस्ति। तू कुशलपूर्वक तो है? मैंने धनेश कुबेर से तेरी बात सुनी है। पर तूने अपने ज्येष्ठ कुबेर की अवज्ञा की है, सो क्या सत्य है?"

"इस पर कौन विचार कर सकता है? मैं तो ऐसा नहीं समझता। मेरे भाई कुबेर ने यक्ष-संस्कृति स्थापित की है। किन्तु मैंने रक्ष-संस्कृति की स्थापना की है। हमारा मूल मन्त्र है—"वयं रक्षामः"—जो हम से सहमत हैं—उसे अभय। जो सहमत नहीं

है—उस के लिए मेरा यह कुठार है।"

रुद्र खूब जोर से हँस पड़े। उन्होने कहा—"आयुष्मन्, यही कुठार तेरा तर्क है।"

"मूल तर्क तो यही है।"

"किन्तु मैं तुझ से सहमत नहीं हू।"

"तो आपके लिए भी मेरा यह कुठार है।"

"मेरे पास भी यह त्रिशूल है।"

"तो अभी हमारा-आपका शक्ति-सतुलन हो जाय।"

"पर तू मेरा अतिथि है, समागत अभ्यागत है।"

"आप इसी त्रिशूल से मेरा आतिथ्य कीजिए। मैं युद्ध की याचना करता हूं, आप दिग्पाल महाभाग यमदेव के वशधर हैं। मैं विश्रवा मुनि का पुत्र हू। आप मेरे ज्येष्ठ हैं। इसी से मैं आप का शिरच्छेद नहीं करता, युद्ध की याचना करता हूँ। युद्ध देहि।"

"मैं भी तेरे शौर्य से प्रसन्न हू, तेरी युद्धाभिलाषा मैं पूरी करूगा, अभी तू विश्राम कर।"

"नहीं महाभाग, कार्य-पूर्ति ही मेरा विश्राम है। उठाइए त्रिशूल।"

"तब जैसी तेरी इच्छा।"

रुद्र ने हुकृति की, डमरूनाद कर त्रिशूल उठाया। डमरूनाद सुन कर बहुत से रुद्रगण, गन्धर्व, देव, यक्ष आ जुटे। वे रुद्र और रावण का वह विकट युद्ध देखने लगे। रावण को यह देख कर, बडा आश्चर्य हुआ कि उसके परशु प्रहार को कौशल से रुद्र विफल कर रहे हैं। और वे उस पर शूल का करारा वार ही नहीं कर रहे। उसे ऐसा प्रतीत हुआ कि जैसे कोई गुरु किसी बालक को युद्ध-शिक्षण दे रहा हो। रावण ने अपने जीवन मे ऐसा विकट पुरुष नहीं देखा था। अत में रावण थक कर हांफने लगा। उसका सारा अंग पसीने से भर गया। उसने अपना परशु फेंक

दिया और सामने खड़ा हो गया।

रुद्र ने हँसते हुए कहा—"क्या थोड़ा विश्राम चाहता है तू रावण ?"

"नहीं, विराम चाहता हूँ। आप युद्ध कहां करते हैं, खिलवाड़ करते हैं।"

"किन्तु तू युद्ध कर।"

"नहीं, शंकर !शंकर !!"

"यह क्या ?"

"शं—कल्याणं कुरु, आप देव हैं, देवपति हैं, यह रावण आपका किंकर है, आप इसका कल्याण कीजिए—शंकर ! शंकर !!"

रुद्र ने हाथ उठा कर हंसते हुए कहा—"कल्याण हो तेरा। तेरा शौर्य स्तुत्य है, तू अजेय है, किन्तु तेरी रक्ष-संस्कृति क्या है ?"

"वयं रक्षामः—हम रक्षा करते हैं। यही हमारी रक्ष-संस्कृति है। आप देवाधिदेव हैं। आप देखते ही हैं कि आर्यों ने आदित्यों से पृथक् होकर भरतखण्ड में आर्यावर्त बना लिया है। वे निरन्तर आर्यजनों को बहिष्कृत कर दक्षिणारण्य में भेजते रहते हैं। दक्षिणारण्य में इन बहिष्कृत वेदविहीन व्रात्यों के अनेक जनपद स्थापित हो गए हैं—फिर भारतीय सागर के दक्षिण तट पर अनगिनत द्वीप-समूह हैं; जहां सब आर्य, अनार्य, आगत, समागत, देव, यक्ष, पितर, नाग, दैत्य, दानव, असुर परस्पर वैवाहिक सम्बन्ध करके रहते हैं। फिर भी सब की संस्कृति भिन्न है, परन्तु हमारा सभी का एक ही नृवंश है और हम सब परस्पर दायाद बान्धव हैं। मैं चाहता हूँ कि मेरी रक्ष-संस्कृति में सभी का समावेश हो, सभी की रक्षा हो। इसी से मैंने वेद का नया संस्करण किया है और उसमें मैंने सभी दैत्य-दानवों की रीति-परम्पराओं को भी समावेशित किया है, जिससे सारा ही हमारा नृवंश एक वर्ग और एक संस्कृति के अन्तर्गत वृद्धिगत हो।

आप देखते हैं कि गत एक सौ वर्षों में तेरह देवासुर संग्राम हो चुके, जिनमे इन सब दायाद-बान्धवों ने परस्पर लड़ कर अपना ही रक्त बहाया। विष्णु ने दैत्यों से कितने छल किए। देवगण अब भी अनीति करते हैं। काश्यप-सागर-तट की सारी ही दैत्य-भूमि आदित्यों ने छल-बल से छीनी है। अब सुन रहा हूं, देवराट् इन्द्र बारहवें देवासुर-सग्राम की योजना बना रहा है। ये सब संघर्ष, युद्ध, तभी रोके जा सकते हैं, जब सारा ही नृवंश एक सस्कृति के आधीन हो। इसीलिए मैंने अपनी यह रक्ष-संस्कृति प्रतिष्ठित की है। आगे देव प्रमाण हैं।"

रावण का ऐसा सारगर्भित भाषण सुन कर रुद्र बहुत प्रसन्न हुए और रावण के सिर पर हाथ रख कर कहा—"तेरा प्रयत्न स्तुत्य है और मैं तुझ से प्रसन्न हूँ। मैं भी देव, दैत्य, असुर सब से समान प्रीति रखता हूँ।"

"तो मैं आपका अनुगत शिष्य और सेवक हूँ। आपने मुझे कल्याण-दान किया है, आप मुझे अनुमति दीजिए कि मैं आपको "शकर"—कल्याणदाता, कह कर आपकी वन्दना करूँ।"

इतना कह कर रावण ने घुटनों के बल बैठ कर रुद्र के चरणों में सिर नवाया। रुद्र ने दोनो हाथ उठा कर कहा—"कल्याण ते भवतु। शिव त अस्तु।"

रावण ने हर्षोन्मत्त हो नाचते हुए कहा—"आप देव हैं, देवाधिदेव हैं, आप शंकर हैं, आप शिव है।"

और तब सब रुद्रगणों ने, मरुतों ने, गन्धर्वों ने, देवों ने, "शकर, शकर," कह कर हर्षनाद किया। फिर रक्षपति रावण का अर्घ्य, पाद्य, अक्षत, मधुपर्क से सत्कार किया। रक्षराज के स्वागत-समारोह मे दिव्यागना, अप्सराओ ने नृत्यगान कर कैलाश को मुखरित कर दिया।

गुह्याद्गुह्यतमम्

रुद्रोवाच—"किमिद जले विमलेह्यात्मनि पश्यसि ?"

"यथैवेहं भगवः साध्वलंकृतस्सुवसन. परिष्कृतश्च एवमेव ।"

"एष आत्मेत्येतदमृतम् ।"

"एष आत्मेत्येतदमृतम् ?"

"एष आत्मेत्येतदमृतम् ।"

"आत्मैवेह मह्यय आत्मा परिचर्य आत्मानमेवेहमह्यन्नात्मनं परिचरन्नुभौ लोकाववाप्नोमि ।"

"उभौलोकाववाप्नोति श्चासुश्चेति ।"

"तस्मांदप्यद्येह्याददानमश्रद्दधानमयजमानं शरीरं वसनेनालंकारेणेतिसंस्कुर्वामह्यमुलोकं जेष्याम इति ।"

"असत्यमप्रतिष्ठमनीश्वरमिदं जगत् ।"

"ईश्वरोऽहम् ।"

"एतद्गुह्यंगुह्यतमम् ।"

"काचापरापरावेति भगव ।"

"द्वेविद्ये, पराचैवापराच । तत्रापरावेदो । परायययायदक्षरमधिगम्यते ।"

"किमक्षरं भगव ।"

"जीवनम् । विरामोमृत्युस्तवद्धुद्गमोजन्मः ।"

"यज्ञरूपं भगव ।"

"योपावाअग्निस्तस्य उपस्थ एव—समिल्लोमानिधूमोयोनिरर्चियदन्तः करोति तेङ्गारा समिल्लोमानिधूमोयोनिरर्चिर्यदन्तः करोतितेऽङ्गारा अभिनन्दा विस्फुल्लिगास्तस्मिन्ने तस्मिन्नग्नौ रेतो जुह्वति

तस्मादाहुत्यै पुरुष सभवत्ति ।"

' उपमन्त्रयते सहिंकारो, ज्ञपते स प्रस्तावः, स्त्रिया सह शेते स उपगीथ., प्रतिस्त्री सह शेते स प्रतीहार, कालं गच्छति स निधनं पारं गच्छति तन्निधनमेतद्वामदेव्य मिथुने प्रोतम् ।"

"स य एवमेतद्वामदेव्य मिथुने प्रोतवेद मिथुनी भवति मिथुनान्मिथुनात्प्रजायते सर्वं यायुरेति ज्योग् जीवति महान् प्रजयापशुभिर्भवति महान् कीर्त्या न कांचन परिहरेत् तत् व्रतम् ।'

"कस्यरेत पुराहुतम् ।"

"रुद्रेणमया त्रैलोक्य सविकारं निर्गुण गणं रेतोद्भवम् ।"

"हेतुभिर्वाकिमन्यैस्तै. कारण रणांका लिंगमभ्यर्चितम् ।"

"अर्चयेथा. सदा लिङ्ग । वसा भगांङ्का स्त्रियो लिङ्गेनापि प्रत्यक्ष चिन्हीकृता सर्वपुरुषा. ।

लिङ्गाका भगाङ्का च प्रजा । पुंलिंग सर्वमीशान स्त्रीलिङ्ग विद्धि चाप्युमाम् । द्वाभ्यां तनुभ्या व्याप्त हि चराचरमिद जगत् ।

एतद्गुह्यं गुह्यतमम् ।"

रावणः कृतवद्धांञ्जलिः—

"ओम् प्रमत्त शक्ति सम्पन्नं वाणाख्य च महाप्रभम् ।

कामवाणान्वितं देव ससार दहनक्षमम् ।

श्रृंगारादिरसोल्लास वाणाख्य परमेश्वरम् ।

ओम् पिनाकधृक् , इहागच्छ, इहतिष्ठ, इहतिष्ठ, इहसन्निधेहि, इहसन्निधेहि, इहसन्निरुद्धस्व, इह सन्निरुद्धस्व, अत्राधिष्ठान कुरु ।

स्वस्तिनो रुद्र पात्वं हसः

गौरीर्मिमाय सालिलानि तक्षती ।"

४७

लिंग-पूजा

पिछला परिच्छेद "गुह्यावगुह्यतमम्" हमने संस्कृत में लिखा है। गुह्यांग का आवरण सभ्यता का प्रतीक है। इसलिए गुह्य बातें भी अनवरत न रहनी चाहिएँ। इसी से गुह्य पर हमने संस्कृत भाषा का आवरण डाला है। कोई आवश्यक नहीं कि पाठक इस अध्याय को पढ़ें ही। केवल वे लोग, जो इस गुह्योपदेश की पूरी गहराई तक पहुँचना चाहते हैं, इस अध्याय को मनन करने की चेष्टा करें। फिर भी इस गुह्योपदेश की थोड़ी-सी व्याख्या दार्शनिक और पौराणिक आधारों पर; उसमें यत्किंचित् वैज्ञानिक सम्पुष्टि देकर हम यहां करते हैं।

इस गुह्योपदेश का अभिप्राय यह है कि जीवन और शरीर एवं मनुष्य, विश्व की सबसे बड़ी इकाई है। कोई देव उससे बड़ा नहीं। मनुष्य ही सब से बड़ा देव है, और उसे अपनी ही पूजा-अर्चना करनी चाहिए। उपनिषदों में इस तत्व की व्याख्या इस प्रकार की गई है—"देवराज इन्द्र और देवराज विरोचन दोनों ही प्रजापति के पास आत्म जिज्ञासा के लिए गए, और प्रजापति ने उन्हें यही गुह्योपदेश दिया। इन्द्र ने शंकाएं कीं, परन्तु विरोचन अशंक भाव से चला गया और उसने असुरजनों में आत्म-पूजा का प्रसार किया। यही कारण है कि मिस्र के प्राचीन असुर राजाओं ने अपने मृत शरीरों को सजा कर बड़े-बड़े पिरामिडों में स्थापित किया, जिनका आश्चर्यजनक और रहस्यपूर्ण विवरण पुरातत्ववेत्ताओं ने भूगर्भ से प्राप्त किया है। आत्म-पूजन का यह प्रचार वास्तव में मूल रूप से सबसे पहिले रावण ने ही

प्रसारित किया था और उसके आदि उद्‌गाता देवाधिदेव रुद्र थ।

दूसरा प्रश्न जो इसी आत्म-पूजन से सम्बन्धित है और उपनिषद् में वर्णित है, ईश्वर या देवता के तत्व को स्वीकार न कर के इस प्रजनन-विधान को यज्ञ कहा है। प्रजनन की घटना को जो इतना महत्व उस युग में दिया गया, यह एक अज्ञानमूलक जंगली प्रथा थी या विज्ञान का उच्च अंग-था, इस सम्बन्ध में हम अपनी कोई राय प्रकट न कर केवल तथ्य पर ही प्रकाश डालते हैं।

प्रजनन-विज्ञान चराचर प्राणियों में नर-नारी के मिथुन-संयोग से उत्पन्न होता है। इसलिए प्राचीन काल से प्रजा की वृद्धि में मिथुनी सृष्टि के महत्व पर प्रमुख पुरुषों का ध्यान गया; और उन्होंने इस घटना को एक अत्यन्त चमत्कारिक और आश्चर्यजनक पाया कि किस प्रकार नर-नारी के सयोग से गर्भ स्थापित होकर एक नवीन प्राणी का जन्म होता है। और स्वाभाविक रूप से उस काल से पुरुषों का ध्यान नर-नारी के गुह्य प्रजनन इन्द्रियों के महत्व की ओर गया, और उन्होंने प्रजनन इन्द्रियों को विश्व के सब से अधिक महत्वपूर्ण और शक्तिशाली तत्व के रूप में स्वीकार करके पूजित किया। कहा जाता है कि प्रजनन-विज्ञान को एक धार्मिक रूप देने का कार्य सब से प्रथम रुद्र ने किया, और उन्होंने एक हजार अध्याय का "काम-विज्ञान-शास्त्र" निर्माण किया। उन्होंने जननांग को सब कारणों का कारण कहकर पूजित किया, जिसका परिणाम यह हुआ कि लिंग-पूजन की वृद्धि प्राचीन जातियों में स्थान पा गई।

हम यहां पर थोड़ी और गहराई से वैज्ञानिक विश्लेषण करेंगे। जीवित प्राणी का यह अनिवार्य लक्षण है कि वह अपनी परिस्थिति में जितने रासायनिक उपादान पाए सबको अपने जटिल सादृश्य में परिणत कर दे। यह परिणयन-पाचन करना और

विसर्जन करना इन दो क्रियाओं के रूप में अनवरत चलता रहा है। परन्तु विसर्जन देर में और पाचन जल्दी होता है। परन्तु जिस तरह आयतन बढ़ता है, उस तरह ऊपरी तल, जो आहार पहुंचाने का साधन है, अनुपात से नहीं बढ़ता। एक हद तक बढ़ कर रुक जाता है। इसलिए वृद्धि अपरिमित नहीं होती। चींटी से हाथी तक, व कीटाणु से किसी भी महाकाय जन्तु तक पहुंच कर व्यक्तित्व की अभिवृद्धि रुक जाती है। बाहरी तल और आयतन में शरीर के भीतर एक ऐसा अनिवार्य अनुपात है कि जिसके भंग होने से वृद्धि रुक जाती है और तब व्यक्तिगत ह्रास और वृद्धि का अनुपात समान हो जाता है। बड़े शरीरों वाले सभी जीवों को ऐसी कठिनाइयां का सामना करना पड़ता है। परन्तु सूक्ष्म देहधारी जीव, जिन्हें सेल कहते हैं, उनके सामने यह कठिनाई नहीं आती। जहां उनकी बाढ़ रुकती है, वहां वे बीच से फटकर दो हो जाते हैं। इस तरह वहां आयतन नहीं बढ़ता। आयतन बढ़ने के बदले उनकी संख्या बढ़ जाती है। एक से दो, दो से चार, चार से आठ। इस प्रकार उनकी अनन्त संख्या हो जाती है। इस वृद्धि में ह्रास नहीं होता और प्रत्येक व्यक्ति पूर्ण है और निरन्तर बढ़नेवाला है। इस प्रकार यह सेलों-वाले सूक्ष्म जीवाणु "एकोऽहम् बहुस्याम्" के सिद्धान्त को चरितार्थ करते हैं, और इसी मे "पूर्णमिदः पूर्णमिद" की घटना घटित होती है। परन्तु ज्यों ज्यो शरीर मे स्थूलता आती जाती है यह भेदज उत्पत्ति कठिन होते-होते समाप्त हो जाती है। षट्पद या अष्टपद प्राणी इस तरह फट-फट कर नहीं बढ़ सकते। यहां प्रकृति अंकुरण से काम लेती है, जिसमें सारा शरीर ज्यों का त्यों रहता है। उसका केवल एक छोटा-सा एक अंश कटा-सा रहता है और धीरे-धीरे दूसरे शरीर का जब अच्छा-सा पूर्ण रूप तैयार हो जाता है तब वह अंश अपने पैदा करने वाले बड़े शरीर से बिल्कुल अलग

हो जाता है, और उसका व्यक्तित्व अलग बढ़ने लगता है। ऐसा अङ्कुरण मूंगों में और कुछ विशेष प्रकार के कीड़ों में और थोड़े से रीढवाले क्षुद्र जन्तुओ में होता है। परन्तु अस्थि-पिंजर की जटिलता बढ़ने पर अंकुरज प्राणियों की बाढ़ भी रुक जाती है और यह वृद्धि छोटे-छोटे उपादों तक पहुँच पहुँच कर समाप्त हो जाती है।

इसके बाद ही तुजन्ओं में मैथुन का आरम्भ होता है। मैथुन का अर्थ है जोडा। दो अकेली सेलें जुड़कर एक सेल बन जाती है। इनमें से एक सेल लिंग अथवा शुक्र होती है, दूसरी योनि अथवा डिम्ब। इस क्रिया के लिए दो व्यक्तियों के शरीर से एक-एक जनक और जननी सेलें निकल कर परस्पर मिल कर एक सेल बनती हैं। वही नए व्यक्ति का मूल रूप है। नई सेल भेदन-रीति से सख्या-वृद्धि करती-करती असंख्य सजातीय सेल बना कर नए स्थूल शरीर का ढांचा तैयार करती हैं। भेदन और अङ्कुरण-वाली वृद्धि में नर-नारी का कोई भेद नहीं होता। परन्तु बड़े शरीरों में, चाहे चल हो या अचल, यह भेद अनिवार्य हो जाता है कि नर का वीर्याणु हो और नारी का डिम्बाणु। वीर्याणु का रूप भी लिङ्गाकार होता है और डिम्ब की अनुरूपता योनि-पीठिका से मिलती-जुलती रहती है। चराचर प्राणियों में इस प्रकार वृद्धि की विधि में लिङ्ग और योनि व्यापक हैं।

उस अत्यन्त प्राचीन काल में इसी गुह्य वैज्ञानिक और दार्शनिक प्रजनन-आधार पर नर-नारी की गुह्येन्द्रियों का पूजन प्रारम्भ हुआ, जिसका आरम्भ रुद्र से हुआ। और इसलिए लिङ्गोपासना की विधि में ससार की सभी प्राचीन जातियों ने रुद्र या शिव को सम्मिलित किया और रुद्र के व्यक्तित्व को नृवंशों की समष्टि में आरोपित कर लिङ्ग-पूजन को शिव-लिंगार्चना का रूप दिया। लिंग का धार्मिक अर्थ किया गया "लयनाल्लिङ्ग-

मुच्यते" अर्थात् लय या प्रलय होता है, इससे उसे लिंग कहा है।

कुछ अल्पायु वाले छोटे-छोटे शरीरों में मैथुनी वृद्धि में कुछ कठिनाई होती है। एक नन्ही सी जननी एक बार में थोड़े ही से डिम्ब उपजाती है। यदि जनकों की आवश्यकता न पड़े तो दूनी शक्ति वृद्धि में लग जाती है। इसलिए, जहां विभाजन या अंकुरण के लिए शरीर अधिक जटिल है और मैथुनी विधि के सुभीते नहीं हैं, वहाँ "पृथा जनन" की विधि काम आती है। इसमें शुक्र या लिंग-जीवाणु के बिना ही काम चल जाता है। यह डिम्ब ज्यों ही प्रौढ़ता को पहुँचते हैं त्यों ही शरीर की रचना होने लगती है। मधुमक्खी का नर इसी प्रथा—जनन-विधि—से उत्पन्न होता है। उसके माता-पिता नहीं हैं—परन्तु रानी मक्खी वीर्याहित अण्डों से ही पैदा होती है। इस प्रकार जननक्रिया के हिसाब से चार प्रकार के प्राणी संसार में हैं—भेदज, अंकुरज, मैथुनज और अनादिताण्डज। अब विश्वसृष्टि के नियमन में मैथुनी क्रिया प्रकृति में अपने आप उपजी या किसी ईश्वर या कर्ता का इसमें हाथ है, यह विचारणीय है। रुद्र और रावण ने किसी दैवी कर्त्ता को स्वीकार नहीं किया। उन्होंने मनुष्य को ही अपनी सृष्टि का कर्ता-धर्ता माना और अपने ही को ईश्वर कहा। लाखों-करोड़ों वर्षों में विकसित होकर अयोनिज से योनिज सृष्टि हुई है। मनुष्य-बुद्धि की यह कल्पना है कि उसने जगत की प्रवृत्ति काम-वासना की ओर देखकर समस्त प्राणियों को काममोहित पाकर लिंग-योनि की उपासना की नींव डाली।

ईसाई धर्म के प्रचार के पूर्व पाश्चात्य देशों की प्रायः सभी जातियों में किसी न किसी रूप में लिंग-पूजा की प्रथा प्रचलित थी। रोमक और यूनान दोनों देशों में क्रमशः प्रियेपस और फल्लुस के नाम से लिंग-पूजा होती थी। फल्लुस फलेश का बिगड़ा रूप है। इन दोनों राष्ट्रों के प्राचीन धर्म का लिंग-पूजा

प्रधान धर्म-चिन्ह था। वृषभ की मूर्ति लिंग के साथ ही पूज्य थी। पूजन-विधि हिन्दुओं की भांति धूप-दीप आदि द्वारा होती थी। मिस्र देश में तो "हर" और "ईशिः" की उपासना उनके धर्म का प्रधान अंग था। इन तीनों देशों में फाल्गुन मास में, वसन्तोत्सव के रूप में लिंग-पूजा वार्षिक समारोह से हुआ करती थी। मिस्र में "ओसिरि." नाम के देवता एथिओपिया के चन्द्रशैल से निकली हुई नील नदी के अधिष्ठाता माने गए थे। प्लुटार्क का कहना है कि उस समय मिस्र में प्रचलित लिंग-पूजा सारे पच्छिम में प्रचलित थी।

प्राचीन चीन और जापान के साहित्य में भी लिंग-पूजा का उल्लेख है। अमेरिका मे मिली प्राचीन मूर्तियों से प्रमाणित है कि अमेरिका के आदि निवासी लिंगपूजक थे। ईसाईयों के पुराने अहदनामे में लिखा है कि रैहोवोयम के पुत्र आशा ने अपनी माता को लिंग के सामने बलि देने से रोका था। पीछे उस लिंग-मूर्ति को तोड़-फोड़ दिया था। यहूदियों का देवता बैल फेगो लिंग-मूर्ति ही था। उसका एक गुप्त मन्त्र था, जिसकी दीक्षा यहूदी ही ले सकते थे। मौयावी और मारिना निवासी यहूदियों के उपास्यदेव लिंग की स्थापना फेगी शैल पर हुई थी। इनकी उपासना-विधि मिस्रवासियों से मिलती-जुलती थी। पहाड़ पर जंगल में बड़े वृक्ष के नीचे यहूदियों ने लिंग और बछडे की मूर्ति स्थापित की थी। उसे वे बाल नाम से पूजते थे। वेदी के सामने धूप देते और लिंग के सामने वाले वृषभ—"नन्दी" को हर अमावस्या को पूजा चढ़ाते थे। मिस्र के ओसिरिस के लिंग के सामने भी बैल रहता था।

अरब में मुहम्मद के प्रादुर्भाव से प्रथम "लात" नाम से लिंग-पूजन होता था। इसी से पच्छिमी लोगों ने सोमनाथ के लिंग- को भी "लात" कहा है। "लात" की मूर्तियां दोनों

जगह बहुत विशाल और रत्न-जटित थीं । कहते हैं कि वह लिंग पचास पोरसा ऊँचा एक ही पत्थर का था । संभव है, इस विराट-काय लिंग के "लात" नाम पर ही, विजय-स्तम्भों को "लाट" का नाम दिया गया—जैसे कुतुब की लाट । और यह भी सम्भव है कि ये विजय-स्तम्भ उसी देवता "लात" के प्रतीक हों । रिचर्डसन कोपकार का कहना है कि "लात" अल्लाह की सबसे बड़ी पुत्री का नाम था, और उसका चिन्ह व मूर्ति लिंग की आकृति की थी । पाठकों को यह न भूलना चाहिए कि अल्लाह, इलाही, इलोई प्राचीन वरुण देव के ही नाम हैं ।

मक्का के काबे में जो लिंग है, उसे भविष्य पुराण मक्केश्वर के नाम से उल्लेख करता है । यह एक काले पत्थर का लिंग है, जिसे मुसलमान संगे-असवद-कहते हैं । पहिले इसराइली और यहूदी इसकी पूजा करते थे । मुहम्मद के जीवन-काल में इसकी पूजा पण्डों के चार कुल करते थे । फ्रान्स में भी प्राचीन काल में लिंग-पूजा का प्रचलन था । वहां के गिरजों और म्यूज़ियमों में लिंग के पत्थर स्मारक भी भांति रखे हैं । पाश्चात्य देशों में लिंगाची एक सम्प्रदाय ही था, जिसे फालिसिज्म कहते थे । भारत में भी दक्षिण में लिंगायत सम्प्रदाय है ।

इजिप्ट-मेसिफ और अशीरिस प्रान्तों में नन्दी पर बैठे हुए त्रिशूल-हस्त और व्याघ्र-चर्मधारी शिवमूर्त्ति की पूजा बेलपत्र से करते तथा दूध से अभिषेक करते थे । बेबिलोन में एक हजार दो सौ फुट का एक महालिंग था । ब्रेजिल प्रदेश में अत्यन्त प्राचीन अनेक शिव-लिंग हैं । इटली में अनेक ईसाई शिवलिंग पूजते हैं । स्काटलैण्ड के ग्लासगो नगर में एक सुवर्णाच्छादित शिवलिंग है, जिसकी पूजा होती है । फीजियन्स में 'एटिक्स' व निनवा में 'एषीर' नाम के शिवलिंग हैं । यहूदियों के देश में भी बहुत से प्राचीन शिवलिंग हैं । अफरीदिस्तान, काबुल,

बलखबुखारा आदि स्थानों में अनेक शिवलिंग हैं, जिन्हें वहां के लोग पचशेर और पचवीर नामों से पुकारते हैं।

इण्डोचाइना के "अनाम" में अनेक शिवालय हैं। प्राचीन काल में इस देश को चम्पा कहते थे। वहां के प्राचीन राजा शिवपूजक थे। वहां संस्कृत में अनेक शिलालेख तथा अनेक शिवमूर्ति और लिंग मिले हैं। कम्बोडिया में—जिसका प्राचीन नाम "काम्बोज" है तथा जावा, सुमात्रा आदि द्वीपों में भी अनगिनत शिवलिंग मिले हैं। वहां के लोग लिंग-पूजन करते थे। भारत-चीन (इण्डोचीन, श्री क्षेत्र (मध्य बर्मा), हंसावती (दक्षिण वर्मा) द्वारावती (श्याम), मलयद्वीप आदि सर्वत्र शिवलिंग और शिवमूर्ति पाई जाती हैं।

वैविलोनिया, मिस्र, चीन और भारत में प्राप्त शिवलिङ्गों को यदि ध्यान से देखा जाय तो यौन-उपासना के एक अविश्वसनीय तथ्य का रहस्योद्घाटन होगा। मसीह से बहुत पूर्व से लेकर ईस्वी सन् से बहुत बाद तक भी ऐसा प्रतीत होता है कि स्त्री-पुरुष की स्वतन्त्र और मिथुन-रूप में पूजा होती रही है। इन सभी देशों में ऐसे देवताओं की पूजा प्रचलित थी, जिन के सम्बन्ध में कहा जाता है कि उनमें स्त्री और पुरुष दोनों का समान प्रतिनिधित्व था। बाइबिल में आदम, जो पृथ्वी पर आने वाला प्रथम व्यक्ति है, स्त्री-पुरुष का समान प्रतिनिधित्व लेकर आया। उसमें स्त्री पुरुष दोनों ही की रचनात्मक शक्ति थी।

गाजो में एक प्राचीन सिक्का प्राप्त हुआ है। उस पर मुद्रा अंकित है, जिससे पता चलता है कि देवता 'अश्वात' की दो आकृतियां थीं। इस प्रकार के देवताओं को, जिनमें स्त्री-पुरुष दोनों तत्व निहित रहते थे, आत्मतुष्ट कहा गया है। यूनान के "एपौलो" तथा "डायना" के सम्बन्ध में कहा जाता है, कि उनमें स्त्री-पुरुष दोनों का समान प्रतिनिधित्व था। वैविलोन वाले यह विश्वास रखते थे, कि सब से प्रथम जो पुरुष उत्पन्न हुआ

उसके दो सिर थे—एक स्त्री का, दूसरा पुरुष का। शरीर मे भी दोनो लिंगो की इन्द्रियां अंकित थीं।

शैव हिन्दू शिव का एक रूप अर्धनारीश्वर मानते हैं। इलोरा की गुहा में अर्धनारीश्वर की एक भव्य मूर्ति है। वैसे भी शरीर का वायां अंग स्त्री का माना जाता है। हिन्दू पत्नियां अर्धांगिनी कहाती हैं। अनेक देशो के पुरातन साहित्य मे कहा गया है कि पहले स्त्री-पुरुष जुड़े हुए थे, पीछे पृथक्-पृथक् हुए। "प्लेटो" भी इसी धारणा पर विश्वास करते थे। अनेक दार्शनिक बारहवीं शताब्दी तक यही धारणा रखते थे।

नृत्य में हाथों की उंगलियो की भाव-भंगिमा और मुद्रा से विभिन्न यौन-संकेत निकलते थे। प्राचीन काल मे मिस्र में हाथों को रचनात्मक शक्ति का प्रतीक माना जाता था। तर्जनी से यदि सामने की ओर संकेत कर शेष उंगलियो को मोड़ लिया जाय तो उससे पुरुष-लिंग का संकेत होता था। भारतीय नृत्य में हाथ के दोनो अंगूठो को आपस मे मिला कर दोनो हाथो की तर्जनी को मिलाती हुई उंगलियों को सीध मे तान देने से योनि का संकेत बोध होता है। यदि दोनो हाथो की हथेलियों को परस्पर मिला कर, दोनो तर्जनियो को संयुक्त रूप मे ऊपर खड़ा कर दिया जाय, और शेष उंगलियां परस्पर आबद्ध होकर झुकी रहें, तो वह संभोग की भाव-व्यंजना का बोध करती हैं।

शिव के साथ जहां लिंग-पूजन का एकीकरण हुआ, वहां शिव के साथ सर्पधारण की भी बात है। प्रसिद्ध है कि शिव सर्प को धारण करते हैं। प्राचीन मिस्र के भित्ति-चित्रो मे सांप को अपनी पूंछ निगलते दिखाया गया है, इसका यह अर्थ है कि वह अपने आप मे पूर्ण इकाई है। यूनान के पुराने मठों में जीवित सर्प रखे जाते थे, जिनकी रक्षा की व्यवस्था मन्दिर की देव-दासियों के जिम्मे होती थी। इन देवदासियों को नाग-कन्या

कहते थे। खासकर "एपोला" के मंदिर में सर्प पाले जाते थे जहां स्त्री, नगी होकर उन्हें खाना खिलाती थीं। गेहुवन सर्प मिस्र के पुराने शिला-चित्रों मे अंकित पाया गया है। बेबिलोन में देवी इश्तार के पूजक सर्प की भी पूजा करते थे। भारत मे "नाग पंचमी" के दिन सर्प की पूजा बहुत दिन से प्रचलित है। अत्यन्त प्राचीन काल में मिस्र, यूनान, भारत, चीन और जापान के लोग कमल और कुमुदिनी के फूलों को इसलिए महत्व देते थे कि कमल फूल में स्त्री-पुरुष दोनों का ही प्रतिनिधित्व माना जाता था। कली में स्त्री-भाव और फूल में पुरुष-भाव माना जाता था। इन फूलों से मंदिर का भी शृंगार होता था। भूमध्य सागर के अनेक देशों के प्राचीन निवासी प्राचीन काल से डायन-जोगन के भय से गले में लिंग के आकार का तावीज बांधते हैं। भारत मे भी ऐसे तावीज वांधे जाते हैं। बैबिलोनिया और प्राचीन फ्रांस में लिंग और योनि के आकार की रोटियां बना कर खास उत्सव के समय देवी-पूजा करके खाई जाती थीं। मैक्सिको और मध्य उत्तर अमेरिका में भी लिंग-पूजा प्रचलित थी। यूसेन वर्क प्रसिद्ध लेखक लिखता है कि प्लोलमी फिखाड़े लफस के समय एक वृहद् लिंग की स्थापना की गई थी, जिसकी लबाई ३६० फीट थी। यह लिंग ऊपर से स्वर्णमण्डित था। हिरोपोलिस मे वेनस के मन्दिर के सामने दो सौ फीट ऊँचा एक पत्थर का लिंग स्थापित था।

रुद्र के साथ नन्दी का सम्बन्ध बताया गया है। नन्दी को अब एक बैल के रूप मे शिव का वाहक कहा गया है। हम बता चुके हैं कि वैदिक साहित्य में रुद्र को एक सांढ़ के समान शक्तिशाली बताया गया है। आश्वलायन गृह्य सूत्रों मे एक शूलगव यज्ञ का उल्लेख है, जिसमें एक चितकबरे बैल को मार कर "रुद्राय महादेवाय जुष्टोवर्धस्व हराय, कृपाय, शर्वाय, शिवाय, भवाय, महादेवायोग्राय, पशुपतये, रुद्राय शकरायेशानायाऽशनये स्वाहा"—इस

प्रकार मन्त्रों से उसकी पूंछ, चाम, सिर और पैर की आहुति देने का उल्लेख है।' वैभाकद्फिसेस के सिक्कों पर महेश्वर की मूर्ति और नन्दी बैल की मूर्ति चिन्हित मिली है। इसका राज्य-काल सम्भवतः ईसा की पहिली शताब्दी माना जाता है। मिस्र में, जहां शिव का स्थान माना गया है, बैल-पूजा अत्यन्त प्राचीन काल में लिंग-पूजा ही के समान मानी गई थी। रोमन जूलियस सीज़र ने लिखा है कि मिस्र में एक देवता "असीरन" माना जाता था, जिसकी आकृति सांढ़ की थी। इसे उत्पादन का द्योतक माना जाता था। "एपिस" नामक सांढ़ के पूजन का भी उल्लेख मिस्र के प्राचीनतम इतिहास में है। इस बैल में पूजनीय होने के लिए कुछ खास चिन्ह होने आवश्यक थे, जैसे पद का काला रंग, माथे पर उभरा हुआ सफेद चौकोर चिन्ह, पीठ पर गरुड़-जैसा चिन्ह। इन चिन्होंवाला बैल ज्यों ही कहीं मिल जाता था, वह तुरन्त पिंजरे में बन्द कर दिया जाता था। उसे अच्छा भोजन और सोने को नर्म बिछौना दिया जाता था। पीने के लिए पानी भी पवित्र कुएँ से पहुँचाया जाता था। लोग उसे एकान्त में रखते थे। केवल उत्सवों के समय में ही बाहर निकालते थे। मन्त्रों द्वारा उसकी स्तुति, आराधना होती थी, और लगातार सात दिन तक उसका जन्मोत्सव मनाया जाता था। बाहर से आया कोई दर्शक बिना उसका दर्शन किए वापस न जा सकता था। जब इसकी मृत्यु होती थी, तो उसे सुगन्धित लेपों से अत्यन्त धूमधाम से दफनाया जाता था।

वैदिक पणिः लोग, जो योरोप में फणिश कहाते हैं, और इब्रानी जाति के पूर्वज हैं, वे भी लिंगपूजक थे। वे बालेश्वर लिंग की पूजा करते थे। बाइबिल में इसे 'शिउन' कहा गया है।

मोहनजोदड़ो और हरप्पा में जो लिंग मिले हैं, वह तमाम थोथी दार्शनिक बातों को खत्म कर देते हैं। वे वास्तव में शिश्न की आकृतियाँ हैं।



४८

मायानगर का वर्ष-नक्षत्र

पुरातत्व और इतिहास इस बात की साक्षी हैं कि अब से हजारों वर्ष पहिले उत्तर अमेरिका के दक्षिण सीमान्त में, जिसे आजकल मध्य अमेरिका कहते हैं, एक 'मय' नाम की अत्यन्त शक्तिशाली जाति रहती थी। हमारे प्राचीन पुराण-साहित्य में 'मय' एक दानवेन्द्र है, जो वास्तुशास्त्र का आदि पुरुष माना जाता है। अमेरिका की यह 'मय' जाति भी विशालकाय शिला-भवनों के निर्माण में प्रसिद्ध थी। 'मय' ने असुरों, दानवों और दैत्यों के लिए बड़े-बड़े प्रासाद, नगर, हर्म्य और पुरों का निर्माण किया था। त्रिपुर-युद्ध में इस जाति के नेता दानव को शिव ने आक्रान्त कर उसके त्रिपुर को विध्वंस किया था। वर्तमान मिस्र के पच्छिम त्रिपोली प्रदेश व उसका मुख्य नगर त्रिपोली है। यही वह त्रिपुर है जिसे शिव ने विध्वंस किया था। त्रिपोली प्रदेश का कुछ भाग, जो सिरटियन सागर के नाम से प्रसिद्ध है, जलमग्न है। अभी कुछ दिन पूर्व इस जलमग्न नगर का पता पुरातत्व के अन्वेषकों को लगा था।

अमेरिका के प्राचीन 'मय' लोगों के भवन, मन्दिर और स्तम्भ आश्चर्यचकित करनेवाले है। मय जाति की सभ्यता आश्चर्य-जनक और रहस्यपूर्ण है। पाश्चात्य पुरातत्वविद् उसे "अमेज़िंग और पज़लिंग" कहते हैं। इस मय जाति के साम्राज्य की प्राचीन राजधानी चिचेन आइत्ज़ा थी, जिसके भग्नावशेष और ध्वस्त देव-मन्दिरों के अवशेष तथा राजप्रासादों की खुदाई से जो सामग्री मिली है, उससे इस प्राचीन महाजाति की अद्भुत सभ्यता और

कला-कौशल का कुछ अनुमान किया जा सकता है। अद्भुत रीति से निर्मित कई प्राचीन मय-नगरियों का उद्धार, अभी हाल मे जगलों को तथा सदियों के पक-प्रलेप आदि को परिष्कृत कर किया गया है। चिचेन आइजा—जो इस मय-साम्राज्य की कभी राजधानी रही थी—अतीव सुन्दर नगरी थी। उस नगरी की दीवारे रंग-बिरंगी और विविध कला-चित्रों से चित्रित थीं। ग्रीष्म ऋतु के विहार, खेल-कूद और आमोद-उत्सव के अनेको चिन्ह वह मिले हैं। कुछ लोगों का यह भी अनुमान है कि "ग्वाटे माला" की उच्च सम भूमि पर अवस्थित "वेटेन" नामक झील के निकट इन मय लोगों का प्रथम उपनिवेश था। वहां से उत्तर की ओर बढ़ते हुए वे "युकटन" तक पहुँचे और "चिचेन–आइजा" नगरी की स्थापना की।

आरम्भिक छै शताब्दियों तक मेक्सिको की खाड़ी से लगाकर होडुरस-उपसागर पर्यन्त भिन्न-भिन्न स्थानों में मय लोगों ने निवास किया। नगर बसाए, भवन और देवस्थान बनाए। यह वह युग था, जब वहां का यातायात अति कठिन था। यह एक चमत्कारिक बात है कि इन कठिन समयों में इस जाति ने कैसे ऐसी उन्नति कर ली। पीछे उन्हें दुर्दिनों का सामना करना पड़ा। उनमें संभवत बड़े-बड़े निर्णायक युद्ध हुए—तभी अनेक सम्पन्न नगरों के साथ उनकी महान् नगरी, चिचेन आइजा, भी उजड़ गई।

मय जाति के बनाए हुए नगरो में गगनचुम्बी अट्टालिकाएं थीं। उनके राजमार्ग शिला-फलकों से आच्छादित थे। मीलों लम्बी-चौड़ी सड़कें थीं, जो एक नगर को दूसरे से मिलाती थीं। वे सभवत ज्योतिष-विद्या के भी पारंगत थे। वे ग्रहणों का विवरण तिथि, वार, जानते थे। इस मय जाति के वहां अनेक शिला-लेख प्राप्त हुए हैं। कुछ हस्तलिखित ग्रन्थ भी हैं। उन्हीं से उनके अन्त विद्रोह का पता लगता है, पर वह बहुत आधुनिक ईसा की

प्रारम्भिक शताब्दियों ही का है।

यह भी ज्ञात हुआ है कि उन पर स्पेनवालों ने आक्रमण कर उनका अन्त मे विनाश किया, और उनका इतिहास भी नष्ट कर डाला, जिससे इस जाति का पूर्व इतिहास अंधकार में डूब गया। प्राचीन राजधानी की सफाई और खुदाई से वहां मन्दिर, महल, पिरामिड, बाजार, नाट्यगृह, कब्र तथा अट्टालिकाएं निकली हैं, जो आजकल के नगरों के समान हैं। मीलों तक बस्ती के चिन्ह देखने को मिलते हैं। एक ऐसे बृहद् आकार का मन्दिर है, जिसमें हजार खम्भे थे। योद्धाओं के भी भवन होते थे। योद्धा बड़ी-बड़ी ढाल बांधते थे। वहां की चित्र-विद्या, मूर्ति-विद्या, तथा अलंकारों की बनावट मिस्र से मिलती है। ईस्वी सन् १५८२ में स्पेन के किसी सेनानायक ने किसी अलभ्य ग्रन्थ के आधार पर, जो उसे वहां गुफाओं में मिला था, एक ग्रन्थ लिखा था, जिसका नाम था—'टाइगर-प्राइस्टों की काली किताब'। इसी ग्रन्थ के आधार पर डा० गन ने, जो अमेरिका के विख्यात आर्चलोजिस्ट और एक्सप्लोरर थे, घोर अरण्य मे एक अज्ञात राजपथ का पता लगाया था। पुरातत्वविद् कहते हैं, उनकी विस्मयोत्पादक सभ्यता और संस्कृति योरोप की सभ्यता के जोड़ की थी। उनकी श्री-समृद्धि और शक्तिशालिता, उनकी उन्नत तथा संगठित जीवन-प्रणाली, उनके उत्सव-आयोग और उनकी स्थापत्य कला की अद्भुत शक्ति और निपुणता आज के सभ्य संसार की स्पर्द्धा की वस्तु थी।

वसंत की सुषमा वन, पर्वत, उपत्यका मे फैली थी। दूर-दूर तक अन्न और कपास के खेत लहरा रहे थे। बीच-बीच मे सुन्दर विशाल मैदानों में हरिण, शावर, नील गाय विचर रहे थे। पत्थर की बनी सड़कों पर दानव नर-नारियों की भीड़ लग रही थी। पुरुषों के चेहरे दाढ़ीदार न थे। उनके मस्तक पर रक्तचन्दन का

लेप लगा था। वे कमरबन्ध, कपास के सूती चोगे पहने हुए थे। उनके मुखमण्डल सुचिक्कण थे। युवतियो के अगों पर रगीन साड़ियां लिपटी हुई थीं। चदन, अगरु, केसर, कस्तूरी और अन्य सुगन्ध-द्रव्यो से उनके अग सुवासित थे। उनके लम्बे-लम्बे सुचिक्कण केशो मे, जो सुगन्धित तेलो से सिक्त थे, विविध पुष्प गुंथे हुए थे। वे सब नगर के राजपथ पर जा रहे थे। नगर में आज वर्ष-नक्षत्र था। स्त्रियो और पुरुषो की टोलियां पृथक्-पृथक् नृत्य करतीं, गातीं-बजातीं, आनन्दमग्न नगर मे चारों ओर से आ रही थीं। नगरनिवासी उनका गन्ध, माला से सत्कार कर रहे थे।

राजभवन का आज अद्भुत शृंगार किया गया था। देव, देवेन्द्र, दानवेन्द्र स्वर्णाभरण से सज्जित हो रहे थे। दानव-कुल में दानवेन्द्र ही ईश्वर थे और वे ससारव्यापी आदेश देने की क्षमता रखते थे। राजदर्शन साधारणतया प्रजावर्ग को नित्य नहीं होते थे। जिन्हें होते थे, उन पर अनेक प्रतिबन्ध रहते थे। परन्तु आज वर्ष-नक्षत्र के दिन सब कोई दानवेन्द्र के दर्शन-लाभ कर सकते थे, परन्तु दानवेन्द्र को कोई भी जन सीधा सम्बोधन नहीं कर सकता था, न दानवेन्द्र के सम्मुख सीधा खड़ा रह सकता था। प्रत्येक पुरुष को दानवेन्द्र के समक्ष घुटने टेक कर बैठना और नतमस्तक होकर, तथा राज-सचिव के माध्यम से देव कह कर निवेदन करना पड़ता था। आज राजवर्गी जन, राजपरिवार के जन, आमात्य, कोषाध्यक्ष, सेनानायक सभी सजधज कर राज-प्रासाद के बाहर मैदान में एकत्र हुए थे, और भी होते जा रहे थे। वास्तव मे आज के दिन राज्य की सारी कुमारिकाओं का नीलाम होना था। उसी का यह वर्ष-समारोह था। असुर-दानव-कुल मे यही नियम उन दिनो प्रचलित था। माता-पिता का सन्तानो पर कोई अधिकार न था। कुमारों का राजा राज-सेवा

में स्वेच्छा से प्रयोग करता था, कुमारिकाओं का राजा की अध्यक्षता में नीलाम किया जाता था। प्रत्येक प्रान्त को एक निश्चित सैनिक युद्ध के लिए देना पड़ता था, जिसके साथ उसका शस्त्र-वाहक भी होता था।

युवती कुमारिकाओं के सम्बन्ध में नियम इस आधार पर था कि वे ही राज्य के लिए जन-संख्या की वृद्धि करती हैं; अतः उनका मान असुर-दानव-राष्ट्रों मे सर्वोपरि होता था। प्रति वर्ष वर्ष-नक्षत्र के दिन राज्य भर की युवती कुमारिकाएँ, राज-प्रासाद के प्रांगण में राजा के सान्निध्य मे ऊंची बोली पर बेच दी जाती थीं।

दानव और असुर राज्यों में एक और भी नियम था। वह यह कि कोई भी असुन्दर पुरुष राज-सेवा नहीं कर सकता था। पुरुष का मूल्य उसकी योग्यता नहीं, शरीर-गठन और रूप-सौन्दर्य पर निर्भर था। जो पुरुष जितना रूपवान् तथा गठीले शरीर का होता, उसे उतना ही ऊँचा पद मिलता था। इसलिए असुर-दानव-राष्ट्रों मे शरीर-सौन्दर्य का बड़ा ध्यान रखा जाता था। कुरूप और दुर्बल व्यक्ति तिरस्कार की दृष्टि से देखे जाते थे। वे चाहे भी जैसे उच्चकुल में उत्पन्न हुए हों, उन्हें अपने परिवार में दास-कर्म करने पड़ते थे तथा निकृष्ट भोजन और वस्त्र मिलते थे। परन्तु कुमारिकाओं के सम्बन्ध में यह बात न थी। कुमारिकाएं प्रजनन की केन्द्र मानी जाती थीं। प्रजनन ही उन दिनों सब से महत्वपूर्ण ज्ञान-विज्ञान था। इसी से जननेन्द्रियों की पूजा उन दिनों सर्वत्र असुर-दानव-कुल में प्रचलित होती जाती थी। राजा चाहता था कि असुन्दर और विकलांग कुमारिकाएँ भी स्वर्ण देकर सुन्दर पुरुषों को दी जाएँ, जिससे वे सुन्दर बच्चों को जन्म दे सकें।

कुमारिकाओं की बिक्री के लिए एक विभाग था। उसमें

पुरोहितों का प्राधान्य होता था।

प्रहर दिन चढ़े कुमारिकाओं का विक्रय आरम्भ हुआ। दानवेन्द्र मय राजयाजकों तथा मन्त्रियों से सुसज्जित हो, स्वर्ण-पीठ पर आ बैठे। दानवेन्द्र के साथ अनेक भविष्यवादी, दिव्य शक्तिधारी जादूगर तथा ज्योतिषी भी थे। वे सब लाल वस्त्रों पर स्वर्णाभरण पहिने हुए थे। दानवेन्द्र के प्रिय पार्श्वद लाल पोशाक पर सोने की सांकल गले में पहिने, राजा की बाट में बद्धांजलि खड़े थे। दानवेन्द्र की चेटिका भी मोरपख छत्र लिए दानवेन्द्र के पीछे खड़ी थी। रथदल, हयदल, गजदल और पैदल सेना पंक्तिबद्ध अपने-अपने यूथपतियों की अधीनता में सजी खड़ी थीं। आरम्भ में मन्त्रोच्चार हुआ। देवता को बलि दी गई। और अतिवृष्टि, अनावृष्टि, अवर्षण, तूफान और दुर्भिक्ष से राष्ट्र सुरक्षित रहे, तथा दानवेन्द्र वर्षभर सम्पन्न, सप्रहृष्ट रहें, इन सब के लिए होम-पूजन और पृथक-पृथक बलि दी गई।

इसके बाद दानवेन्द्र की स्वर्ण-प्रतिमा का पूजन विविध उपचारों से हुआ। दानवेन्द्र की मूर्ति पर विविध प्रजाजनों ने अपनी श्रद्धानुसार बलि भेंट दी। बहुतों ने स्वर्ण दिया, रक्त दिया, बहुतों ने पशु-बलि दी। बहुतों ने अपनी संतान की बलि दी। राजदर्शन के उपलक्ष में दूर से आए बहुत जनों ने अपना ही कण्ठ काट कर आत्मबलि दी। ये सब बलिदान बही-खातों में लिखे गए, और पीछे दानवेन्द्र की ओर से जिसकी भेंट, बलि जितनी मूल्यवान् प्रमाणित हुई उतना ही उसे राजप्रसाद दिया गया। स्वर्ण, पद, भू-सम्पत्ति, पशुधन, कुमारिकाएँ, आदि, आदि।

अब कुमारिकाओं का नीलाम आरम्भ हुआ। सब से पहिले सर्वश्रेष्ठ, सर्वाधिक सुन्दरी कन्याएँ, दानवेन्द्र और याजकों के लिए छांट कर उनके निर्धारित मूल्य का स्वर्ण नीलाम करनेवाले

अध्यक्ष के पास जमा कर दिया गया। इसके वाद वची कुमारिकाओं में से सर्वश्रेष्ठ सुन्दरी कन्या का ऊँची से ऊँची वोली वोलने वाले को स्वर्ण लेकर नीलाम कर दिया गया। उसके वाद एक के वाद एक सर्वप्रथम सुन्दरी, फिर साधारण कन्यकाएँ वारी-वारी से नीलाम कर दी गईं। अन्त में कुरूपा और विकलांगाओं की वारी आई। उनका कौन ग्राहक हो सकता था? अतः उन्हें स्वर्ण देकर वेचा गया। अभिप्राय यह कि, गरीव सुन्दर पुरुषों को स्वर्ण देकर उन कन्याओं को रखने के लिए राजी किया गया। इस प्रकार सभी कन्याएँ, उसी दिन विक गईं। वे सभी एक प्रकार से विवाहिता हो गईं। सुन्दरी कन्याओं की विक्री से मिले स्वर्ण का एक अंश असुन्दरी और विकलांगा कन्याओं के खरीदारों को दे दिया गया, जिससे वे उनका भलीभांति पोपण कर सकें। परन्तु यह खरीद-विक्री साधारण नहीं होती थी। इसके लिए देव-सान्निध्य में प्रतिज्ञा करनी पड़ती थी, जिसका न्यायाधीश वड़ी कड़ाई से पालन करते थे। इस सम्वन्ध में अपील भी की जाती थी। परस्पर की शर्तें, शपथ और गवाहियों द्वारा तय होती थीं। कोई भी पुरुष, इस प्रकार कन्या का पति वन कर उनके साथ अन्यायाचरण नहीं कर सकता था। उसे उनका समुचित भरण-पोपण करना पड़ता था।

दानवों और असुरों के राज्यशासन में, उनके कानून तीन भागों में विभक्त थे। एक धनसम्पन्नों का, दूसरा धनहीनों का, तीसरा दासों का। दास अपनी निज की सम्पत्ति रख सकते थे। वे अपने दास भी खरीद सकते थे। दासों के स्वामी को, दास का सभी खर्च वहन करना पड़ता था। दास के लिए कन्या भी खरीद लानी पड़ती थी। दास-पुत्र भी दास होते थे, परन्तु यदि दास का सम्वन्ध किसी अदास-स्त्री से होने पर गर्भ रह जाता था तो वह वालक दास नहीं माना जाता था।

दास रुपये देकर मुक्त भी हो सकते थे। नीलाम में अदास कुमारिका खरीद सकते थे। दासों की बांह पर उनके स्वामी का नाम गोद दिया जाता था। राज-कर कड़ाई से लिया जाता था; जो नहीं दे सकता था, वह अपने परिवार के साथ बेच दिया जाता था।



४६

श्रेय और प्रेय

विप्रचित्त दानव की कन्या मालिनी भी नीलाम होने को आई थी। 'दानव-कन्या का रंग तपाए हुए स्वर्ण के समान और मुख शतदल कमल के समान था। कन्या की देहश्री उषा के आलोक की भांति मनोरम थी। उसके सुचिक्कण पदचुम्बी केश भौंरों के समान काले थे। नेत्रों की उज्ज्वल ज्योति शुक्र नक्षत्र के समान थी, और उसका मृदु हास शारदीय पूर्णिमा की अमल चांदनी-सा निर्मल था। कण्ठ-स्वर उसका वीणाविनिन्दित था, श्वास में पारिजात कुसुम का सौरभ था। वह षोडशी बाला वसन्त में खिले हुए फूलों से लदी-फदी एक लतिका के समान सुषमा रखती थी।

आसुरायण रैक्व असुर-याजक थे, वेदर्षि थे। श्रेय और प्रेय के रहस्य के ज्ञाता प्रसिद्ध थे। उनकी बड़ी भू-सम्पत्ति थी। विशाल हर्म्य, भूमि, हाथी, घोड़े, स्वर्ण, रत्न और बहुत सी सुन्दरी, रूप-यौवनसम्पन्ना बालाएँ उनके पास थीं। विविध भोगों को ऋषिवर आनन्द से उपभोग करते और दानवों, असुरों की सब सेवा-अर्चना ग्रहण करते थे।

रैक्व बहुत बूढ़े और कुरूप थे। दांत उनके सब सड़-गल गए थे। शरीर का मांस लटक गया था। नेत्रों की ज्योति भी धुंधली पड़ गई थी, परन्तु काम-भोग में उनकी बड़ी रुचि थी। वे बहुत बढ़िया कौशेय के वस्त्र पहनते, स्वर्ण-आसन पर बैठते, उत्तम सुवासित सोमपान करते तथा तरुणी बालाओं का सान्निध्य-सुख भोगते थे। नए-नए यौवन उन्हें बहुत पसंद थे।

कुमारिकाओं की जो नीलामी असुरों के माया-नगर में वर्ष-

नक्षत्र पर होती थी, उसमें याजकों तथा राजाओं के लिए सबसे प्रथम अपनी पसद की कुमारिकाएँ चुनकर खरीद लेने की छूट होती थी। उनके चुन लेने के बाद बची हुई कुमारिकाओं का सार्वजनिक नीलाम होता था। परन्तु, एक नियम का पालन तो सर्वत्र ही होता था कि यदि कुमारिका, खरीदार को स्वयं नापसंद करे तो नीलाम रद्द हो जाता था। याजकों और राजाओं का भी कुमारिका की स्वीकृति के बिना नीलाम मंजूर नहीं होता था। आसुरायण रेक्व ने मालिनी को अपने लिए चुन लिया और नियत स्वर्ण-राशि नीलाम के अफसर के पास जमा कर दी, परन्तु कुरूप और बूढ़े रेक्व को मालिनी ने अस्वीकार कर दिया। फलतः उनकी बोली रद्द हो गई। इस पर आसुरायण रेक्व असतुष्ट होकर चले गए और कोई कुमारिका उन्होंने नहीं खरीदी। इसी मालिनी को रेक्व से द्विगुण स्वर्ण देकर एक दानव राजा जानश्रुति ने खरीद लिया। जानश्रुति सुन्दर और तरुण था। उसकी बहुत भारी भू-सम्पत्ति थी। मालिनी ने मुस्कुरा कर उसके हाथ बिकना स्वीकार कर, उसे उपकृत कर दिया।

कालान्तर में जानश्रुति की इच्छा हुई कि श्रेय और प्रेय के रहस्य को जाने। उन दिनो असुर और देवो को इस प्रकार के रहस्यों को जानने की बड़ी सनक रहती थी। परन्तु ये ऋषिगण उसे सदा एक गोपनीय रहस्य बनाए रहते थे। उसे बड़ी टाल-टूल और भारी दक्षिणा लेकर बड़ी अटपटी भाषा में बताया करते थे। वह राजा रेक्व के पास छै सौ गाए और बहुत सा स्वर्ण, मणि, रथ, कोशेय और धन लेकर गया और उन आसुरायण रेक्व से याचना की कि वह यह भेंट स्वीकार करें और श्रेय और प्रेय का भेद उसे बता दें। पर रेक्व उस कुमारिका को भूले न थे। उसे राजा ने दुगुनी डाक देकर खरीद लिया था, इस कारण वे इस राजा से जले-भुने बैठे थे। उन्होंने उसकी मूल्यवान् भेंट की ओर

आंख उठाकर भी नहीं देखा और क्रुद्ध होकर कहा—अरे शूद्र, जा भाग। यह हमको नहीं चाहिए।

राजा निराश होकर लौट गया, और ऋषि का अभिप्राय जान दुबारा एक हजार गाय, बहुत सा धन, और उस गांव का पट्टा, जिसमें ऋषि रहते थे तथा वही कुमारिका मालिनी लेकर ऋषि के पास फिर पहुंचा और प्रणाम कर कहा—"हे ऋषि, यह भेंट आपके लिए है। मुझे श्रेय और प्रेय का भेद बताइए।" कुमारिका का मुंह देखते ही बूढ़े ऋषि खुशी से खिल गए। उन्होंने कहा—"अरे शूद्र, आ बैठ, इस सुन्दर मुख-कमल की बदौलत सुन, श्रेय और प्रेय दो मार्ग हैं। श्रेय को विद्या और प्रेय को अविद्या कहते हैं। दोनों परस्पर विरुद्ध हैं। श्रेय से निवृत्ति और निवृत्ति से मोक्ष होता है। तथा प्रेय से प्रवृत्ति और प्रवृत्ति से जन्म-मरण होता है। धन, ऐश्वर्य आदि लौकिक सुखों का समावेश प्रेय में है और इन सब का त्याग श्रेय है। जा भाग, यह रहस्य इतना ही यथेष्ट है।"

जानश्रुति कृतकृत्य हो गया। वह श्रेय और प्रेय के भेद को जान कर प्रसन्नचित्त लौट गया। इसी ज्ञान के कारण उसका नाम "जानश्रुति" प्रसिद्ध हो गया।



आरोहतल्पम्

परन्तु विप्रचित्त दानव की वेटी एकचक्र असुर पर मोहित थी। एकचक्र एक स्फूर्तिवान तस्कर असुर था। गहन वन के उस पार दुर्गम गिरिश्रृंग पर उसका दुर्गम दुर्ग था। दुर्ग जीर्ण और अति प्राचीन था। वहां अपने एक सहस्र तस्कर दानवों के साथ वह निर्द्वन्द रहता था। तस्कर-वृत्ति और आखेट, उसका व्यसन था। उत्तम घोड़े और सुन्दरी कुमारिकाएं, जहां जैसे हाथ लगे, उड़ा ले जाने का उसे शौक था। वह स्वय एक दुर्दान्त धनुर्धर योद्धा और अश्वारोही था। वैसे ही उसके सगी-साथी भी थे। उस दुर्गम दुर्ग में उसने वहुत से अमूल्य अश्व और तरुणी कुमारिकाएं एकत्र कर रखी थीं।

वर्ष-नक्षत्र के दिन, वह मायानगरी में मालिनी की डाक बोलने गया था। मालिनी से प्रथम ही उसकी साठ–गांठ हो चुकी थी, परन्तु उसकी डाक वहुत ऊची बोली गई। प्रथम रेक्व ऋषि ने ही वहुत स्वर्ण दिया और फिर जानश्रुति ने उसके लिए द्विगुण स्वर्ण का ढेर लगा दिया। इससे एकचक्र निरुपाय हो गया। इतना स्वर्ण उसके पास न था। वह हाथ मलते रह गया, और जानश्रुति मालिनी को अपने गधों के रथ पर बैठा कर ले गया।

जानश्रुति वडा सम्पन्न दैत्य था। उसका महल, सेना, सैनिक-सुरक्षा सभी था। उसके अवरोध से मालिनी को उड़ा ले जाना, एकचक्र के लिए संभव न था। जानश्रुति की डाक स्वीकार करने को छोड़, मालिनी के लिए दूसरा उपाय न था। इन्कारी का कोई कारण वह वता नहीं सकती थी। दुराग्रह करने

पर उसका कौमार्य लांछित होता था। मर्यादा भंग होती थी। अतः उसने प्रचलित रिवाज के अनुसार उस समय हँस कर, जानश्रुति के हाथ बिकना स्वीकार कर लिया। एकचक्र दावपेच खाकर रह गया। फिर भी उसने मालिनी की आशा नहीं छोड़ी। वह उसकी ताक में रहा। मालिनी को यहां बहुत ऐश्वर्य प्राप्त हुआ, पर साहचर्य उसे नहीं मिला। असुर राजा जानश्रुति तरुण और सुन्दर तो था, पर साहसिक न था। मालिनी के मन में जो लौह-पुरुष बसा था, उसका मन वहीं था। वह भी किसी तरह जान-श्रुति के फंदे से छूटना चाह रही थी। इसी से वह रेक्व को भेंट की भांति दे दी जाय, इस प्रस्ताव को उसने जरा ननुनच करके झट स्वीकार कर लिया। वह जानती थी कि जानश्रुति के महल की अपेक्षा, ऋषि के अवरोध से भाग जाने के उसे बहुत सुअवसर थे। यदि उसे रेक्व नीलाम में खरीद लिए होते, तो उसका उनके यहां से भागना, एक कानूनी अपराध होता, परन्तु अब वह भाग सकती थी।

रेक्व ने "आरोहतल्प" का समारोह किया। यह समारोह असुरों में, सुहागरात-जैसा होता था। फूलों की शय्या रची गई। ऋषि का शयन-मन्दिर धूप-सुवास-चर्चित किया गया। इष्टजनों को सोमपान कराया गया। देव-पितृजनों को बलि दी गई। ऋषि के अवरोध में बहुत स्त्रियां थीं। वे मालिनी को स्नान-मज्जन से, वस्त्रालंकार से सुज्जित, सम्पन्न करके, बूढ़े कामुक, उस धनी और लम्पट ऋषि के शयनागार में ले गईं। ऋषि ने कहा—"आरोहतल्पम्"।

किन्तु मालिनी ने अस्वीकार करके उत्तर दिया—"भद्रावधूर्भवति यत्सुपेशा स्वयं सामित्रं वनुते जनेचित्।"

ऋषि ने कहा—"देवा अग्रेन्यपद्यन्तपत्नी. समस्पृशान्ततन्वस्तनूभिः।"

मालिनी ने उत्तर दिया—"यथासौ मम केवलो नान्यासां कीर्तयाश्चन ।"

ऋषि ने कहा—"सूर्येव नारी विश्वरूपा। तां पूषंधिवत मामरेवस्व यस्यां बीज मनुष्याइवपन्ति। योनउरूउशती विश्रयाति यस्यामुशन्तः प्रहरेमस्पेप: ।*

मालिनी ने अस्वीकार करते हुए कहा—"या पूर्वपतिं वित्वा-यान्यं विन्दतेपरम् । पचोदनं च तावदजं ददातो न वियोषत ।"

इसी प्रकार बहुत प्रकार वैदिक वाद-विवाद हुआ, परन्तु मालिनी ने शय्यारोहण नहीं किया। ऋषि को पंचोदन-अनुष्ठान स्वीकार करना पड़ा। अनुष्ठान में बहुत खटपट करनी पड़ी। बहुत देव, दैत्य, असुर, आप्तजनों को आमन्त्रित करना पड़ा। देवों को बलि दी गई। आप्तों के लिए यज्ञ किए गए। दैत्यों, असुरों, ऋषियों को भोज दिए गए, परन्तु समारोह की इस भीड़-भब्बड़ में अवसर पाकर असुर दस्यु एकचक्र मालिनी को उठा कर अपने घोड़े पर बैठा कर उड़छू हो गया। सारा ही समारोह रुक गया। एकचक्र दस्यु के दुर्जय दुर्ग से मालिनी को वापस लाने का साहस किसी को न हुआ, परन्तु ऋषि रेक्व ऐसे न थे जो आसानी से उस मुख को भूल जाते। उन्होंने एकाकी ही असुर एकचक्र के उस दुरूह दुर्गम दुर्ग में जाने की ठान ली। और वे खोज-पता लगाते गहन वन में घुसे। वन में असख्य हिंस्र जन्तु थे—अनेक दुर्गम नद, नदी, पर्वत, उपत्यकाएँ थीं, परन्तु ऋषिवर के हृदय में कामज्वाला धू-धू जल रही थी। वे सब कष्टों और बाधाओं को पार करते हुए अन्ततः एकचक्र के गिरि-शिखर पर अवस्थित दुर्ग के द्वार पर जा खड़े हुए।

यों दुर्ग के द्वार तक पहुँचना आसान काम न था। ऋषि एकाकी थे, पादातिक थे, इसी से जा पहुँचे। सेना-साधन होने पर नहीं पहुँच सकते थे। मार्ग सकड़ा था, दुरूह था, सीधी चढ़ाई

थी, जगह-जगह बुर्जों पर भारी-भारी शिलाएं इस ढंग से रखी हुई थीं जो चाहे जब लुढ़का दी जातीं और सैकड़ों मनुष्यों की पिस कर चटनी हो जाती। परन्तु बुर्जों पर नियुक्त असुरों ने इस बूढ़े, निरस्त्र एकाकी ऋषि को देखकर बाधा नहीं दी। ऋषि ने दुर्ग-द्वार पर पहुंच कर पुकार की और एकचक्र दस्युराज से मिलने की इच्छा प्रकट की। सूचना पाकर एकचक्र ने ऋषि की सादर अभ्यर्थना की। अर्घ्यपाद्य दिया और आने का कारण पूछा।

ऋषि ने कहा—"तू मेरी एक दासी को हर लाया है।"

"कौन दासी ? मुझे तो स्मरण नहीं, क्या वह यहां है ?"

"मात्सर्य न कर। तूने ही उसे हरण किया है, वह अवश्य यहां होगी।"

"क्या किसी ने देखा ?"

"देखा नहीं, मैं जानता हूँ।"

"आप उसे पहिचानते हैं ?"

"क्यों नहीं, वह नव कुसुम-कोमलांगी है, दिव्यरूपा है, मृग-शावक-से उसके अमल नेत्र हैं, स्वर्ण-सा उसका गात्र है। भौरों के गुञ्जान-सी उसकी वाणी है, पुष्पगुम्फिता लता-सी देह-यष्टि है।"

"वाह, ऐसी नव कुसुम-कोमलांगी, सुन्दरी, सुषमावती बालाओं में मेरी बहुत रुचि है। ऐसी बहुत कोमलांगियां मैंने देश-देश से हरण करके एकत्र की हैं। यहां ऐसी सुन्दरियां बहुत हैं, आइए, अवरोध मे चल कर देखिए, आपकी दासी यहां है भी।"

तब वह विकट दस्यु बूढ़े ऋषि को भलीभांति खिझाने के लिए अवरोध में ले गया, जहां सैकड़ों विलासवती सुन्दरियां विविध क्रीड़ाओं में मग्न थीं। वहां रूप की हाट लगी थी। रूप के उस खेत को देख कर, ऋषिवर भावमुग्ध ठगे-से रह गए। इसी समय उनकी दृष्टि मालिनी पर पड़ी, जो एक लता-मण्डप में

पुष्पगुम्फित झूले पर आनन्द से झूल रही थी। ऋषि ने उंगली उठा कर कहा—'वह रही, वह है।"

"एकचक्र ने हँसकर लापरवाही से कहा—"वाह, वह तो विप्रचित्त दानव की कन्या मालिनी है।"

"हां हां, वही है मेरी दासी, जिसे तू उड़ा लाया है, ला फेर दे मेरी दासी।"

"किन्तु यह आपकी दासी कैसे हुई ? आपने तो उसे खरीदा नहीं।"

"उस मन्दभाग्या ने मेरे हाथ बिकना अस्वीकार कर दिया था।"

"तो फिर ?"

"उसे जानश्रुति ने द्विगुण स्वर्ण देकर खरीद लिया था, फिर मुझे बेच दिया।"

"आपने स्वर्ण दिया था ?"

"स्वर्ण नहीं रे, मैंने उस शूद्र को श्रेय और प्रेय का रहस्य बताया था।"

"तो यह खरीदा कहा, दान हुआ।"

"एक ही बात है, ला लौटा दे मुझे।"

"परन्तु वह तो मेरी प्रेयसी है।"

"अरे, तेरे अवरोध में तो बहुत हैं, एक उसे मुझे लौटा दे।"

"ऐसी सुन्दरी बालाओं मे मेरी बहुत रुचि है, ऋषिवर, फिर वह तो मेरी प्रेयसी है। लौटा नहीं सकता।"

"अरे, तू ऋषि का भाग हड़पना चाहता है। चल, मैं तुझे भी श्रेय और प्रेय का भेद बता सकता हू। ला, लौटा दे, मेरी दासी।"

दस्यु ने हँसकर कहा—"श्रेय और प्रेय का भेद मैं जानता हूं ऋषिवर, पर आप पर मैं एक अनुग्रह कर सकता हू।"

"वह क्या ?"

"मेरा एक नियम है। मै नित्य नई सुन्दरियां देश-देश से हरण करके लाता हूं। उनका यहां सब भांति मनोरंजन और सत्कार होता है। एक वर्ष मैं उन्हें अपने अवरोध मे रखता हू। इस एक वर्ष की अवधि में यदि वह गर्भवती हो गई, तो उसे सदा के लिए अपने पास रख लेना हूं और जो एक वर्ष मे गर्भवती न हुई, तो उसे अपने सेवको मे बांट देता हूँ। सो तुम अगले वर्ष आना। यदि तुम्हारी यह दासी तब तक गर्भवती न हुई, तो तुम्हें ही दे दूँगा। किसी दूसरे सेवक को नहीं दूगा।"

विवश, ऋषि निरुपाय घर लौट आए।



५१

राजकुल का दूषण

दिग्दिगन्त में घूम-फिर कर रावण ने पृथ्वी की राजनैतिक और सामरिक सत्ताओं को अपने मन में तोल लिया। कहां कैसे किससे लोहा लिया जायगा, इसकी योजना उसने मन ही मन बना ली। फिर उसने अपने दोनो भारतीय सैनिक-सन्निवेशों का, दण्डकारण्य और नैमिषारण्य का, सूक्ष्म निरीक्षण किया। दण्ड-कारण्य के रक्षपाल खर-दूषण को और नैमिषारण्य के रक्षपाल मारीचि और सुबाहु को आवश्यक गुप्त आदेश दिए। फिर वह खूब सावधानी से लंका में लौट आया।

लंका में उसका धूमधाम से स्वागत हुआ। नृत्य, वाद्य और दीपावलि से उसकी अभ्यर्थना हुई। राक्षस कुल-वधुओं ने उसपर अक्षत, लाजा बरसाई। राक्षसप्रमुख नागरों ने उसका जय-जय-कार किया। हर्ष और उत्साह से अभिभूत हो रावण ने अपने स्वर्ण-महालय में प्रवेश किया।

रावण अपने पीछे अपने छोटे भाई विभीषण को यौवराज्य दे, अपने नाना सुमाली को प्रधान मन्त्री और सेनानायक बना गया था। अब सबसे प्रथम इन्हीं दोनो ने खिन्न मन आकर उसका अभिनन्दन किया। उन्हें खिन्न देखकर रावण ने कहा—
"मातामह, क्या कारण है कि आप खिन्नमनस्क हैं? अरे विभीषण भ्राता, क्यों तेरा मुख वर्षोन्मुख मेघ के समान हो रहा है?"

इस पर विभीषण तो मुख नीचा कर मौन हो रहा, परन्तु सुमाली दैत्य ने कहा—

"पुत्र, हमारा कुल दूषित हो गया। घर का छिद्र हम तुमसे

कैसे कहूँ ?"

"क्या हुआ मातामह ?"

"तेरी अनुपस्थिति में हम अमर्यादित हो गए।"

"किन्तु किस प्रकार ?"

"प्रमाद ही कहना चाहिए, और किस प्रकार ?"

"किसका प्रमाद मातामह ?"

"मेरा ही पुत्र, तूने मुझे ही तो लंका और राजपरिवार की रक्षा का भार सौंपा था। विभीषण तो अभी निपट बालक ही है।"

"सो लंका में कहीं कुछ दोष उत्पन्न हो गया ?"

"लंका में नहीं पुत्र, राज-कुल में।"

"राज-कुल में क्या हुआ ?"

"आनर्तराज मधु लंका आया था।"

"आनर्तराज मधु दैत्य तो हमारा सम्बन्धी है, आपका परिजन है, सुप्रतिष्ठित राजवर्गी है, योद्धा है। क्या उसका लंका में यथावत् स्वागत नहीं हुआ ? राजकुल ने कहीं अविनय की, उस सम्मान्य अतिथि के प्रति ?"

"नहीं किया पुत्र, आतिथ्य ही तो राजकुल का दूषण हो गया।"

"किन्तु कैसे ?"

"हमने उसका लंका में भव्य स्वागत किया।"

"सुष्ठु।"

"राज-महालय और अन्तःपुर में उसे आत्मीय की भांति प्रतिष्ठित किया।"

"आप राजकुल की मर्यादा जानते हैं, आपने राजकुल की मर्यादा के अनुकूल ही किया।"

"किन्तु राजकुल की मर्यादा भंग हो गई।"

"किसने भग की ?"

"इसी अतिथि चोर ने।"

"क्या कहते हैं आप मातामह ?"

"वह चोर मेरे भाई माल्यवान की पुत्री, तेरी बहिन कुम्भीनसी में अनुरक्त हो गया।"

"सुपात्र है मधु दैत्य। उसे कुम्भीनसी देकर हमारा कुल सुपूजित होगा।"

"वह बात ही न रही पुत्र।"

"कैसे, क्या कुम्भीनसी हमारी बहिन, मधु को नहीं चाहती ?"

"वह तो उसे हरण कर ले गया।"

"क्या मधु ?" रावण के दोनों नेत्र जल उठे। उसके नथुने फूल गए। उसने विषधर सर्प की भांति फुफकार मार कर कहा—"क्या आपके रहते मातामह ?"

"पुत्र, मैं तो भ्रम ही में रहा। फिर उस समय मैं एक गुरुतर राजकाज से द्वीप-समूहों में चला गया था।"

"और भाई कुम्भकर्ण ?"

"वह सो रहा था।"

"विभीषण ?"

"वह आकण्ठ जल में तप कर रहा था।"

"पुत्र मेघनाद ?"

"यज्ञ में दीक्षित बैठा था।"

"मन्त्रीगण, राक्षस योद्धा, हमारे सेनापति ?"

"उन्होंने विकट युद्ध किया, पर मधु ने सभी को परास्त किया। वह हमारे सुपूजित राजकुल के मस्तक पर लात मार कर बलात् हमारी कन्या-हरण कर ले गया पुत्र।"

"वह हमारे सुरक्षित अन्त:पुर से बलपूर्वक हमारी बहिन कुम्भीनसी को हरण कर ले गया, आप यह कहना चाहते हैं ?"

"हां, पुत्र।"

"और भी कुछ है?"

"हां, विद्युज्जिह्व!"

"विद्युज्जिह्व? कौन है वह?"

"एक तरुण दानव है।"

"उसके सम्बंध मे आप क्या कहना चाहते हैं?"

"वह लंका मे आया है।"

"तो अवश्य ही आपने उसका समुचित सत्कार किया होगा।"

"नहीं किया पुत्र।"

"नहीं किया?"

"हमारे ऊपर तुम गुरु भार सौंप गए थे। लंका से भी बढ़ कर राज-कुल की रक्षा का।"

"सो फिर?"

"राजकुल हमारी ही असावधानी से दूषित हुआ। मधु दैत्य ·····।"

"सो तो सुना, विद्युज्जिह्व ही की बात कहिए।"

"वही कहता हूं, वह इधर बहुधा आता-जाता रहा। उसने कहा—मृगया में मेरी अभिरुचि है।"

"इसमे दोष क्या है?"

"नहीं है, दोष की बात दूसरी है।"

"क्या?"

"वह सूर्पनखा मे साभिप्राय दृष्टि रखता है।"

"तो?"

"हम मधु दैत्य का कटु अनुभव ले चुके थे। हमने विद्युज्जिह्व को अन्तःपुर से दूर ही रखा।"

"वह अब कहां है?"

"किसने भग की ?"

"इसी अतिथि चोर ने।"

"क्या कहते हैं आप मातामह ?"

"वह चोर मेरे भाई माल्यवान की पुत्री, तेरी वहिन कुम्भीनसी मे अनुरक्त हो गया।"

"सुपात्र है मधु दैत्य। उसे कुम्भीनसी देकर हमारा कुल सुपूजित होगा।"

"वह बात ही न रही पुत्र।"

"कैसे, क्या कुम्भीनसी हमारी बहिन, मधु को नहीं चाहती ?"

"वह तो उसे हरण कर ले गया।"

"क्या मधु ?" रावण के दोनों नेत्र जल उठे। उसके नथुने फूल गए। उसने विपधर सर्प की भांति फुफकार मार कर कहा—"क्या आपके रहते मातामह ?"

"पुत्र, मैं तो भ्रम ही में रहा। फिर उस समय मैं एक गुरुतर राजकाज से द्वीप-समूहों में चला गया था।"

"और भाई कुम्भकर्ण ?"

"वह सो रहा था।"

"विभीषण ?"

"वह आकण्ठ जल में तप कर रहा था।"

"पुत्र मेघनाद ?"

"यज्ञ में दीक्षित बैठा था।"

"मन्त्रीगण, राक्षस योद्धा, हमारे सेनापति ?"

"उन्होंने विकट युद्ध किया, पर मधु ने सभी को परास्त किया। वह हमारे सुपूजित राजकुल के मस्तक पर लात मार कर बलात् हमारी कन्या-हरण कर ले गया पुत्र।"

"वह हमारे सुरक्षित अन्तःपुर से बलपूर्वक हमारी बहिन कुम्भीनसी को हरण कर ले गया, आप यह कहना चाहते हैं ?"

"हां, पुत्र।"

"और भी कुछ है?"

"हां, विद्युज्जिह्व!"

"विद्युज्जिह्व? कौन है वह?"

"एक तरुण दानव है।"

"उसके सम्बंध में आप क्या कहना चाहते हैं?"

"वह लंका में आया है।"

"तो अवश्य ही आपने उसका समुचित सत्कार किया होगा।"

"नहीं किया पुत्र।"

"नहीं किया?"

"हमारे ऊपर तुम गुरु भार सौंप गए थे। लंका से भी बढ़ कर राज-कुल की रक्षा का।"

"सो फिर?"

"राजकुल हमारी ही असावधानी से दूषित हुआ। मधु दैत्य ...... ।"

"सो तो सुना, विद्युज्जिह्व ही की बात कहिए।"

"वही कहता हूं, वह इधर बहुधा आता-जाता रहा। उसने कहा—मृगया में मेरी अभिरुचि है।"

"इसमें दोष क्या है?"

"नहीं है, दोष की बात दूसरी है।"

"क्या?"

"वह सूर्पनखा में साभिप्राय दृष्टि रखता है।"

"तो?"

"हम मधु दैत्य का कटु अनुभव ले चुके थे। हमने विद्युज्जिह्व को अन्तःपुर से दूर ही रखा।"

"वह अब कहां है?"

"लंका ही मे कहीं है।"

"सूर्पनखा बहिन यदि उसे पसन्द करती है तो हम उसे विद्युज्जिह्व को दे देंगे ।"

"आपकी बात दूसरी है, हम ऐसा करने में स्वतन्त्र न थे, हमने सावधानी रखी।"

"क्या आपने सूर्पनखा से भी बात की ?"

"नहीं पुत्र, हम केवल मर्यादारक्षक हैं।"

"क्या वह कभी यहां आता है ?"

"छिपकर। सूर्पनखा से मिलने।"

' किन्तु आप ?"

"उसे रोक नहीं सकते, वह बड़ा चतुर है। चपल-भी। "

"मैं सूर्पनखा से बात करूंगा और जिसने मेरा कुल दूषित किया है, उसे दण्ड दूंगा। पुत्र मेघनाद कहां है ?"

"निकुम्भला-उद्यान में यज्ञदीक्षित है।"

"तो वहीं मैं उससे मिलने जाऊंगा। मेरा रथ मगाइए ।"

सुमाली ने कहा—"अच्छा"—और वहां से चला गया। रावण ने विभीषण की पीठ पर हाथ फेर कर कहा—"भाई, कातर न हो। जाओ तुम विश्राम करो।"—और वह पुत्र मेघनाद से मिलने को उठा।

५२

निकुम्भला-यज्ञागार

त्रिकूट उपत्यका में, समुद्र-तीर से तनिक हटकर रमणीय निकुम्भला-उद्यान था। उद्यान में एक बड़ा सरोवर था। ताल, तमाल, हिन्ताल, मौलसिरी और चन्दन के वृक्ष थे। उद्यान अत्यन्त विस्तार में था। उसमें विविध लता-मण्डप, लतागुल्म, बीथी और चौक थे। बड़े-बड़े हरे घास के चौगान थे। सघन छाया में नाना जलचर, नभचर, विहंग और जीव वहां विचरण करते थे। वहां का दृश्य बड़ा ही मनोरम था।

सरोवर के तीर पर, एक स्फटिक वेदी पर, मेघनाद कृष्ण मृग-चर्म पहिने, हाथों में कमण्डलु लिए, सिर पर शिखा बढ़ाए, यज्ञसूत्र पहिने, दीक्षित हो, मौन व्रत धारण किए बैठा था। पास ही दैत्य-याजक समासीन हो विधिपूर्वक उससे यज्ञ करा रहे थे।

रावण को यह सब अच्छा न लगा। उसने कहा—"पुत्र, यह तुम क्या कर रहे हो?"

परन्तु मेघनाद उसी प्रकार निश्चल बैठा रहा। इस पर रावण ने फिर प्रश्न किया—"अरे मेघनाद, यह तू कैसा अनुष्ठान कर रहा है? क्यों कर रहा है, मुझे ठीक-ठीक बता।" परन्तु मेघनाद फिर भी मौन—जड़ रहा। परन्तु याज्ञिक ने कहा—"हे रक्षेन्द्र, तुम्हारे पुत्र मेघनाद ने छै यज्ञ समाप्त कर लिए हैं।"

"कैसे छै यज्ञ?"

"जैसे वेद-विहित हैं—अग्निष्टोम, अश्वमेध, बहुसुवर्णक, वैष्णव और राजसूय।"

"किन्तु इनमें तो देवों की पूजा होती है। क्या रावण के पुत्र

को इन मूर्ख देवों की पूजा करनी उचित है ?"

"रक्षेन्द्र, अब तक की परम्परा तो यही रही है ।"

"रक्ष-कुल में यह परम्परा न चलेगी, रक्ष-कुल के इस आयुष्मान् को तो इन देवताओं को शत्रु की भांति युद्ध में जय करके उन्हें वन्दी करना होगा ।"

"किन्तु रक्षेन्द्र, देवगण वन्दी कैसे होंगे ?"

"हमारे प्रबल पराक्रम से, मैंने अपनी रक्ष-संस्कृति में केवल एक ही देव को स्वीकार किया है ।"

"वह कौन है ?"

"महेश्वर, वृषभौजरुद्र, शंकर। उठ पुत्र, इन हीन देवों का आश्रय त्याग, और जा, भूतपति रुद्र की अर्चना कर। फिर उनके सान्निध्य से दुर्जय देवो को वन्दी बना कर अपनी सेवा में रख।"

राक्षसेन्द्र के ऐसे वचन सुनकर मेघनाद हुकृति कर, यज्ञासन छोड़, उठ खड़ा हुआ। यज्ञ-सूत्र उसने तोड़ दिया। शिखा काट फेंकी। यज्ञ-हवि पशुओं को खिला दी। फिर वह बद्धांजलि हो, पिता के चरणों में गिर गया। उसने रावण के चरणों मे मस्तक टेक कर कहा--"हे तात, कौन हैं वे दुर्लभ महेश्वर रुद्र ?"

"वे शरवन के उस पार उत्तुंग हिम-शिखर पर रहते हैं। जा, और देवजय करने के निमित्त उनसे वर प्राप्त कर। उनका सान्निध्य प्राप्त करके, तू कामचारी हो सकता है। उनसे खेचरमुद्रा, मृत्युंजयसिद्धि, देवसिद्धि और दिव्यास्त्रों को प्राप्त कर।" इतना कह, रावण ने भुजा उठा कर कहा—"सब देव, दैत्य, यक्ष, किन्नर, असुर, नर, नाग, सुनें—राक्षसों का यह वंश अब से कभी देवार्चन न करेगा। देव इस वंश के दास हैं, पूजार्ह नहीं। पूजार्ह केवल देवाधिदेव महादेव वृषभध्वज रुद्र हैं।"

मेघनाद ने अलक्ष्य रुद्र को साष्टांग प्रणिपात किया और कहा—"हे पिता, मैं यथावत् यम-नियम-अनुष्ठान करके भगवान्

वृषभध्वज रुद्र की शरण में जाता हूँ।"

"जा पुत्र, और महद्श्रेय को सिद्ध कर। फिर हम इन दुर्बल देवों का, सम्मुख समर में निधन कर विश्व में एक रक्ष-संस्कृति का प्रसार करेंगे।"

मेघनाद ने रावण की वन्दना की और गधों के वायुवेगी रथ में बैठ, वहां से प्रस्थान किया। रावण भी अब चिर वियोग-विदग्धा सुन्दरी सुकुमारी मन्दोदरी का ध्यान कर अपने अन्तःपुर की ओर चला।

५३

अन्तःपुर में

अन्त.पुर में रक्षमहिषी मन्दोदरी ने रावण का भव्य स्वागत किया। सब मंगलोपचार किए। प्यार, विरह, उपालम्भ और मान-मनव्वल हुआ, रति-विलास हुआ। मिलन-यामिनी मधु-यामिनी की भांति व्यतीत हुई। सुप्रभात हुआ। नित्य नैमेत्तिक कार्यों से निवृत्त हो, रावण ने अब अपने रक्ष महासाम्राज्य के विस्तार पर ध्यान दिया। इसी महत् कार्य के लिए, उसने सारी पृथ्वी की यात्रा की थी। वह धर्म और राजनीति, दोनों में सार्व-भौमता की स्थापना करने का स्वप्न देख रहा था। जिस महदुद्देश्य की पूर्ति के लिए उसने अपने प्राणाधिक पुत्र मेघनाद को मृत्युजय रुद्र के सान्निध्य में भेज दिया था, उसकी पूर्ति के लिए उसे अब अपने महावीर भाई कुम्भकर्ण से, महाकूटनीतिज्ञ सुमाली से, तथा अपने मन्त्रियों से सत्परामर्श लेने थे। उसे पृथ्वी के सब दिक्पाल-लोकपालों को जय करना था। सर्वत्र अपनी रक्षसंस्कृति का डंका पीटना था। वह अभी तक ऋषिकुमार और सप्त द्वीपाधिपति ही था। किन्तु अब वह पृथ्वी भर के नृवंश का महिदेव बनना चाह रहा था।

रात्रि ही में उसने अपने सब प्रमुख राजपुरुषों और राक्षस महज्जनों को भोर ही में सभा करने की आज्ञा दे दी थी। अब वह प्रातः कृत्यों से निवृत्त हो ज्यों ही सभा-भवन की ओर जाने को प्रस्तुत हुआ, तभी मन्दोदरी ने आगे बढ़कर कहा—

"मुझे रक्षेन्द्र से कुछ निवेदन करना है।"

"किन्तु मैं तो अभी बहुत व्यस्त हूं, क्या अगत्य की

बात है ?"

"है तो।"

"किसके सम्बन्ध में ?"

"रक्ष-राजकुमारी सूर्पनखा के सम्बन्ध में।"

"हमारी प्रिय बहिन के सम्बन्ध मे तुम्हें क्या कहना है ? क्या कुछ चिन्तनीय बात है ?"

"चिन्तनीय नहीं, परन्तु विचारणीय तो है। मैं उसके भावी जीवन—उसके विवाह के सम्बन्ध मे कहना चाह रही थी। अभी तक हमने इस सम्बन्ध में विचार ही नहीं किया है, परन्तु अब वह वयस्क भी तो हुई।"

"निस्संदेह, वह हम तीन भाइयों की बहिन है। उसकी कल्याण-कामना से मैं कैसे विमुख हो सकता हूं ?"

"यही तो मैं भी चाहती हूँ। अब हम इस प्रश्न को टाल भी तो नहीं सकते ?"

"क्या कहीं हमलोगो से असावधानी हुई है ?"

"नहीं, परन्तु अब हमें असावधान रहना उचित नहीं है। परन्तु रक्षेन्द्र क्या आज बहुत व्यस्त हैं ?"

"ऐसा ही है।"

"परन्तु बात बहुत आगे बढ़ने से पूर्व हमे कुछ करना होगा।"

"अच्छा, विद्युज्जिह्व की ओर तो तुम्हारा संकेत नहीं है प्रिये ?"

"निस्संदेह, सूर्पनखा उससे प्रेम करती है।"

"बुरा क्या है, विद्युज्जिह्व एक उच्चवंशीय तरुण दानव-कुमार है। सुन्दर और सभ्य है, और यदि वह उससे प्रेम करती है, तो मैं उसे अनुमति दूंगा।"

"पर मैं समझती हूं, वह लड़की अभी प्रेम के तत्व से

नितान्त अज्ञात है। वह तो उससे विवाह करने को आतुर हो रही है।"

"तो मैं उसका अभिनन्दन करता हू। क्यों न वे परस्पर दम्पति बन जायॅ।"

"आह, पर मुझे आपत्ति है, स्वामिन्।"

"क्यों प्रिये, विद्युज्जिह्व को, यदि हमारी बहिन सूर्पनखा प्यार करती है, तो हमें क्यो इस सम्बन्ध मे आपत्ति होनी चाहिए ?"

"क्या रक्षेन्द्रने उसे देखा है ?"

"नहीं, तुमने ?"

"मैंने भी नहीं, वह सदैव छिपकर गुप्त रूप से सूर्पनखा से मिलता है।"

"तो न सही हम उससे परिचित। सूर्पनखा तो उससे भली भांति परिचित है और यह उसी का विषय भी है।"

"यही तो बात है।"

"क्या सूर्पनखा से तुम्हारी इस सम्बन्ध में कुछ बात हुई है ?"

"बस इतनी ही, कि वह उसे प्यार करती है।"

"बस, तो ठीक है।"

"परन्तु हमें अपना दायित्व देखना है राक्षसेन्द्र, हमारे रक्ष-कुल की एक मर्यादा है।"

"निस्सदेह, परन्तु तुम्हारा अभिप्राय क्या है ?"

"वह अभी निपट बच्ची है, नहीं जानती, प्रेम का जीवन पर कितना भार पड़ता है। यह बात तो हमारे ही सोचने की है।"

"सो प्रिये, जब तक हम विद्युज्जिह्व से मिल न लें, हमें अपनी कुछ सम्मति बनानी ही न चाहिए। वह यहीं लका ही में तो है ?"

"परन्तु उसका ठौर-ठिकाना कहां है, वह चोर की भांति आता है, तथा दस्यु की भांति जगलों में भटकता रहता है।"

"उसे आखेट मे अभिरुचि है। साहसिक भी है वह।"

"ऐसे तो दस्यु होते ही हैं।"

"इसमें कदाचित् राज-परिवार की ओर से अविनय हुआ है।"

"कैसे ?"

"मातामह सुमाली ने मुझे बताया था।"

"कि हमने उसका महालय मे स्वागत नहीं किया ?"

"तो प्रिये, तुम भी मातामह से सहमत रहीं।"

"क्यो नहीं, मधु का अविनय, क्या हमारी शिक्षा के लिए यथेष्ट नहीं ? हम कैसे किसी अपरिचित अज्ञात कुल का अभिनन्दन कर सकते थे, जब कि हमने देखा कि वह राजकुमारी पर दृष्टि रखता है ?"

"परन्तु वह वीर सुरुचिसम्पन्न है। सूर्पनखा उसे चाहती है, वह अभिजात्य दानव-कुल का है, फिर उसकी आयु भी तो ऐसी ही है।"

"हाँ, यौवन का प्रारम्भ प्रेम ही से होता है। प्रेमी समझते हैं, प्रेम ही जीवन का सार है, परन्तु रक्ष-महिदेव भी क्या यही समझते है ?"

"कदापि नहीं।"

"मैं भी इसी से इस प्रेम-भावना को प्राथमिकता नहीं दे सकती।"

"तो प्रिये, तुम क्या चाहती हो ?"

"केवल यही, कि रक्षेन्द्र इस विषय पर ध्यान दें। इस विषय को अल्पवयस्क तरुणों के ऊपर छोड़ देना खेदजनक हो सकता है। मेरा मन कहता है, हमें यह सम्बन्ध रोकना चाहिए। यह मुझे श्रेयस्कर नहीं दीख रहा है। असम्भव नहीं, एक दिन योग्य पात्र हम उसके लिए पा जायें।"

"परन्तु उसका प्रेम ?"

"बचपन का अज्ञान है।"

"प्रेम और जीवन के तथ्य का उसे अनुभव होना चाहिए। इसके लिए एक युक्ति यह हो सकती है कि एक ऐसा प्रभावशाली व्यक्ति हमें ढूंढ़ना चाहिए, जिसके साथ बिना ही विवाह किए, वह भाग जाय। प्रेम और जीवन का जब उसे अनुभव हो जायगा, वह स्वयं अपना पति चुन सकने में समर्थ होगी। ऐसे किसी एक पुरुष पर दृष्टि करो प्रिये, मैं भी देखूंगा।"

"इससे क्या लाभ होगा? जब तक उसका मनोतीत पुरुष न होगा, वह उसके साथ भागेगी ही क्यों? फिर, मैं तो किसी ऐसे पुरुष को जानती नहीं।"

"विद्युज्जिह्व ही क्या बुरा है। विवाह की बात छोड़ दी जाय। प्रेम ही को आगे चलने दो, उसे तुम ढील दे दो। वह तो आज ही विद्युज्जिह्व के साथ भाग जायगी।"

"यह रक्षेन्द्र अपनी ही बहिन का परिहास कर रहे हैं।"

"नहीं प्रिये। तुम्हें इसी बात का तो भय है। तुम्हारी बात से तो मैंने यही समझा। देखो, सूर्पनखा मूर्ख नहीं है, सच्ची, भावुक और स्थिरमति लड़की है। मैं उसकी ओर से निश्चिन्त हूं। उसे तुम इसी के पसद के जीवन को चुनने दो। हम राक्षस स्त्रियों पर अपने अकुश रखना नहीं चाहते।"

"मैं भी चाहती हू कि वह अपने जीवन को स्वयं चुने। पर वह भूल नहीं कर सकती, यह तुम नहीं कह सकते। वह दुनिया के सम्बन्ध में कितना जानती है, अपने ही सम्बन्ध में उसका ज्ञान सीमित है। उसके सारे ही आदर्श भावुकता पर आधारित हैं। वह समझती है कि वह सब कुछ जानती है, परन्तु उसका हृदय सो रहा है। वह जब जागेगा, तब तक तो सभवत सब कुछ समाप्त हो जायगा। वह तो बड़ी ही तुनकमिजाज़ लड़की है। ऐसी लड़किया, प्रेम के मामले में सदा धोखा खाती हैं।"

"प्रिये, प्रेम के तत्त्व को मैं सम्भवत. तुमसे अधिक नहीं

समझता ।" रावण ने हँसते हुए मन्दोदरी का आलिगन किया और कहा—"तुम जैसा ठीक समझो करो । पर यह न भूलो कि मैं अपनी बहिन सूर्पनखा को बहुत प्यार करता हूं और उसे सुखी देखा चाहता हूं ।"

और वह एक बार फिर मन्दोदरी को आलिंगन कर तेजी से चला गया ।



"प्रेम और जीवन के तथ्य का उसे अनुभव होना चाहिए। इसके लिए एक युक्ति यह हो सकती है कि एक ऐसा प्रभावशाली व्यक्ति हमें ढूंढ़ना चाहिए, जिसके साथ बिना ही विवाह किए, वह भाग जाय। प्रेम और जीवन का जब उसे अनुभव हो जायगा, वह स्वय अपना पति चुन सकने में समर्थ होगी। ऐसे किसी एक पुरुष पर दृष्टि करो प्रिये, मैं भी देखूंगा।"

"इससे क्या लाभ होगा ? जब तक उसका मनोतीत पुरुष न होगा, वह उसके साथ भागेगी ही क्यो ? फिर, मैं तो किसी ऐसे पुरुष को जानती नहीं।"

"विद्युज्जिह्व ही क्या बुरा है। विवाह की बात छोड़ दी जाय। प्रेम ही को आगे चलने दो, उसे तुम ढील दे दो। वह तो आज ही विद्युज्जिह्व के साथ भाग जायगी।"

"यह रक्षेन्द्र अपनी ही बहिन का परिहास कर रहे हैं।"

"नहीं प्रिये। तुम्हें इसी बात का तो भय है। तुम्हारी बात मे तो मैंने यही समझा। देखो, सूर्पनखा मूर्ख नहीं है, सच्ची, भावुक और स्थिरमति लड़की है। मैं उसकी ओर से निश्चिन्त हूँ। उसे तुम उसी के पसद के जीवन को चुनने दो। हम राक्षस स्त्रियों पर अपने अंकुश रखना नहीं चाहते।"

"मैं भी चाहती हू कि वह अपने जीवन को स्वयं चुने। पर वह भूल नहीं कर सकती, यह तुम नहीं कह सकते। वह दुनिया के सम्बन्ध में कितना जानती है, अपने ही सम्बन्ध में उसका ज्ञान सीमित है। उसके सारे ही आदर्श भावुकता पर आधारित हैं। वह समझती है कि वह सब कुछ जानती है, परन्तु उसका हृदय सो रहा है। वह जब जागेगा, तब तक तो सभवत सब कुछ समाप्त हो जायगा। वह तो बड़ी ही तुनकमिजाज़ लड़की है। ऐसी लड़किया, प्रेम के मामले में सदा धोखा खाती हैं।"

"प्रिये, प्रेम के तत्त्व को मैं सम्भवत. तुमसे अधिक नहीं

समझता ।" रावण ने हँसते हुए मन्दोदरी का आलिगन किया और कहा—"तुम जैसा ठीक समझो करो। पर यह न भूलो कि मैं अपनी बहिन सूर्पनखा को बहुत प्यार करता हूं और उसे सुखी देखा चाहता हूं।"

और वह एक बार फिर मन्दोदरी को आलिंगन कर तेजी से चला गया।



५४

सूर्पनखा

खूब घने काले बाल, चमकती हुई काली आँखे, एक निराला-सा व्यक्तित्व, गहन अहम्मन्यता से भरपूर। रानी के समान गरिमा, पिघले हुए स्वर्ण-सा रग, आदर्श सुन्दरी न होने पर भी एक भव्य आकर्षण से ओतप्रोत। आंखों मे झाकती हुई स्थिर दृढ़ सकल्प-प्रतिमा, कटाक्ष में तैरती हुई तीखी प्रतिभा और उत्फुल्ल ओठों में विलास करती हुई दुर्दम्य लालसा—यह सूर्पनखा का व्यक्तित्व था। प्रतिक्रिया के लिए सदैव उद्यत और अपने ही पर निर्भर। लम्बी, तन्वगी, सतर और अचचल।

उसका असली नाम था "वज्रमणि", परन्तु नाखून उसके बड़े और चौड़े—सूर्प की भांति थे, इससे बचपन ही मे, विनोद और प्यार से भाई उसे चिढ़ाते हुए सूर्पनखा कहते थे, और अब उसका यह नाम प्रसिद्ध था। इस नाम से वह बचपन मे चिढ़ती थी, परन्तु अब नहीं। वह परन्तप रावण और दुर्धर्ष कुम्भकरण की अकेली वहिन थी, प्यार और दुलार के वातावरण में पली हुई। प्रथम रक्ष-कुल, दूसरे राज-कुल, तीसरे प्रतापी भाइयो की प्रिय इकलौती वहिन, चौथे निराला अहस्वभाव, पांचवे स्वच्छन्द जीवन, सबने मिलकर उसे एक असाधारण—कहना चाहिए, लोकोत्तर बालिका बना दिया था।

राक्षसेन्द्र रावण के सामने आकर, उसने शालीनता से कहा—"जय त्वार्य।"

"अये, स्वसा। अपि कुशल ते।"

"प्रीतास्मि। किमाज्ञापयति रक्षेन्द्र।"

"भद्रं ते पश्यामि भगिनि!"

"मेरे लिए रक्षेन्द्र का कुछ आदेश है ?"

"तेरे ही कल्याण के लिए। तू रक्षेन्द्र की प्राणाधिका इकलौती बहिन है।"

"कुछ विशेष बात है ?"

"हां बहिन, तुझसे महिषी मन्दोदरी ने कुछ कहा है ?"

"यही, कि रक्षेन्द्र मुझे देखा चाहते हैं।"

"तो बैठ बहिन, तुझसे मैं कुछ बात करूंगा।"

"कैसी ?"

"प्यार की।"

"कैसा प्यार ?"

"जीवन से प्यार।"

"वह क्या होता है ?"

"क्या तू नहीं जानती ?"

"कदाचित्।"

"तू क्या जीवन को प्यार करती है ?"

"क्यों नहीं।"

"क्या बहुत अधिक ?"

"हां।"

"अच्छा, तो बता, विद्युज्जिह्व कौन है ?"

"वह एक प्रियदर्शी तरुण दानव कुमार है।"

"तू उसे प्यार करती है ?"

"करती हूं।"

"तो लजाती क्यों है ? तेरा चरित्र निर्मल है। प्यार न अपराध है, न पाप। जो सत्य है, वह कह। क्या वह तुझ से बहुधा मिलता रहता है ?"

"नहीं, कभी-कभी।"

"क्या वह कभी-कभी आता है ?"

"बहुधा आता है, पर मुझसे कभी-कभी मिलना होता है।"

"ऐसा क्यों ?"

"महिषी और मातामह को यह रुचिकर नहीं है।"

"क्यों भला ?"

"महिषी प्यार को स्वप्न कहती हैं और सदैव मुझे डराती हैं। उनका कहना है कि किसी पुरुष को प्यार करने से, जीवन का प्यार नष्ट हो सकता है।"

"किन्तु तू क्या समझती है ?"

"मैं तो कुछ नहीं समझती, परन्तु मातामह की बात कुछ और है।"

"वह क्या है ?"

"उनकी व्याह करने की आयु बीत चुकी है, वे कहते हैं, प्रेम एक धोखा है।"

'मातामह की यह धारणा तुझे कैसी लगती है ?"

"ओह, यदि उसे सत्य मान लिया जाय तो, हमें अपने ही जीवन पर अधिकार न रहे।"

"ऐसा तू क्यो सोचती है भला ?"

"इसलिए कि हम जीवन मे एकाकी नहीं हैं।"

"निस्सदेह, परन्तु हमें दूसरों के साथ जीवित रहने के लिए उनके प्रति सच्चे रहना आवश्यक है। यदि दूसरों के साथ जीवन का लय करने में, इतना-सा भी असत्य रह जायगा, तो जीवन का आनन्द समाप्त हो जायगा।"

"ऐसा ही समझती हू, रक्षपति !"

"तो बहिन, यह हमारे लिए आवश्यक है कि जो लोग हमारे जीवन के निकट आएँ, उन्हें और अपने आपको भी हम खूब सावधानी से देखें। निस्सदेह, हमें अपने जीवन पर अधिकार है।

उसी प्रकार, तुझे उस व्यक्ति को प्यार करने का अधिकार है जिसे तू प्रियदर्शी कहती है। तू सचेष्ट रह, और यदि कहीं भूल हो तो उसे गुप्त न रख। जीवन की निष्ठा इसी में है।"

"मैं समझ गई।"

"अच्छा तो सुन, तू क्या विद्युज्जिह्व से विवाह करना चाहती है ?"

"निस्संदेह।"

"तब तो, मुझे भय है कि तू जीवन को प्यार नहीं करती।"

"ऐसा क्यों ?"

"हमें जैसे अपना सत्य देखना है दूसरों के प्रति, उसी भांति दूसरों का अपने प्रति भी तो ?"

"किन्तु प्रत्येक व्यक्ति को अपने सम्बन्ध में निर्णय करने का अधिकार है।"

"अवश्य ही है।"

"तो मैं चाहती हूं कि मैंने जो निर्णय किया है, उसमें रक्षेन्द्र बाधा न दें।"

"बाधा नहीं देना चाहता, मैं यह देखना चाहता हूं कि तू अपने जीवन को क्या वास्तव में प्यार करती भी है ? तू विद्युज्जिह्व को प्यार करती है तो तू उससे विवाह कर, किन्तु वह उपयुक्त पुरुष है, यह अवश्य देख।"

"रक्षेन्द्र क्या कहना चाहते हैं ?"

"सुन, क्या तू किसी पुरुष के साथ भाग जाना पसन्द करेगी ?"

"किसी के साथ मैं क्यों भागूंगी ? मैं विद्युज्जिह्व के साथ व्याह करूंगी।"

"विवाह के लिए जल्दी क्या है ? अभी तू किसी पुरुष के साथ भाग जा।"

"क्यों भला ?"

"स्त्रियां प्राय किसी प्रेमी के साथ भाग जाया करती हैं। कोई विवाह के पहिले भागती है, कोई पीछे। मेरा विचार है, पीछे भागने की अपेक्षा पहिले ही भाग जाना अच्छा है।"

"वाह !"

"प्रजघ को देखा है तूने ?"

"कौन है वह ?"

"मेरी सेना का एक तरुण गुल्मपति है। तेजस्वी और मेधावी। चीते की भांति चचल। वह उर नगर के अभिजात्य दैत्य-कुल का है।"

"तो उससे मुझे क्या ?"

"तू उसके साथ कुछ दिन के लिए भाग जा। इससे तुझे लाभ होगा। दुनिया की ऊंच-नीच का ज्ञान हो जायगा। तेरा मस्तिष्क और हृदय विस्तृत हो जायगा। यह भी सम्भव है तू उसे ही प्यार करने लगे, और उसी से विवाह कर ले।"

"परन्तु मैं तो विद्युज्जिह्व को प्यार करती हू।"

"ठीक है, तो तू अभी प्रजघ के साथ भाग जा। प्रेम सम्बन्धी अपने अनुभव पुष्ट कर—फिर लौट कर विद्युज्जिह्व से व्याह कर।"

"अच्छी दिल्लगी है।"

"कदाचित् तूने इसकी उपयोगिता पर ध्यान नहीं दिया। विद्युज्जिह्व से प्रथम तो तेरा किसी पुरुष से सम्पर्क ही नहीं हुआ। विद्युज्जिह्व को भी तू सर्वतोभावेन नहीं जानती। बहुत कम तेरा उससे मिलना हुआ है। फिर तू उसके व्यक्तित्व को किसी अन्य पुरुष से कैसे तौल सकती है ? प्यार का पात्र कौन है—इसका चुनाव कैसे कर सकती है ? इसी से दूसरे पुरुष का भी तो अनुभव प्राप्त कर। फिर उससे विद्युज्जिह्व के सौष्ठव को तौल।"

"इससे क्या होगा ?"

"पता चल जायगा कि क्या वह दूसरों की अपेक्षा श्रेष्ठ गुणों का स्वामी है ? क्या वह दूसरों की अपेक्षा तेरे जीवन को अधिक सुखी कर सकेगा ? तू यदि अपने जीवन को प्यार करती है, तो विद्युज्जिह्व या और किसी को अपना अन्धा प्यार मत दे। उसी को अपना समर्पण कर, जो तुझे तेरा सबसे अधिक मूल्य चुकाए—सबसे अधिक प्यार करे। मैं नहीं चाहता कि तू विद्युज्जिह्व को अंधा प्यार देकर अपने जीवन को कष्ट में डाल दे। मेरा कहना यही है कि प्राथमिकता तू अपने ही जीवन के प्यार को दे—विद्युज्जिह्व के प्यार को नहीं। जो तेरे जीवन को प्यार दे, उसे ही तू प्यार कर, पर अपने जीवन से अधिक नहीं।"

"यह सब सोचकर ही तो मैंने विद्युज्जिह्व को प्यार किया है।"

"अच्छा कह, वह कैसा पुरुष है ?"

"दर्शनीय, स्फूर्तिमय और छरहरा शरीर, उदग्र और साहसिक। देखोगे तो पसंद करोगे।"

"यह हुआ आकर्षक व्यक्तित्व। किन्तु गुण, विशेषताएं, आचरण ?"

"वह एक मेधावी और दूरदर्शी तरुण है। अपनी आयु से अधिक वह गम्भीर है। अपने कर्तव्य का उसे ज्ञान है। उसका सहवास मुझे सुखकर है, उसके सान्निध्य से मैं निश्चिन्त हूं।"

"यहीं मैं सदिग्ध हूं। अच्छा, क्या उसमें कुछ दोष भी हैं ?"

"एक भी नहीं, वह एक आदर्श तरुण दानव है।"

"उसके पारिवारिक जीवन के सम्बन्ध में तू कुछ नहीं जानती ?"

"इतना ही जानती हूँ, कि उसका पिता चिर प्रवासी है। घर लौटा नहीं है— और उसकी माता ने एक दुश्चरित्र और

ज्वारी दैत्य को घर में डाल लिया है। अब वे दोनों उसके वैरी हैं। उन्हें भय है कि अब वह समर्थ होकर उनसे अपने पिता की सम्पत्ति न छीन ले। वे उसे खपा डालने पर तुले हैं। इसी से वह भाग कर लका मे आ छिपा है। वह एक उपेक्षित और अनादृत पुत्र और निराश्रय तरुण है।"

"इसी से तेरी उसके प्रति इतनी आसक्ति है?"

"प्रथम सहानुभूति हुई, फिर प्रेम, और अब आसक्ति।"

"क्या उसका कोई प्रिय बन्धु-बान्धव नहीं है?"

"मैं हूं। और रक्षेन्द्र से अनुनय करती हूँ कि उसे अपनी शरण में ले लें।"

"वह किस वंश का है?"

"कालिकेयों के वंश का।"

"अरे, वह तो हमारे शत्रु हैं।"

"परन्तु वह तुम्हारा बान्धव है, चिर अनुगत।"

"कब से तू उसे जानती है?"

"अब यह वर्ष समाप्त होता है।"

"मातामह को तो वह भाया ही नहीं।"

"कैसे भा सकता था, तरुणों के हृदय को ये वृद्ध थोड़े ही समझते हैं?"

"ठीक है। परन्तु बहिन, मैं वृद्ध नहीं हूँ—फिर भी ज्येष्ठ हू।"

"और मैं रक्षेन्द्र की प्रजा और छोटी बहिन हूँ।"

"प्रजा नहीं, बहिन, प्राणाधिक बहिन। परन्तु मेरे दायित्व को भी तो तू देख। विद्युज्जिह्व तेरे ही कथनानुसार सुन्दर और बुद्धिमान तरुण होने पर भी विपन्न, निराश्रित है। वह तेरे लिए अनुपयुक्त पति भी प्रमाणित हो सकता है। अभी कैसे हम निर्णय कर लें? कैसे मैं तुझे उससे विवाह करने की अनुमति दे दूँ?-ठीक यही है कि विवाह की बात अभी रहने दे। तू प्यार करती

है तो कर। पर जल्दी न कर। मुझे भी कुछ उस पुरुष से प्रभावित होने दे।"

"किन्तु रक्षेन्द्र कैसे मुझे विवाह से वंचित रखना चाहते हैं? हम दोनों परस्पर सख्य रखते हैं। हम एक दूसरे के पूरक हैं, ऐसा मेरा विश्वास है। इसमें बाधा उपस्थित करके रक्षेन्द्र मेरे साथ न्याय नहीं कर रहे।"

"मैं स्वीकार करता हूं कि तू उस आयु को पहुंच चुकी है कि तू दाम्पत्य सुख को ग्रहण करे। मैं अवश्य तेरा विवाह करके प्रसन्न होऊंगा। विद्युज्जिह्व के विरुद्ध भी मुझे कुछ कहना नहीं है, पर मैं यह अवश्य चाहता हूँ कि तू एक निरापद और आनन्द-मय जीवन का आश्रय ले।"

"यह सब व्यर्थ है। मैंने विद्युज्जिह्व से ही विवाह करने का निश्चय कर लिया है।"

"किन्तु मैंने तुझसे अजब के सम्बन्ध में जो बात कही?"

"मैं तो उस पुरुष को जानती भी नहीं।"

"क्या तू उससे मिलना चाहती है?"

"बिल्कुल नहीं।"

"तू उसके साथ भाग क्यों नहीं जाती?"

"मैं क्यों भागूं? मैं तो विद्युज्जिह्व के साथ विवाह करूंगी।"

"सो उसमें क्या बाधा है? पुरुषों के गुण-दोषों का कुछ ज्ञान तो तुझे हो जायगा।"

"मैं समझती हूँ—मैं उतनी मूढ़ नहीं हूँ, भाई।"

"विद्युज्जिह्व के साथ तो तेरा बहुत ही अल्प सम्पर्क रहा है?"

"किन्तु, आत्मा की गहराई तक। हमलोगों ने कभी भी प्रेम के सम्बन्ध में बातचीत नहीं की। केवल प्रेम किया है। किन्तु मैं उससे कितनी प्रभावित हूँ, यह रक्षेन्द्र सोच भी नहीं सकते।"

"बहिन, मैं तेरे प्रेम का अभिनन्दन करता हूँ।"

"तो भाभी से कह दिया जाय,वह क्यों विद्युज्जिह्व को तेल में होकर देखती हैं।"

"बहन, वह केवल तेरी भाभी ही तो नहीं, राजमहिषी हैं, तेरी अभिभावक भी हैं।"

"आप भी तो राक्षसेन्द्र हैं, सारी ही रक्ष-जाति के अभिभावक, सो आप क्या मेरे जीवन पर अपना अनुशासन रखेंगे ?"

"नहीं बहिन, नहीं।"

"तो महिषी से भी कह दीजिए। वह आ रही हैं, अभी कह दीजिए।"

मन्दोदरी ने आकर पूछा—"क्या मुझसे तुम्हें कुछ कहना है ?"

"मैं महिषी और रक्षेन्द्र से यही निवेदन करना चाहती हूँ कि मेरे जीवन पर किसी का अनुशासन नहीं है।"

"राक्षसों की संस्कृति ही स्वतन्त्र भावनामूलक है। राक्षसों का प्रत्येक जन अपने जीवन मे स्वतन्त्र है।"

"तो मैं विद्युज्जिह्व को प्यार करती हूँ। उससे मैं विवाह करना चाहती हू।"

"और मेरा यह कहना है कि प्यार-प्रीति के अनुभव लेने के लिए क्यों न सूर्पनखा किसी तरुण के साथ भाग जाय, पीछे विद्युज्जिह्व या वह तरुण जो उसे रुचे, उसी से ब्याह कर ले।" —रावण ने मन्दोदरी को लक्ष्य करके कहा।

"बुरा क्या है ? परन्तु ऐसा कोई पुरुष रक्षेन्द्र ने सोचा है क्या ?"

"हमारा गुल्मनायक प्रजघ ही है, उसी को मैं प्राथमिकता दूंगा।"

"सूर्पनखा के लिए यह उत्तम होगा।"

"पर मैं किसी के साथ भागूँ क्यों ? मैं जिसे प्यार करती हूँ, उससे व्याह करूंगी।"

"व्याह करने पर उसने तेरे जीवन को संतप्त किया तो ?"

"ऐसा क्यों होगा भला ?"

"बहुत होता है बहिन, तुम भोली हो, समझती नहीं हो। तुम्हारी जैसी बालिकाएं इसी प्रकार प्रथम प्रेम के ज्वार में व्याह कर बैठती हैं। फिर एक पुरुष को छोड़ दूसरे के साथ भाग खड़ी होती हैं।" —मन्दोदरी ने प्रेम-मुद्रा से कहा।

"यही मैं कहता हूँ—व्याह के पीछे भागने से व्याह से पहले भागना अच्छा है।"

"तो भागना ही है तो विद्युज्जिह्व ही क्या बुरा है ?"

"हम कैसे कहें, हमने तो उसे देखा नहीं।" रावण ने कहा।

मन्दोदरी ने गम्भीर होकर कहा—"यौवन का आरम्भ प्रेम ही से तो होता है, परन्तु युवक और युवती केवल जीवन को प्यार ही करना जानते हैं, उन्हें संसार का अनुभव कुछ नहीं होता, इससे उनका प्यार खोखला हो जाता है, और जीवन निराश। विवाह एक दुःखद घटना हो जाती है। सूर्पनखा को मैं उससे बचाना चाहती हूं, उसने अभी दूसरे किसी तरुण को प्यार की दृष्टि से देखा ही नहीं है।"

कुछ रुककर उसने फिर कहा—"उसे तरुणों के प्यार का अनुभव होना चाहिए, प्यार के घात-प्रतिघातों से भी उसे अज्ञात न रहना चाहिए। फिर वह भी तो भूल कर सकती है। यह कितना अपमानजनक होगा, सोचो तो। हमारा विश्वविश्रुत प्रतिष्ठित रक्ष-कुल है। और सूर्पनखा सप्तद्वीपपति रक्ष-राज की सगी बहिन है। वह आत्मविश्वास से भरपूर है, परन्तु उसकी दृष्टि एकांगी है। अभी वह दुनियां के सम्बन्ध में कुछ भी नहीं जानती। उसके विचार भावुकता से ओत-प्रोत हैं। उसने अपने निकटतम वातावरण

से एक योजना स्थिर कर ली है, और वह समझती है कि वह सब कुछ ठीक-ठीक कर रही है। पर अभी वह बच्ची ही तो है। उसका हृदय तो अभी सो ही रहा है। एक दिन वह जगेगा तो वेदना के हाहाकार से भर जायगा इसी से मैं नहीं चाहती कि वह मूर्ख, भावुक लड़कियों की भांति उसी तरुण से ब्याह कर ले जिसे उसने प्रथम बार ही जरा सा जाना हो और जरा सा ही प्यार किया हो।"

इतना कहकर मन्दोदरी ने सूर्पनखा की ओर देखा। रावण ने उसका समर्थन करते हुए कहा—

"तभी तो मैंने कहा कि वह किसी तरुण के साथ कुछ दिन के लिए पहिले भाग जाय। ऐसा एक तरुण मेरी नजर में है, प्रजंघ।"

"परन्तु प्रजघ से मेरा क्या लेना-देना है? मैं उसके साथ क्यों भाग जाऊ?"—सूर्पनखा ने गुस्सा होकर कहा।

"मेरी प्यारी रक्ष-राजनन्दिनी, तुम्हें वस्तु का यथार्थ ज्ञान होना ही चाहिए। तुम्हारा शरीर और आत्मा परिपूर्ण होगा, तब वह आह्लाद से एक दिन ओत-प्रोत हो जायगा। तब ही चैतन्य आत्माए परस्पर मिल कर जीवन के सच्चे आनन्द को प्राप्त करेंगी। परन्तु तुमने यदि भावुकता और आवेश मे आकर कुछ चूक की तो तुम्हारे इन नेत्रों में—जो आज प्रेम से उत्फुल्ल हैं—करुण विष भर जायगा। ऐसा ही बहुधा होता है बहिन, मैं जानती हूं। मैंने देखा है।"

"क्या यह महिषी ने जीवन के प्यार की व्याख्या की?"

"नहीं, केवल प्यार की, जिसके फेर में तुम फसी हो।"

"तो जो किसी को प्यार करते हैं, वे जीवन के प्यार से वंचित ही रह जाते हैं?"

"ऐसा ही मैं समझती हू। जो किसी के प्यार में फस जाते हैं, वे प्राय जीवन को प्यार नहीं करते। अन्य प्रेम की भाति

जीवन का प्रेम नहीं किया जाता। उसमें एक कलापूर्ण कौशल की आवश्यकता है—भावावेश की नहीं। और कलापूर्ण कौशल तो सीखना ही पड़ता है।"

"वह चिर साध्य है। उसे सीखने को बहुत समय चाहिए। बहुधा जब लोग उसे जान पाते हैं—उनका यौवन ढल जा चुका होता है। वह तुरन्त ही प्यार करने-जैसी कोई छोटी चीज नहीं है, रक्षराजनन्दिनी !"

"तो क्या महिषी विद्युज्जिह्व में कोई दोष देख रही हैं ?"

"अनेकों। वह अप्रत्याशित गम्भीर और अन्यमनस्क है। उसे न कोई अनुभव है, न उसके अधिकार में कोई सम्पदा है, न जीवन का सहारा। वह जीवन को नहीं—जीवन के प्रवाह को देख सकता है। वह भाग्यवादी है और जीवन के भय से छिप कर रहता है। निस्संदेह वह भावुक है। दूसरों के प्रति अपने कर्तव्य को समझता है। वह सच्चा और स्पष्टवक्ता है—परन्तु वह वह पुरुष नहीं है, जो हमारी बहिन को जीवन की राह दिखा सके—न वह ऐसा ही है जिसे कुछ सिखाया जा सकता है। ऐसे पुरुष को प्यार करके कौन स्त्री अपने जीवन को सुखी कर सकती है ?"

सूर्पनखा रोने लगी। उसका कुछ भी विचार न कर मन्दोदरी कहती चली गई—"विद्युज्जिह्व को अपने जीवन से भी प्यार नहीं है। किसी स्त्री का प्रेम के प्रभाव में आने का अर्थ है किसी पुरुष को प्रेम करना। परन्तु मैं नहीं चाहती कि कोई कुमारी किसी ऐसे तरुण को प्यार करे जो सब ओर से असहाय हो, अव्यवस्थित, अस्तव्यस्त हो।"

"तुमने तो विद्युज्जिह्व को देखा नहीं है ?" रावण ने कहा।

"नहीं जो सुना उसी पर मैंने सूर्पनखा को हितकर बात कही है।

"क्यों न उसे बुलाकर उसे अपनी योग्यता प्रमाणित करने

की प्राथमिकता दी जाय।"—रावण ने कहा—

"बहिन, सूर्पनखा, क्या तुम उसे एक सदेश नहीं भेज सकती ?"

"नहीं"

"क्यों नहीं ?"

"वह छिप कर रहता है। कहां रहता है, मैं नहीं जानती। वह अपनी सुविधानुसार आता है। वह जब तक आए—हमे प्रतीक्षा करनी होगी।"

"क्या वह तुझ पर विश्वास नहीं करता। अपने भेद छिपाता है ?"

"उसने अपना गुप्त स्थान मुझे बताना चाहा था। पर मैंने ही उसे रोक दिया। उसे अपने सौतेले बाप का भय है, जो उसे मार कर अपनी राह का कटक दूर करना चाहता है। फिर लका में कालिकेयों का कौन मित्र है ? कालिकेय तो राक्षसों के शत्रु हैं ही। उसने अपनी कुछ गुप्त बातें मुझे बताई हैं। एक प्रकार से उन्हीं पर उसका जीवन-मरण निर्भर है। मैंने ही उसका गुप्तवास जानना न चाहा।"

"तब तो उसके आने तक हमें रुकना ही होगा।"

"किन्तु क्या रक्षेन्द्र उसका मणि महालय में स्वागत करेंगे ?"

"अवश्य बहिन, क्यों नहीं ?"

"और महिषी ?"

"मैं भी बहिन। हम दोनों ही रक्ष-राजनन्दिनी के कल्याण-अभिलाषी हैं।"

"उपकृत हूँ। आप्यायित हूँ। आप दोनों मेरे माता-पिता हैं। मैं आपकी शरण हू।"

५५

विद्युज्जिह्व

राक्षसपुरी लंका अपने ढंग की बिल्कुल निराली नगरी थी। उसमें कितनी सुषमा थी और कितनी कुत्सा—यह कहना कठिन था। वहां के वन-उपवन बड़े विशाल और रमणीय थे। वे वन-उपवन चम्पा, चमेली, अशोक, मौलसिरी, साखू, ताड़, तमाल, कटहल, नागकेसर, हिन्ताल, अर्जुन, कदम्ब, तिलक, कार्णिकार आदि पुष्पित वृक्ष-लताओं से आच्छादित थे। कुबेर का चैत्ररथ नामक विहार-वन ऐसा मनोहारी और अनुपम था, जिसका वर्णन हो ही नहीं सकता। उसमें सभी ऋतुओं के पुष्प पुष्पित थे। पपीहा, कोकिल और नाचते हुए मोर अपने मधुर शब्दों से उस उद्यान को गुंजायमान कर रहे थे। भांति-भांति के विहंगों के कलरव और भ्रमरावलि से गुंजायमान उस उपवन का पुष्प-वासित शीतल, मन्द, सुगन्ध समीर प्राणों में आनन्द का संचार करता था।

लंका के त्रिकूट-शिखर का विस्तार सौ योजन था। उसी के एक शिखर पर स्वर्णलंका बसी थी, जिसकी लम्बाई बीस योजन और चौड़ाई दस योजन थी। इस नगर के प्राचीर के गगनस्पर्शी चार द्वार, श्वेतवर्ण मेघों के समान प्रतीत होते थे। जैसे वर्षा ऋतु के सघन घन विविध आकृति के होते हैं, वैसे ही लंका के भवन, प्रासाद और मन्दिर थे। कुबेर का राज-प्रासाद एक सहस्र स्तम्भों पर आधारित था, जिसकी धवल सुषमा कैलाश के समान थी। इसी को रावण ने अपनी रुचि और विलास भावना से, फिर से मणि-मुक्ता से सुसज्जित

किया था। दस सहस्र धनुर्धर राक्षस दिन-रात उसकी रखवाली करते थे। धन, धान्य, रत्न, मणि, स्वर्ण और योद्धाओ से भरपूर, यन्त्रयुक्त कपाटो से सुरक्षित वह लंकापुरी सब पुरियों से विचित्र और शोभासम्पन्न थी।

पाठकों को स्मरण होगा कि यह लका दैत्यो की थी। यहां हम सक्षेप में फिर उस इतिहास को दोहराते हैं। जिस समय का उपाख्यान इस उपन्यास मे वर्णित है, उससे कोई डेढ़ सौ वर्ष पहले, दैत्यो का साम्राज्य पृथ्वी में सर्वोपरि था। इस साम्राज्य के प्रतिष्ठाता हिरण्यकशिपु, हिरण्याक्ष, वज्रांग, अधक और वज्रनाभि आदि थे। इनमे हिरण्यकशिपु और हिरण्याक्ष का प्रताप सर्वोपरि था। हिरण्याक्ष की सहायता से, हिरण्यकशिपु ने अपना राज्य बहुत बढ़ा लिया था, जिसका बड़ा आतक पृथ्वी भर के राज्यों पर था। हिरण्याक्ष ने जो अपना दूसरा साम्राज्य स्थापित किया था, वही आगे चलकर विश्रुत बेबिलोन साम्राज्य के रूप में विकसित हुआ था। इन दोनों भाइयो ने अनेक देवराजों को पदच्युत कर दिया था, तथा ये त्रिलोकपति विख्यात थे। इन दोनों भाइयों का साम्राज्य वर्तमान एशियाई रूस, सफेदकोह, काकेशिया, पामीर से तुर्किस्तान और अफगानिस्तान तक फैला हुआ था। उन दिनों देवगण, जो आदित्य भी कहाते थे, सुमेरु—पामीर ही तक सीमित थे। उनका वहां एक छोटा सा गणतन्त्र था। पीछे गन्धर्व अप्सराओं की एक नई मिश्रित जाति हेमकूट—कुराकुरम पर, और नागो की निस्सा पहाड़ पर आ बसी थी। ऋषि नीलाचल में और पितृ शृगवान् पर्वत के अचल मे रहते थे, जो सुमेरु से पश्चिम काश्यप-सागर के तट पर था। वाराहो का एक छोटा सा राज्य केतुमालद्वीप में था जो देवो के मित्र थे। वरुण ने प्रलय के बाद उनसे पृथ्वी के संस्कार-उद्धार मे भारी मदद ली थी। तब से वाराहपति भी

देवों की पंक्ति में गिने जाने लगे थे। वाराहों ने घात पाकर, एक दिन वन में मृगया को गए हुए हिरण्याक्ष को मार डाला। तब से हिरण्यकशिपु का राज्य डगमगा गया। फिर भी किसी प्रतापी देव ने इस पर चढ़ाई करने का साहस नहीं किया। अन्त में विष्णु के प्रयास से उनके भाई नृसिंह ने, जो हिरण्याक्ष के मरने पर बेबिलोनिया साम्राज्य के स्वामी बन गए थे हिरण्यकशिपु को भी मल्लयुद्ध में मार डाला। लाचार, हिरण्यकशिपु के पुत्र प्रह्लाद को विष्णु से संधि करनी पड़ी। देवों की ओर से विष्णु ने वचन दिया कि अब दैत्यों का रक्त पृथ्वी पर नहीं गिरेगा। इसके बाद प्रह्लाद और उसके पुत्र विरोचन ने कोई राजनैतिक महत्ता नहीं प्राप्त की। आदित्यों से इनके युद्ध हुए अवश्य और उनके दबाव से दैत्यों ने पूर्व की ओर अपना प्रसार प्रारम्भ किया। उत्तर-पश्चिम के राज्य-समूह उनसे छिन गए और वहां देवों तथा आदित्यों के अनेक खण्ड-राज्य स्थापित हो गए।

इसके बाद, विरोचन-पुत्र बलि बड़ा प्रतापी हुआ। उसने अपने पिता विरोचन और पितामह प्रह्लाद के जीवन-काल में ही अपनी राजनैतिक महत्ता बढ़ा ली थी और अपना नया साम्राज्य संगठित कर लिया था। उसने दैत्यों और दानवों को संधि द्वारा एक सूत्र में बांधा। उसने राजनैतिक ही नहीं—सांस्कृतिक सम्बन्ध भी स्थापित कर लिए। धीरे-धीरे उसके गुण, शौर्य और राजनीतिज्ञता, पुरुषार्थ, न्यायपटुता, धर्म, दान आदि गुणों के कारण उसका यश दूर-दूर तक फैल गया। एक बार दैत्यों का फिर बोलबाला हो गया। परन्तु देवों को यह सहन कैसे हो सकता था? उन्होंने नागों से मित्रता के सम्बन्ध स्थापित किए और बलि से अंततः उनका विकट समर हुआ।

इस महासंग्राम में बलि का दोष न था। उसने अपने प्रपितामह के निधन का वैर छोड़ कर देवों से संधि की, उनके

साथ मिलकर समुद्र-मथन किया और पूरा परिश्रम करने पर भी दैत्य खाली हाथ रह गए। सो देवों की इस धींगाधींगी और अपमान से खीझ कर बलि ने युद्ध ठान दिया जिसमे प्रह्लाद तक ने वृद्धावस्था में योग दिया। इस युद्ध मे दैत्यो के कटक मे महापद्मिनी, पद्म, कुम्भ, कुम्भकर्ण, कांचनाक्ष, कपिकन्ध, क्षिति, कम्पन, मैनाक, उर्ध्ववक्र, शितकेश, विकच, सुबाहु, सहस्रबाहु, व्याघ्राक्ष, वज्रनाभि, एकाक्ष, गजस्कन्ध, गजशीर्ष, कालजिह्व, कपि, हयग्रीव, प्रह्लाद, शम्बर, अनुह्लाद, नमुचि, यम, पुलोमा, विरोचन, धेनुक. युवराज बाण, अनायुषा-पुत्र बलि, विषपर्वा, विप्र, कनकबिन्दु, कुजभ, एकचक्र, राहु, विप्रतिति, केशी, हेममाली, मय आदि अनेक दैत्य-दानव छत्रपति और माण्डलिक सरदार लड़े। देवों की ओर विद्याधर, गन्धर्व, नाग, यक्ष, डम्बर, तुम्बर, किन्नर आदि थे। युद्ध में पहिले देवों को पराजित होकर अफगानिस्तान की ओर भागना पड़ा। उन्हें अपना देव-लोक भी खो देना पड़ा। पीछे उन्होंने वृहस्पति और वामन के द्वारा सधि कर तथा बलि को यज्ञ मे फंसा कर, उसका बल हरण कर, अन्त में बलि को पराजित किया।

इस युद्ध में दैत्य-दानवो का बल भग हो गया और उनका साम्राज्य भी छिन्न-भिन्न हो गया। लकाधिपति दैत्य-बन्धु माली, सुमाली और माल्यवान के इस युद्ध मे सब परिजन खेत रहे। परन्तु बलि-पुत्र बाण ने फिर उत्कर्ष दिखाया। उसने रुद्र से मित्रता की, जिससे उसकी शक्ति अमोघ हो गई। अपने काल का बाण महान् दैत्य-सम्राट् था। उसकी शक्ति अपरिसीम थी। इसी के समय में कालिकेयों की एक नई जाति दानवो में से विकसित हुई। कश्यप की तृतीय पत्नी दनु की दो कन्याए भी थीं जिनमें एक पुलोमा थी—दूसरी कालिका। इन दोनों की सतानों से दानवो की दो नई शाखाए चलीं—पौलोम

और कालिकेय। इस समय बीस सहस्र कालिकेयों ने बाण की आधीनता स्वीकार कर उसका बल बढ़ाया, परन्तु काल पाकर बाण का भी बल-क्षय हुआ और कालिकेयों को कश्यप-तट छोड़ कर, लंका की ओर भागना पड़ा। इनमें से बहुतों ने लंका के आसपास के द्वीप-समूहों पर अधिकार कर लिया। ये सारे ही द्वीप इस समय रावण के रक्ष-साम्राज्य में आ चुके थे। अतः रावण को कालिकेयों पर बहुत बार सेना भेजनी पड़ी। परन्तु हर बार कालिकेयों ने राक्षस-सैन्य को प्रताड़ित किया। कालिकेयों के आतंक का सिक्का राक्षसों पर बैठ गया, पर महत्वाकांक्षी रावण ने अभी कालिकेयों की गति-विधि पर विशेष ध्यान नहीं दिया था। वह अपने भारत-प्रवास में चला गया था। इसी बीच विद्युज्जिह्व लंका में छद्मवेश में आने-जाने लगा। वही वास्तव में कालिकेयों का सरदार था। राक्षसों के भय से वह छिप कर लंका में आता था, पर दैवयोग से उसका परिचय हो गया सूर्पनखा—राजकन्या से। इसलिए, अब लंका में उसका आना-जाना और ही प्रकार का हो गया। वह सूर्पनखा से भी छिप कर मिलता था, इसलिए बहुधा कई-कई दिन तक उसे घात में लंका में छिपे रहना पड़ता था।

विद्युज्जिह्व एक प्रतिभासम्पन्न और वीर तरुण था। साहस की भी उसके शरीर में कमी न थी। अपने अदम्य साहस और उत्साह के कारण ही वह कालिकेयों का सरदार बन गया था। अपने असाधारण विक्रम से उसने वह द्वीप जय किया था, और हर बार राक्षसों को उससे हार खाकर भागना पड़ता था। परन्तु उसने अभी लंका में यह प्रकट नहीं किया था कि वही कालिकेयों का सरदार है। सूर्पनखा उसे एक कुलीन दानव-तरुण ही समझती थी। उसकी उठान बड़ी सुन्दर थी, घुंघराले काले बाल तथा भरी हुई गर्दन। रंग कृष्णवर्ण था, पर दांत हीरे के समान

उज्वल और चमकदार थे। हास्य उसका बडा निर्मल था। उसका विशाल वक्ष, प्रचण्ड बाहु, पुष्ट जघन और तीखी दृष्टि उसके व्यक्तित्व को आकर्षक बना देती थी। वह शब्दवेधी था। धनुष भी उसका खूब बड़ा था। बाणों का तूणीर सदैव ही उसके कन्धे पर पड़ा रहता था। इसके अतिरिक्त एक विशाल शूल भी वह हाथ में रखता था। सूर्पनखा से, तथा अन्यत्र भी, मित्रों से उसने यही कहा था कि वह आखेट के लिए, लंका के वनों में शौक से घूम रहा है। सूर्पनखा के अतिरिक्त यह कोई नहीं जानता था कि वह कालिकेय दानव है।

सन्ध्या को अन्धकार गहरा होता जा रहा था। इसी समय विद्युज्जिह्व लम्बे-लम्बे डग भरता हुआ लंका की वीथियों में तेजी से आगे बढ़ता जा रहा था। वीथिका में अन्धकार था। वह नगर का बूचर महल्ला था जहां नर-मांस से लेकर सब पशुओं का मांस मिलता था। यहां व्याघ्र का मांस भी बिक रहा था जिसे लोग शौर्य-वृद्धि के लिए खाना रुचिकर समझते थे।

विद्युज्जिह्व के कन्धे पर एक भारी हरिण का भार था। जो बाण उसके हृदय में पार हो गया था, वह अभी उसके शरीर में ही अटका हुआ था। उसमें से अभी तक रक्त टपक रहा था। उसके झोले में और भी कुछ पक्षी थे जिन्हें उसने शिकार किया था; परन्तु ऐसा प्रतीत हो रहा था, जैसे उसकी स्नायु लोहे की बनी हो। वह दूर से आ रहा था और उसके पास काफी बोझा था; परन्तु वह बिल्कुल तरोताजा था।

एक जीर्ण किन्तु विशाल घर के फाटक पर आकर वह तनिक ठिठका। फिर वह भीतर घुस गया। उस समय घर के विशाल आंगण में अन्धेरा छाया था। कोई पुरुष भी वहां न था। वह दालान पार कर भीतर चला गया, जहां बहुत से राक्षस, दैत्य, दानव, नर, नारी, बालक बैठे खा-पी रहे थे। सबके हाथों में बड़े-

वड़े भुने हुए मांस-खण्ड थे और मद्य के भरे हुए भाण्ड उनके आगे धरे थे। वह उनपर भेड़ियों की भांति जल्दी-जल्दी तीखे दांतों का प्रहार कर रहे थे तथा मद्य पी रहे थे। विद्युज्जिह्व ने कन्धे का भार एक ओर सहन में पटक दिया; फिर उसने इधर-उधर देख एक राक्षस-लड़की को संकेत से निकट बुला कर कहा—"अरी सरमा, इन पक्षियों को मेरे लिए झटपट अभी भून ला। जल्दी कर और नमक भी संग ही ले आ।"राक्षस-बाला मृत पक्षियों से भरा चमड़े का झोला लेकर भीतर चली गई। उसने उलट कर देखा तो उसमें एक सांप भी था। सांप बहुत मोटा था, और अभी तक उसके फन से विष और झाग निकल रहे थे।

वह उसे हाथ में लिए आई। विद्युज्जिह्व एक शिलाखण्ड पर बैठ एक समूचे सूअर में दांत गड़ा रहा था। सरमा ने कहा—"यह सांप क्यों लाया है?"

"पनियर है, खूब चर्बी है इसमें। मेरे लिए भून ला। मजेदार रहेगा। मुझे इसका शौक है।"

"और यदि दूषी विष हो गया तो क्या होगा?"

"विद्युज्जिह्व मर जायगा, और क्या होगा। तेरा बहुत झंझट छूट जायगा। जा भाग।"—इतना कहकर उसने सूअर की उरोगुहा में हाथ घुसेड़ कर उसका कलेजा खींचकर बाहर निकाल लिया और चाव से खाने और हँसने लगा।

सरमा चली गई। थोड़ी ही देर में वह उस सांप को और पक्षियों को समूचा भून-भान कर ले आई। विद्युज्जिह्व ने प्रसन्न मुद्रा से उसकी ओर देखा और सांप के खण्ड करके रुच-रुच कर खाना आरम्भ किया। सरमा खड़ी देखती रही। उसने कहा—

"क्या मद्य लाऊं?"

"ले आ, दो भाण्ड।"

परन्तु सरमा ने एक भाण्ड लाकर उसके आगे धर दिया। विद्युज्जिह्व ने क्रुद्ध होकर कहा—

"अरी कृत्या, मैंने दो कहा था।"

"दो बहुत हैं। तू संयत नहीं रह सकता।"

"तो तुझे क्या? तू भाण्ड ला।"

"यह है तो।"

"एक और ला।"

"एक ही यथेष्ट है।"

"तू मुझ पर अकुश रखती है?" उसने लाल-लाल आंखों से राक्षस-बालिका को देखा। परन्तु राक्षस-बाला फिर भी नहीं गई। खड़ी रही।

यह देख कर विद्युज्जिह्व हँस दिया। उसने खाते-खाते सर्प का एक टुकडा उठा कर कहा—"ले तू भी खा।"

"ऊहुँक्, मैं सर्प नहीं खाती।"

"खा ले कृत्या, नेत्र-दोष दूर हो जायगा। नेत्र की अच्छी औषधि है।"

"मेरे नेत्रों में दोष नहीं है।"

"तो यह ले।" उसने एक समूचा भुना हुआ तीतर उसे दे दिया। पक्षी को लेकर भी वह खड़ी ही रही। विद्युज्जिह्व ने कहा—"जा भाग, अब क्यो खड़ी है?"

"मुझे कुछ कहना है।" उसके नेत्रों में भय और वाणी में करुणा थी।

"कह।"

"वे मुर, उसकी स्त्री और बालक पुत्र को पकड़ लाए हैं।"

"कौन?"

"व्याघ्राक्ष और विकटोदरी।"

"क्यों?"

"ऋण के लिए।"

"फिर ?"

"मुर ऋण नहीं चुका सका, अब वे उसे सपरिवार मार कर खा डालना चाहते हैं।"

"किन्तु मुर तो हमारा मित्र है, उसका बालक मुझे बहुत प्रिय है। उसकी स्त्री भी मृदुभाषिणी है।"

"उसकी मुझ पर भी मातृदृष्टि है। कृपा कर उसे बचा ले।"

"ऋण कितना है ?"

"केवल तीन स्वर्ण।"

"इतना तो मैं अभी दे सकता हूँ।"

"तब तो वे तीनों तेरे दास बन जाएंगे।"

"तो जाकर देख, वहां क्या हो रहा है, और मेरे आने तक उन्हें ठहरने को कह।"

बालिका की उम्र तेरह-चौदह साल की थी। उसके अंग पर केवल अधोवस्त्र था। वह सूअर के दांतों का कण्ठ-भूषण पहने थी जो स्वर्ण में मढ़ा था। कछुए की खोपड़ी के चूड़ उसकी भुजाओं में भरे थे। मनुष्यों के दांतों की एक स्वर्ण-सूत्र-ग्रथित करधनी, वह कटि में पहने थी। वह बड़ी चपल और तीव्रबुद्धि लड़की थी। गत वर्ष उसे किसी क्षुद्र द्वीप में बांधकर बलि के लिए ले जाया जा रहा था। विद्युज्जिह्व उधर आखेट को गया था, उसका आर्तनाद सुन उसने पांच स्वर्ण में उसे खरीद लिया। अब वह उसकी सब सेवा बड़ी लगन से कर रही थी। विद्युज्जिह्व उस पर बहुत सदय था। बालिका विद्युज्जिह्व का आदेश पा भाग गई। विद्युज्जिह्व जल्दी-जल्दी उस शूकर और पक्षियों को तथा उस मद्य-भाण्ड को उदरस्थ करने लगा, परन्तु बालिका तुरन्त ही धड़धड़ाती-सी दौड़ी आई। उसने विद्युज्जिह्व के कन्धे झकझोर कर कहा—"चल-चल, जल्दी चल।"

"क्या हुआ ? अभी मेरा भोजन पूरा कहां हुआ ?"

"पर, उन्होंने मुर को मार डाला। वे उसे खा रहे हैं। वे उसकी स्त्री और पुत्र को भी मार डालेंगे।"

"अरे", कहकर विद्युज्जिह्व उठा। अपना भारी शूल उसने हाथ में लिया। बालिका उसे एक प्रकार से घसीटती हुई-सी अंधेरी और तंग वीथी में ले चली। व्याघ्राक्ष के घर जाकर उसने देखा—मुर का मुण्ड कटा पड़ा है और विकटोदरी उसका वक्ष चीर कर उसका हृदय निकाल रही है। हाथ में रक्तभरा खड्ग लेकर व्याघ्राक्ष मुर की स्त्री और बालक को वध-यूप से बांध रहा है दोनों चीख-चिल्ला रहे हैं। विद्युज्जिह्व ने ललकार-कर कहा—

"यह क्या किया रे व्याघ्राक्ष ?"

"तो मैं अपना ऋण छोड़ दूँ ?"

"छोड उन्हें। अभी बन्धनमुक्त कर।"

"तो ला तीन स्वर्ण, तू ही दे दे।"

"पर तूने मुर को तो मार ही डाला।"

"उस सूखे बूढे में मांस ही कितना है, एक स्वर्ण भी तो नहीं उठेगा उसका। आज युद्ध में उस द्वीप के बहुत तरुणों का वध हुआ है। वे सब बिकने हाट में आए हैं। आज नर-मांस का भाव बहुत सस्ता हो गया है। फिर यह बूढ़ा, वह बालक। ऊँहुँक्—मैं बहुत घाटे में रहूँगा। सोच, भला तीन स्वर्ण और व्याज।"

"यह ले तीन स्वर्ण, खोल उनका बन्धन।" उसने स्वर्ण उसकी ओर फेंक दिए।

व्याघ्राक्ष ने हँस कर स्वर्ण उठा लिए। फिर कहा—"तनिक पहिले आता तो यह बूढा भी तेरे काम आता।" वह बालक और स्त्री को बन्धन-मुक्त करने लगा। परन्तु विकटोदरी ने क्रुद्ध मुद्रा से कहा—"यह हृदय-खण्ड और इसका मांस मैं नहीं दूंगी, कहे देती हूँ—सूद कितना हुआ, यह क्यों नहीं कहते ?" उसने रोषभरी

आंखों से पति की ओर देखा।

परन्तु विद्युज्जिह्व उससे विवाद करने को वहां रुका नहीं। सिसकते और बदहवास स्त्री और बालक को लिए, हाथ का शूल हवा में हिलाता हुआ, तेजी से वहां से चल दिया। उसके पीछे खुशी से ताली बजाती वह राक्षस-बालिका भी।



५६

मातृवध

सरमा ने कहा—"एक भाण्ड मद्य और दूँ ?"

"नहीं"—विद्युज्जिह्व ने लापरवाही से कहा और पीठ में तरकस बांधा।

"तो विश्राम कर, मैंने व्याघ्र-चर्म शिला-फलक पर बिछा दिया है।"

"नहीं, अभी मुझे जाना होगा, तू सो रह। अब रात को मेरा आना सभव नहीं है।" बालिका ने आकुल नेत्रों से तरुण को देखा। वह उदास हो गई। पर विद्युज्जिह्व ने इस पर ध्यान नहीं दिया। वह अपना शूल हाथों मे तौल रहा था। बालिका ने कुछ भयभीत होकर कहा—

"क्या कोई विग्रह है ? शूल तू क्यों तौल रहा है ?"

"तो तुझे क्या भय है ? तू सो।"

"नहीं सोऊँगी। रात भर जागती रहूगी, जब तक तू न आएगा।"

"मैं तो रात भर न आ सकूं—यह भी संभव है, कल तक भी न आ सकू—यह भी सम्भव है।"

"तो तू रुष्ट होकर जा रहा है ?"

"किससे ?"

"मुझसे और किससे ?"

"तुझसे क्यों ?"

"मैंने तुझे दूसरा मद्य-भाण्ड नहीं दिया इससे ?"

"नहीं, रुष्ट नहीं हूँ।"

"तो मत जा, विश्राम कर।"

"जाना होगा!"

"कहां?"

द्वीप के दक्षिणांचल में। पितृचरण बहुत दिन बाद घर आए हैं। अभिनन्दन करूँगा।"

"तो अभिनन्दन करके रात को आ, न हो प्रभात में जा।"

"बहुत दूर है, रात में लौट न सकूंगा। प्रभात तक ठहर नहीं सकता—पितृचरण पर संकट आ सकता है।"

"कैसा संकट?"

"वह राक्षसों का पुर है, जहां मातृचरण का निवास है। और वह पुरुष भी राक्षस है, जिसे मातृचरण ने घर में डाल लिया है। सम्वाद-वाहक ने कहा है—पितृचरण पर संकट आ सकता है।"

"तो मैं तेरे साथ चलती हूं।"

विद्युज्जिह्व हँस दिया। उसने कहा—"तू क्या मुझ से अधिक उत्तम लक्ष्य वेध करती है? जा, सो रह। परन्तु ठहर, सुर की स्त्री और बालक को तूने खिलाया-पिलाया कुछ?"

"एक सूकर उसे दे दिया है, और एक मद्य-भाण्ड।"

"तो यह स्वर्ण भी उसे दे दे, कदाचित् उसे इनकी आवश्यकता है।"

उसने मुट्ठी भर स्वर्ण अपने चर्मबन्ध से निकाल बालिका की हथेली पर रख दिए। इसी समय एक वृद्ध दानव हांफता हुआ आया। उसका सारा शरीर कांप रहा था। वह कोयले के समान काला और बहुत लम्बा था। वह अत्यन्त दुर्बल था। उसके बड़े-बड़े दांत भयंकर थे, उसके सारे अंग चर्बी में तर थे और सिर पर स्वर्ण से मढ़े दो सींग बंधे थे। उसकी कमर में भैंसे का चर्मबन्ध बंधा था और हाथ में एक विकराल खाण्डा था। वह दूर से दौड़ा चला आ रहा था—इसलिए हांफ रहा था और उसका अंग चर्बी

और पसीने से गीला हो रहा था। वह दौडकर विद्युज्जिह्व के पैरों में गिर गया। उसने कहा—"विद्युज्जिह्व, उसने तेरे पिता का वध कर दिया।"

"किसने ?"

"तेरी माता ने।"

"तूने देखा ?"

"मैंने उसे घर के द्वार पर आते देखा। द्वार पर तेरी माता ने उसकी अभ्यर्थना की, और वह उसे भीतर ले गई। ज्योंही उसने शस्त्र खोल कर रखे, उसने उसका वध कर डाला और शव खींच कर चतुष्पथ पर डाल दिया।"

"क्या वह उसका राक्षस पति भी वही था ?"

"नहीं।"

"तो अकेली उसी ने पितृचरण का वध किया ?"

"ऐसा ही मैं समझता हू।"

"तू क्या बहुत श्रमित है ?"

"श्रमित हूँ, पर तू करणीय कह।"

"तो द्वीप में जाकर सब कालिकेयों को शस्त्र-बद्ध कर ले आ।"

"कहां ?"

"जहां मृत पितृचरण हैं।"

यह कह कर विद्युज्जिह्व ने शूल उठाकर चरण बढाया। बूढ़े दानव ने बाधा देकर कहा—"हमारे आने तक तू ठहर। एकाकी वहां जाना विपज्जनक हो सकता है। उस-राक्षस के वहां बहुत परिजन हैं। वह रक्षपति का गुल्म-नायक है। वह तुझे मार डालेगा।"

"मेरी चिन्ता न कर। तू अपनी राह जा।"

यह कहकर विद्युज्जिह्व तीर की भांति वहां से चल दिया। इस समय चारों दिशाओं में अन्धकार फैल गया था। विद्युज्जिह्व

अंधेरी और सूनी गलियों को पार करता हुआ सीधा समुद्र-तीर की ओर जा रहा था। उसकी चाल तेज थी, और उसका मस्तिष्क विभिन्न विचारों से गर्म हो रहा था। नगर का प्रान्त-भाग आ गया और अब वह विजन वन में प्रविष्ट हुआ। यहां भी कहीं कहीं समुद्र में मछली मारनेवालों की झोपड़ियां थीं। झोपड़ियां धरती में गढ़े खोदकर और वृक्षों की मजबूत टहनियाँ उनके चारों ओर गाड़ कर बनाई हुई थीं। इन टहनियों के चारो ओर दरियाई और जंगल की घास का जाल पुरा हुआ था। जिन पर गारे का लेप था। छत भी उनकी, वैसी ही बनी थी। इन झोपड़ों में केवल एक छोटा सा द्वार तथा धुंआ निकलने को छत में एक छोटा सा सूराख था। कुछ झोपड़े घड़े थे तथा चटाइयों से बनाए गए थे। कुछ झोपड़े झीलों में पानी पर बने थे, जो उन जंगली जानवरों से सुरक्षित रहने को बनाए गए थे, जो उनके चारों ओर रात-दिन घूमते रहते थे। उनके डर से उन्होंने झीलों में लम्बे लम्बे लकड़ी के लट्ठे गाड़ कर पानी की सतह से एक ऊँचा चबूतरा बनाया और उन चबूतरों पर झोपड़ी बना ली थी। कहीं-कहीं तो पूरे गांव के गांव ही इस प्रकार झीलों में बने हुए थे। जगह-जगह बहुत से लोग बकरी की खाल के डेरों में रह रहे थे, जहां सारा कुनबा एक ही जगह सिमट कर रहता था। यहां तक कि खराब मौसम में पालतू पशु भी उन्हीं में आश्रय लेते थे। सोने को घास के ढेर, बैठने को कुछ चपटे पत्थर के ढोके, खाना पकाने को मिट्टी के बर्तन, और शिकार के लिए शूल, धनुप, परशु और गोफन। कहीं-कहीं नगर के प्रान्त में चपटी ईंटों के घर थे, ये घर बहुत छोटे-छोटे और एक मंजिले थे, पर इनमे महन था, और छतें लकड़ी की थीं, जिन-पर गारे का पलस्तर किया हुआ था।

विद्युन्जिह्व को जैसे इन झोपड़ों, झीलों और वहां रहनेवालों से कुछ सरोकार ही न था, वह तो तेजी से अपने गन्तव्य पर

बढ़ा जा रहा था। सामने ही एक पर्वत की उपत्यका थी, वह उसी ओर बढ़ रहा था। अन्ततः वह अपने गन्तव्य पर पहुंच गया। यहां आकर उसने अपनी गति धीमी कर ली। यहां से पर्वत-शृंखला शुरू होती थी। शीघ्र ही वह पर्वत के नीचे जा खड़ा हुआ। सामने समुद्र गरज रहा था। हवा तेज़ चल रही थी और जब वह पहाड़ से टकराती थी तो मेघ-गर्जन के समान शब्द होता था। अब उसने सावधानी से चारों ओर देखा और बिल्ली की भांति निश्शब्द पर्वत की तंग राह पर चढ़ने लगा। थोड़ी ही दूर पर उसे कुछ गुफाएँ नजर आने लगीं। छोटी-बड़ी अनेक गुफाएँ थीं। उन सबमें राक्षस और दैत्यों के परिवार रहते थे। किसी-किसी गुफा में से शोर आ रहा था। किसी में से मांस भूनने की गन्ध आ रही थी। वह पार्श्व में घूम कर उस बड़ी गुफा के द्वार के सामने पहुँचा, जिसके डेढ़ सौ फुट नीचे नदी बह रही थी। इसके दोनों ओर आठ सौ गज के विस्तार में और अनेक छोटी-बड़ी गुफाएँ थीं। द्वार के सामने आकर वह कुछ ठिठका। उसने देखा, सामने ही काली-काली कुछ वस्तु, बीच राह में पड़ी है। वही उसके पिता का मृत शरीर था। बहुत दिन से उसने अपने पिता को देखा नहीं था, परन्तु उसने कल्पनाओं और अनुमान से समझ लिया कि यही उसके पिता का शरीर है। उसने झुक कर उसे देखा और घुटनों के बल उसके पास बैठ गया। फिर उसने एक लम्बी सांस ली और सिर उठाकर गुफा की ओर देखा।

वह गुफा के भीतर प्रविष्ट हुआ। द्वार के भीतरी दालान में एक बूढ़ा राक्षस ऊँघ रहा था। वह बिना उसे जगाए आगे बढ़ गया। यहां प्रकाश था। चर्बी का दीप जल रहा था। सामने छोटी-बड़ी अनेक कोठरियां थीं। बीच में बड़ा हाल था जो अष्टभुज स्तम्भों पर आधारित था। इसके सामने स्तम्भोंवाला एक

लम्बा दालान था, वह उसी दालान मे अग्रसर हुआ। स्तम्भों पर हाथी और सिंह के चित्र बने थे तथा उन पर उभरी हुई नक्काशी हो रही थी। अंत में वह उस प्रमुख गुफा के द्वार पर पहुँच गया जिसके सामने खम्भोंवाला बहुत बड़ा उसारा था। यहां उसे एक राक्षस ने टोका। राक्षस अधेड़ वय का था। उसके हाथ मे धनुप-बाण था। परन्तु अभी उसके मुंह से स्वर फूटा भी न था कि विद्युज्जिह्व का शूल उसकी पसलियों को पार कर कलेजे को चीर गया। वह घूर्णित हो वहीं गिर गया। इसके बाद वह रंगमहल मे प्रविष्ट हुआ। द्वार पर महीन पर्दे पड़े थे। भीतर सुगन्धित द्रव्य जल रहे थे और वहीं उसकी माता बहुत-सी राक्षसी, दासियों के बीच सोने के पलग पर सो रही थी। विद्युज्जिह्व की माता का नाम विज्जला था। उसकी आयु चालीस को पार कर गई थी, परन्तु अभी उसका अंग-सौष्ठव और यौवन वैसा ही भव्य और आकर्षक था कि कोई भी तरुण उस पर मोहित हो सकता था। वह सोने के पलग पर सो रही थी। गुहा मे सुगन्धित चर्बी के दीप का मन्द प्रकाश था। पास मे खड्ग और धनुप-बाण रखे अनेक तरुणी दैत्य और राक्षस बालाएँ उसके चारों ओर भूमि पर सो रही थीं। विज्जला की उठान बड़ी आकर्षक थी। वह लम्बी कद की और छरहरे बदन की कमनीय स्त्री-मूर्ति थी। उसके नेत्रों मे मादकता थी, और होठों मे रस का भण्डार। वह किसी भी तरुणी सुन्दरी से अधिक आकर्षक थी। शान भी उसकी रानियों-जैसी थी। वह कण्ठ मे सिहल के बड़े-बड़े मोती पहिने थी तथा उसका कटिबन्ध और वलय स्वर्ण का था।

कुछ देर विद्युज्जिह्व चुपचाप खड़ा अपनी माता के इस भव्य रूप को देखता रहा। फिर उसने उसका पैर पकड़ कर उसे खींचा। एकाएक नींद मे चौंक कर उसने यमदूत के समान विद्युज्जिह्व को सामने हाथ मे विकराल शूल लिए देखा।

यद्यपि उसने बहुत दिन बाद पुत्र को देखा था, पर उसने उसे तुरन्त ही पहिचान लिया। वह हड़बड़ा कर पलंग से उठ कर खड़ी हुई। उसने धड़कते हुए हृदय पर हाथ रखकर कहा—"जात, तू इस असमय में किस अभिप्राय से आया है ?"

"मात, मैं पितृचरण के दर्शन करने आया हूं।"

"तेरे पिता दो हैं।"

"मुझे एक ही चाहिए।"

"यदि तेरा अभिप्राय हतभाग्य मुचकुन्द दानव से है, तो उसका शव उस चतुष्पथ पर पड़ा है।"

"उसी से अभिप्राय है मात।"

"तो वहीं जा, यहां क्यों आया ?"

"तुझे वहीं ले जाने के लिए।"

"मेरा उससे क्या सम्बन्ध रहा ?"

"इस पर मैं विवाद नहीं करता।"

"तो कह, तेरा मैं क्या प्रिय करूं ?"

"केवल वह शस्त्र हाथ में ले, जिससे तूने उसका वध किया है।"

"किसलिए ?"

"उसी से मेरा भी वध कर।"

"तुझसे मेरा क्या विग्रह है जात ?"

"पर मेरा तुझ पर विग्रह है।"

"किस लिए ?"

"तूने पति-वध किया।"

"मेरा पति सुकेतु राक्षस है।"

"और मेरा पिता ?"

"कभी था, अब नहीं।"

"परन्तु, यह सब भूमि, सम्पत्ति, पशु, स्वर्ण, रत्न, घर,

भण्डार तो उसी के हैं।"

"वह मृत है, अब मैं उसकी स्वामिनी हूँ।"

"और मैं ?"

"तू यदि मेरा अनुगत है, तो मेरा तुझ पर अनुग्रह है।"

"अनुग्रह है तो शस्त्र ले।"

"कैसा शस्त्र ?"

"जिससे तूने पितृचरण का वध किया।"

"किन्तु क्यों ?"

"मेरा वध करने के लिए।"

"मैं तेरा वध नहीं करना चाहती जात !"

"पर मैं तेरा वध करने आया हूं मातः !"

"तेरा ऐसा धृष्ट आचरण ?"

"क्रोध करने से लाभ न होगा मातः, शस्त्र ले और तनिक उधर खुले स्थान में चल।"

"क्यों ?"

"यहां शस्त्र-प्रयोग के योग्य स्थान नहीं है।"

"तू क्या मुझ से युद्ध करना चाहता है ?"

"तुझे वध करने से प्रथम, मैं तुझे आत्मरक्षा का अवसर देना चाहता हूं।"

"अरे कालिकेय, तुझे क्या राक्षसों का भय नहीं है, जो तू यहां निर्भय चला आया ? जा अभी भाग जा।"

विज्जला भय और क्रोध से चीख उठी। चीख सुन कर सब प्रहरी राक्षसियां जाग उठीं। वे सब शस्त्र लेकर स्वामिनी की आज्ञा की बाट जोहने लगीं।"

विद्युज्जिह्न ने कहा—"अरी चेटियो, यह माता और पुत्र का विग्रह है। चली जाओ यहां से। यहां तुम्हारा कुछ काम नहीं है।"

इस समय विद्युज्जिह्व का विकराल मुख और भावभंगी देख, वे सब राक्षसियां डर गईं। उनके मुंह से बात न निकली। परन्तु विज्जला ने चीख कर कहा—

"इस निर्लज्ज पुत्र को मेरे कक्ष से निकाल बाहर करो।"

परन्तु ऐसा करने का साहस किसी का न हुआ। इसका कारण विद्युज्जिह्व का आतंक तो था ही, वे सब विज्जला के दुराग्रह, निर्दय स्वभाव और पति-हत्या के कारण उसे घृणा भी करती थीं।

विज्जला ने उन्हें निष्क्रिय देख गरज कर कहा—"तुम लोगों ने मेरा आदेश सुना नहीं?"

विद्युज्जिह्व ने कहा—"नाहक उनका प्राण क्यों संकट में डालती है, मात? तू ही शस्त्र उठा।'

"मैं शस्त्र नहीं उठाऊंगी।"

"हन्त, तो मुझे शस्त्र के बिना ही तेरा वध करना पड़ेगा।" उसने हाथ का शूल दूर फेंक दिया और सिंह की भांति उछल कर विज्जला को, कण्ठ पकड़ कर भूमि पर गिरा लिया। विज्जला ने छूटने की बहुत चेष्टा की, बहुत छटपटाई, पर विद्युज्जिह्व उसे उसी प्रकार घसीट कर अलिन्द के एक एकान्त स्थल में ले गया जैसे बाघ अपने शिकार को ले जाता है। फिर उसने उसके सिर के सब बाल नोच डाले। उसके मुंह में हाथ डाल कर मुह चीर दिया। रक्त की धार बह चली। विज्जला छूटने को बहुत छटपटाई, पर विद्युज्जिह्व के लौह-दण्ड से-वह पार न पा सकी। वह उसे कभी अलिन्द में इधर से उधर घसीटता, कभी उठाकर पत्थर पर इस प्रकार धर पटकता जैसे धोबी कपड़ा पटकता है और कभी सिर से ऊपर उठाकर दूर फेंक देता। फिर भी विज्जला के कठिन प्राण नहीं निकले। वह आर्तनाद करती रही। अन्त में विद्युज्जिह्व ने अपना चरण उसके

वत्त पर रख जोर से दबा दिया। पसलियां चूर्ण कर टूट गईं और एक बार रक्त-वमन करके वह पतिहत्यारी सुन्दरी दानवी ठण्डी हो गई। परन्तु विद्युज्जिह्व का क्रोध तो अभी भी शान्त न हुआ। उसने उस मृत माता का एक चरण पैर से दाब, दूसरे को हाथों से उठा बलपूर्वक उसे दो खण्डों में चीर कर दोनों खण्ड द्वार के बाहर दोनों दिशाओं में बलि-मांस की भांति फेंक दिए।

चेटियां यह घोर कृत्य देख, भय से चीखती हुई भाग खड़ी हुईं, परन्तु इसी समय बहुत से सशस्त्र राक्षसों के साथ सुकेतु राक्षस ने उसे घेर लिया। विद्युज्जिह्व ने उछल कर अपना शूल घुमाया। अब उस अकेले का अनेकों से तुमुल संग्राम होने लगा। राक्षसों की सेना कोलाहल करती बढ़ती ही चली गई, परन्तु विद्युज्जिह्व के विकराल शूल के सामने राक्षस ठहर न सके। इसी समय सहस्रों कालिकेयों ने राक्षसों को चारों ओर से घेर कर काटना आरम्भ कर दिया। देखते ही देखते सब राक्षस काट डाले गए। सुकेतु का विद्युज्जिह्व से तुमुल द्वन्द्व हुआ। अन्त में विद्युज्जिह्व का शूल उसके वक्ष को पार कर गया। अब उसका सिर काट, और अपने पिता का शव कन्धे पर रख विद्युज्जिह्व अपने कालिकेय योद्धाओं के साथ समुद्र-तीर की ओर लौटा, जहां उनकी नौकाएँ उनकी प्रतीक्षा कर रही थीं।

●

५७

प्रतिगमन

"विद्युज्जिह्व ने अपनी मां को मार डाला है।"—रावण ने उत्तेजित स्वर में कहा।

"नहीं, यह सम्भव नहीं है।"—सूर्पनखा ने और भी उत्तेजित होकर उत्तर दिया।

"उसने उसे मार डाला है।"

"अपनी सगी मां को? नहीं, नहीं, ऐसा नहीं हुआ।"

"उसने उसे मार डाला।"

"विद्युज्जिह्व ने?"

"बहिन, यह अच्छा नहीं हुआ। बड़ी भयानक बात है।"

"किन्तु .... ?"

"उसने सुकेतु को भी मार डाला है और उसके सब राक्षसों को भी।"

"किन्तु रक्षेन्द्र......।"

"इसे न देवता क्षमा कर सकते हैं, न मैं।"

"तो मैं रक्षेन्द्र को दोष न दूंगी, परन्तु मैं विद्युज्जिह्व के साथ हूँ, यह न भूलना।"

"किन्तु मातृवध? कितना जघन्य है!"

"पुरुष पर कर्तव्य का भी कुछ भार है।"

"परन्तु मैं उसे अब सम्बन्धी स्वीकार नहीं कर सकता। सुकेतु हमारा वीर सेनापति ही न था, परिजन भी था।" रावण ने महिषी मन्दोदरी की ओर देखा। मन्दोदरी ने भग्नमन से कहा—

"मैं भी। विज्जला मेरी मौसेरी बहिन थी।"

"अपने सम्बन्धी और परिजनों के हत्यारे का हम कैसे स्वागत कर सकते हैं ?"

"यह तो बड़ी ही खराब बात हो गई, सूर्पनखा! उसने अपनी सगी मां को मार डाला। हम उसका, मणिमहालय मे स्वागत नहीं कर सकते।"

"मां, मैं नहीं चाहती कि वह यहां आए, मुझे ही उसके पास जाना होगा।"

"परन्तु तू निश्चय ही अब उसे पति-रूप मे वरण करना न चाहेगी ?"

"निस्संदेह, वह मेरा पति है।"

"सूर्पनखा, रक्षाधिपति की कुल-कन्या, राक्षस-बाला होकर तू मातृहन्ता से विवाह करना चाहती है ?"

"मैं उसी से विवाह करूंगी।"

"ओह, यह तो अत्यन्त अपमानजनक और त्रासदायक है। मातृहन्ता से विवाह करके फिर क्या तू राक्षसों की प्रतिष्ठित जाति मे रह सकती है ?"

"रक्षेन्द्र ने मुझे मेरा भविष्य बता दिया। पर मै उसी की हू। उसके सब अच्छे-बुरे, पाप-पुण्य की संगिनी। उसके कार्य को रक्षेन्द्र ने देखा है, पर मैं उसकी मनोव्यथा देख रही हूँ। इस मनव्यथा के कष्ट को अकेला ही उसे भोगने देने को मैं उसे अकेला नहीं छोड़ सकती। यदि मैं ऐसा करूं तो मैं अपनी दृष्टि मे छोटी हो जाऊं।"

"उस आदमी के प्रेम के लिए, तू यह दुस्साहस कर रही है ?"

"भाई, तू रक्षेन्द्र है, साहसिक योद्धा—और मैं तेरी बहिन हूं, साहसिक प्रेमिका।"

"साहसिक प्रेमिका ?" मन्दोदरी ने त्योरियां मे बल डाल कर कहा।

"महिषि, गुस्सा करने से क्या होगा? कुछ लोग साहसिक कर्तव्यनिष्ठ होते हैं। वे परिणाम की चिन्ता नहीं करते, न वे लाभ-हानि का विचार करते हैं। वे केवल वही करते हैं, जो ठीक है।"

"तो तू क्या समझती है यह मातृवध ठीक है?"

"सभव है। परन्तु मैं तो विद्युज्जिह्व के प्रति अपने कर्तव्य ही की बात सोचती हू।"

मन्दोदरी ने कहा—"तो उसे बुलाकर कारण पूछ।"

"वह नहीं आएगा।"

'मेरी आज्ञा से भी नहीं?"—रावण ने क्रोध से कहा।

"और मैं भी तेरी आज्ञा से यहां रुकूगी नहीं। उसके पास जाऊगी।'—सूर्पनखा ने शान्त मुद्रा से कहा।

"तुझे प्रजघ से व्याह करना होगा।"

"कदापि नहीं, मुझे दु:ख है, मेरे कारण रक्षेन्द्र को दु ख हुआ; महिषी को भी अब ‑चितित होने की आवश्यकता नहीं है, मैं चली अब।"

"कहां?"

"अपने प्रियतम के पास।"

'तो मुझे उससे युद्ध करना होगा।'

"रक्षेन्द्र, उसके पास भी शस्त्र हैं।"

"तो तू रक्षेन्द्र को चुनौती देती है?"

"चुनौती रक्षेन्द्र अपनी बहिन को देता है,. जो उसका व्यापार नहीं है।"

"किन्तु"—मन्दोदरी ने कहा—"मैं एक बार विद्युज्जिह्व से वात करूगी।"

"मैं उसे मणिमहल की ड्योढ़ी न लांघने दूंगा।"

"जब तक रक्षेन्द्र को आपत्ति है, मैं भी उसका यहा आना ठीक

नहीं समझती।"

"हम यह कैसे कहें कि वह प्रकृत मातृहन्ता है, या कि कर्तव्यनिष्ठ पुत्र ?"

"वह कर्तव्यनिष्ठ पुत्र है।"

"क्या माता का ?"

"नहीं, पिता का।"

"परन्तु हम राक्षसों में, दैत्यों में और दानवों में मातृसत्ता ही वरिष्ठ है, पितृसत्ता नहीं।"

"तो इसी से एक पत्नी अपने पति का वध कर सकती है, उसकी सब सम्पत्ति को उसके जीते-जी लेकर, दूसरे पुरुष के साथ रह सकती है।"

"यह तो दोषपूर्ण है।"

"तो उसे कर्तव्यनिष्ठ पुत्र ही कहा जायगा। संभव है, उसने कर्तव्यवश जो कुछ किया, उससे वह दुखी भी हो।"

"बहिन, प्रेम के आवेश में मनुष्य बहुत-सी वस्तु नहीं देख सकता।"

"परन्तु स्त्री को पति की अविश्वासिनी होने पर क्या दण्ड दिया ही न जाय ?"

"यह तो उनके व्यक्तित्व और चरित्र पर निर्भर है।"

"तो रक्षेन्द्र समझते हैं, उसने अपराध किया है ?"

"हो सकता है, पर तू क्या समझती है कि तुम दोनों एक दूसरे के पूरक हो ?"

"हम दोनों जीवन-साथी हैं, मैं उसे वरण करके प्रसन्न हूँ।"

"दुर्भाग्य है, दुस्सह है।"

"तो अब मैं चलो, अभिवादन करती हूं भाई।"

"आह, यह दुःसह है बहिन।"

"अभिवादन करती हूँ भाभी।"

"किन्तु तू हमें छोड़ कर जा रही है?"

"तुम्हारा आशीर्वाद लेकर।"

"फिर कब आएगी सूर्पनखा?"

"कभी नहीं।"

"अस्तु, जो मणि, रत्न, स्वर्ण तुझे चाहिए, मणिमहालय से ले जा और कुछ सैनिक भी।"

"नहीं ले जा सकती।"

"क्यों?"

"विद्युज्जिह्व मेरे लिए यथेष्ट है।"

"वह तो स्वयं विपन्न है।"

"फिर भी मैं रक्षेन्द्र का दहेज नहीं स्वीकार कर सकती।"

"क्या मेरे अनुरोध से भी नहीं, सूर्पनखा?"

"नहीं, जब तक रक्षेन्द्र मेरे पति को, अपना बहनोई स्वीकार कर मणिमहल में उसका स्वागत न करें।"

"यह तो कभी नहीं होने का।"

"तो भाई, विदा!"

"बहिन, क्या यह यथेष्ट नहीं कि तू उससे ब्याह कर रही है? मुझे भी उसे स्नेह करना होगा।"

"और आदर भी। तुम जब तक उसे बहनोई और निरपराध कर्तव्यनिष्ठ पुत्र नहीं समझते, हमारी राह जुदी है—तुम्हारी जुदी।"

"ओह, सूर्पनखा, मुझे उससे युद्ध करना ही पड़ेगा, यह मेरी कुल-प्रतिष्ठा का प्रश्न है।"

"तो भाई, हम लोग सब फालिकेय—अश्मपुरीमें तेरा स्वागत करेंगे।



यमजिह्वा

लंका में एक यमजिह्वा नाम की कुटनी रहती थी। यह वृद्धा राक्षसी सर्वहारि विद्या में बड़ी कुशल थी। यह कुटनी लंका में प्रसिद्ध थी। लंका की सब वेश्याओं की वह नानी थी, उस राक्षसी कुटनी का रूप भी बड़ा अद्भुत था। उसकी ठोढ़ी मोटी थी, नाक चपटी और टेढी थी। दांत बडे-बड़े बाहर को निकले हुए और छीदे थे। चमड़े के खाली थैले के समान लटके हुए स्तन, लाल और भीतर को धसी हुई लम्बी भूषणरहित कान की पाली, खिचड़ी बाल, कण्ठ की उभरी हुई नसें, उसके कद रूप को व्यक्त कर रही थीं। धुला हुआ धवल वस्त्र पहिने, विविध वशीकरण-ओषधियों के ताबीजों और रत्नों की माला पहिने, उंगली में स्वर्ण की मुद्रिका और कटि में स्वर्ण-मेखला धारण किए आसन्दी पर बैठी वह कुटनी यमजिह्वा—अपनी पुत्री मदालसा को वेश्या-धर्म सिखा रही थी—"देख, तेरे ये चिकुर भर ऐसे हैं जैसे भस्म होते हुए कामदेव का धूम्र ही वर्तिकाकार हो गया हो। कामी जनों को किंकर बनाने को यही यथेष्ट हैं। फिर ये मन्दोल्लासित भ्रूयुगल और मन्दस्मित अधर, धीरों को भी अधीर करनेवाले हैं। और तेरे इस स्वर्ण-कान्त शरीर की कान्ति तो सुनकर ही कामीजन विह्वल हो सकते हैं, देखने की तो बात ही क्या है। फिर तेरी यह रुचिर दन्तपंक्ति, अचिर विद्युद्दाम कान्ति को मात करती है, और पुरुषो के मन में मन्मथदाह-वेदना उत्पन्न करती है। तेरा आलाप कोकिल की कुहुक को मात करता है। और तेरे इन मकर-केतन-निकेतन युग स्तन-कान्तार में स्मर तस्कर का वास है।

तेरे ये मृणाल परिकोमल युगल बाहु भला किसे मदन-संकट में नहीं डाल सकते। और तेरा यह मनोहर मध्य देश—क्षीण तो है, परन्तु शरीरधारियों की अभिलाप, चिन्ता, स्मृति, गुण, कथन, उद्वेग, संलाप, उन्माद, और जड़ता की दश मन्मथ-दशाओं को प्राप्त कराता है। और सकल्पजचापयष्टि गुण शोभा-धारिणी ये तेरी रोम-राजि तरुणों को कामशर-पीड़ित करती है। ये तेरे सुवर्ण-शिलातल, रमणीय पृथुल जघन यतियों की समाधि को नाश करनेवाले हैं। ऐसे ही मनोहारी तेरे रम्भास्तम्भ से शीतल उरु-युग मदन-ज्वर-शान्ति की महौषध हैं। कनकलता के समान यौवन-कल्प-तरु-तेरे ये सुडौल जंघायुगल भला किसे काम-फल न देंगे? अनार और स्थल-कमलिनी के रंग को फीका करनेवाले तेरे चरण-युगल भला किसके मन को अलंकृत नहीं करते? अरी पुत्री, तेरे शरीर की इस शोभा का मूल्य पृथ्वी पर कहां है? परन्तु ध्यान से सुन। धन से सब की प्रतिष्ठा होती है। परन्तु वेश्याओं की विशेष करके। परन्तु प्रेम करने से धन नहीं मिल सकता। इससे वेश्या की बेटी को प्रेम के विष मे दूर ही रहना चाहिए। सन्ध्या के अन्धकार के समान वेश्याओं का अनुराग—दोष-रूपी अंधकार को बढ़ानेवाला होता है। इससे; वेश्यापुत्री को प्रेम का चतुराई मे अभिनय करना चाहिए—प्रेम नहीं करना चाहिए। वेश्या को चाहिए कि पुरुष के साथ अनुराग प्रकट कर उससे सब धन ले ले, फिर धन लेकर उसे निकाल दे और जो उसे फिर धन मिले; तो उसे भी स्वीकार कर ले। मुनि के समान जो वेश्या बालक में, युवा में, वृद्ध मे, रूपवान् में तथा कुरूप में सम भाव रखती है—उसी को परमार्थ प्राप्त होता है।

रावण का छोटा पुत्र अक्षकुमार था। वह अभी किशोर वय का सुन्दर—भावुक तरुण था: और लीला-विलास में रुचि रखता था। मदालसा पर वह आसक्त था। वह अभी वेश्याओं

की प्रवृत्तियों को नहीं जानता था। लका में यौवन के अधे धनी तरुण किशोरों के धन और प्राणों को हरनेवाली दो वस्तुओं का प्राबल्य था—एक वेश्यालय, दूसरा द्यूतालय। इसलिए लका के श्रेष्ठ, चतुर नागरिक राक्षस वेद-विद्या, अश्व-विद्या, शस्त्र-विद्या और रत्न विद्याओं के साथ—अक्ष-विद्या और मोहिनी-विद्याएँ भी सीखते थे। परन्तु अक्षकुमार अभी निपट बालक ही था। एक बार वाटिका में—उसकी मदालसा से देखादेखी हो गई थी। सोविटों के द्वारा तीन वर्ष तक उसने उसकी आराधना की, तब कहीं उसने उसे आने की स्वीकृति दी। एक दिन विहार करते हुए वह मदालसा का अपने मित्र और मन्त्री प्रहस्त-पुत्र जम्बुमाली से वर्णन करने लगा—

"अरे मित्र, उसका भ्रूभंग, स्मित और कटाक्षपात, मृदुवक्र मनोहारी अंगहार, आलाप, और अभिगमन—प्रत्येक में कुसुमायुध का वास है। अरे, जैसे तिल-तिल सब रत्नों के संग्रह का समावेश करके पितामह ब्रह्मा ने सुन्दोपसुन्द के नाश के लिए तिलोत्तमा अप्सरा की सृष्टि की थी—उसी भांति उस दुष्ट बूढ़े ब्रह्मा ने इस लंका के सब रक्ष-तरुणों का नाश करने के लिए यह मदालसा रची है। उसकी मृग-शावक जैसी तरला—विलोला चाक्षुषी, फूलों से गुथी हुई सुदीर्घा वेणी, प्राणियों को कामोचित फल देनेवाली है। उसके चन्द्र-तिलक-शोभित ललाट, दुर्लभ रक्तोत्पल कोकनद-मुखश्री, अवर्ण्य है। आताम्र मधुमत्त अधरोष्ठ उसके का अमृत-पान पुण्य शेष जन ही कर सकते हैं। अहा, घूर्णित लोचन, अनुरागाकान्त कमल-द्युति, वह मुग्ध वदन सुधा-सदन ही है। उसका कृश तन तो नलिनी के समान शीतल-कोमल है और उस पर प्रफुल मुख-कमल खिला है। मैं भ्रमर उसका मकरद पान करना चाहता हू। उसके नितम्ब-सौन्दर्य को देखकर तो तपस्वी भी तुरंत उत्कंठित हो उठेंगे। वह सुवदना, प्रहर्षिणी, तनुमध्या, मृदुभाषिणी, स्रग्धरा देखने वालों को आश्चर्य-विमूढ़ कर देती है—

वह जब पलक झुला कर, प्रेमार्द्राकुल परांगमुखी हो दृष्टि मात्र से ही हृद्गत भावों को व्यक्त करती है तब तो दशार्ण शर-क्षेप से गलित, काम-वृद्ध भी उज्जीवितकाम हो जाते हैं। फिर मेरे जैसे शृंगार-स्निग्ध तरुण की क्या कथा। उसके दिव्य रूप पर यौवन छाया ही है, फिर जब वह अंग और लीला के शृंगारानुभावों से उद्दीप्त होता है—तब मुनियों का मन भी मुग्ध हो जाता है। अरे, तारुण्य के निर्झर झरने के अमृत से उसकी देह-श्री सिंचित हुई—तो नवीन यौवन की लीला-कलाओं की पौद फूट उठी। फिर उन्हीं तरुओं की शीतल छाया में सोता हुआ कंदर्प अकस्मात् जाग उठा। हाय, हाय, वह अब जगज्जय करना चाहता है। विधाता ने उसे लावण्य ही के कणों से बनाया है, उसके कुच युगल निर्बाध उन्नत हो कर जन-जन को पीड़ित करते हैं। क्यों भाई, यह कैसा चमत्कार है, यह कामदेव—स्मरण मात्र से तो उसकी उत्पत्ति है, फूलों के उसके बाण हैं, अबला स्त्री का उसे बल है, फिर भी वह व्यंग-अनंग,आबाल वृद्ध सभी का घात करता है ? और उसके आकर्णान्तर्गामी नील नेत्र तो ऐसे शोभायमान हैं, जैसे उसने कानों में नील कमल का शृंगार किया हो। लंका की सब स्त्रियां तो उसकी अतुल्यता में और पुरुष भोग-विरह में सूखते जा रहे हैं बस पण्ढ़ ही मजे में हैं। उस कामिनी की क्षीण कटि आभरण-भार नहीं सह सकती थी। इसलिए विधाता ने उसे रोम-राजि के नैसर्गिक आकर्षण से सज्जित किया है। उसके साकम्प अधर, अधीर ईक्षण-युगल, वंकिम भ्रूभङ्ग, तो उस तन्वंगी को भीरु ही व्यक्त करते हैं। पर फिर भी उसने इस समूची राक्षस-भटों से भरी पुरी लंका को जीत लिया है। उसके पुष्ट नितम्बों पर भारी स्वर्ण-रशना निर्दय आघातें कर रही है। और पीन कुच-युग्म मणिहार के निर्द्वन्द्व आघात को निर्द्वन्द्व सह रहे हैं। अपनी-अपनी सामर्थ्य ही तो है। परन्तु यह जो मृणाल

मृदुभुजवल्लरियों में बजनी स्वर्ण-वलय पहना दिए हैं—यह तो अनर्थ ही है।"

इस प्रकार जब दोनों मित्र मदालसा का रूप-लावण्य वर्णन कर रहे थे, तभी यमजिह्वा की भेजी हुई दूती ने आकर राजपुत्र को प्रणाम कर पुष्पताम्बूल-पटल का उपायन राजपुत्र के सम्मुख धरा और विनम्र मनभावन वचन बोली—"प्रियदर्शी कुमार, अब मैं तुमसे क्या कहूं? वह तो चन्द्रमा को अंक में भरना चाहती है, आकण्ठ अमृत-पान करना चाहती है और मलय पल्लव पर शयन करके अपनी दाह शान्त करना चाहती है अथवा विष्णु के कौस्तुभ मणि को हृदय में धारण करना चाहती है। भला उसकी स्पर्द्धा तो देखो—कहां हम पापिनी-अस्पृश्या वेश्या जाति, और कहां आप जैसे गुण-समुद्र, उदार अन्तःकरण राजपुत्र, भला हम हीन कुल कैसे कुल-वधू की प्रतिष्ठा को प्राप्त हो सकती हैं? पर कहूं क्या—यह सब उस धिक्कृत अनंग का दुष्प्रभाव है, वह विवेकी ऋषिजनों को भी विवेकहीन कर देता है, फिर युक्तायुक्त का विचार भला वे कैसे कर सकते हैं। सो यही तो मन्मथ की 'रागरज्जु' है। उसके उद्वेगावस्था का वर्णन मैं कैसे करूं? वह दूसरे का मनह हरती है, पर स्वयं विमन रहती है। नागरों का वह मनोरंजन करती है, पर स्वयं उदासीन रहती है। हे कुमार तेरे बिना व ऐसी उद्विग्न हो रही है कि क्या कहूं। अपने विचित्राचरण से वह कामि जनों के मन को मोह लेती है, परन्तु उनके सेवा-सत्कार-दान से वह प्रसन्न नहीं होती। कुमार, वह तो तेरे ही प्रेम में दीवानी हो रही है। परन्तु वह प्रेम की भोरी प्रेम का नाम ही जानती है—प्रेम के तत्व को नहीं पहचानती, अभी उसका अनुभव ही क्या है? अल्हड़ है। रतिवार्ता से वह कटकित हो जाती है, रतिसुख की बात तो उसने अभी सुनी ही सुनी है। वह उसका अपना अनुभूत नहीं है। इस प्रकार वह

प्रेम-मूर्ति अभी परोक्ष मन्मथा है। अभी वह मदन-रुजा से अनभिज्ञ है,और उस अनभिज्ञ पर पापात्मा, दग्ध मनोज ने कुसुमास्त्र से,तुझ से रहित देख,आक्रमण किया है अब वह वाला मन मे तेरी ही मूर्ति रख कर आते-जाते, आगे-पीछे, प्रसन्न और क्रुद्ध तेरा ही ध्यान करती रहती है। तुझे ही नाना अवस्थाओ मे, नाना भावों मे देखती है। ऐसी वह उत्कठिना नायिका है। हे राजकुमार, तू कान्त है, हृद्य है, रुच्य है, सुभग है, सुखद है, मनोहर है, रमण है, इष्ट है, स्वामी है, दयिता का प्राणदाता, केलिकरण-निपुण है। सो हे राजपुत्र, तू उस प्रिया के निकट चल, अब मूठ-मूठ का विलम्ब क्यो ? अरे, वह दर्पण में अपना मुख भी नहीं देखती, न चन्द्र-दर्शन करती है, इससे उसे अनुताप होता है। और जब सोती है तो अपनी मृणाल-भुजाओ को इधर-उधर पटकती रहती है। वह प्रकट मे उदासीन है पर भीतर से अनुरक्त है। मैं कहती हूं अरी मूर्खा, वही तो तू है। वही यह विदग्ध जन-मण्डित पुरी लंका है। वही कुसुमायुध है, फिर यह नया विरह-संताप तुझे कैसे उत्पन्न हुआ। उस विरहपीड़िता के कपोल पाण्डुर होकर और भी मनोहारी हो गए हैं, सो इसमे आश्चर्य क्या ? मन्मथ-विकार तो सहज सौन्दर्य को निखारता ही है। नए कमल पत्रो की शय्या पर उसका कृश दुर्निरीक्ष्य पाण्डु शरीर ऐसा शोभायमान हो रहा है जैसे सन्ध्या के धूमिल प्रकाश मे विकसित द्वितीया की क्षीण चन्द्र-कला और ऐसा भी तो होता है कि "विषस्य विषमौषधम्" इससे—जिस कारण से यह स्मरमान्द्य रोग हुआ है उसी से उसका शमन भी होगा। सो राजकुमार, वह मदालसा, तेरे चरण-कमल की रज की संगति की इच्छुक है, वह दासी के समान तेरी इच्छा करती है, सो तू उसकी मनोकामना पूरी कर। मैं न तो चापलूसी करती हूँ, न मूठी बड़ाई, न मुझे लोभ से कुछ प्रयोजन है। मैंने तो उसका सच्चा गुणगान किया है। सद्भाव ही जिसका मूल है और

हँसती हुई उसकी दृष्टि का विलास ही जिसकी सघन छाया है; उस मदालसारूपी रागतरु का हृद्य रसपान कर, और सब लंका के वासी श्रीमन्त राक्षस जिसकी एक झलक देखने को मरे जाते हैं, तू उसका अंग-संग कर।"

दूती ऐसे वचनों से उन्मत्त-सा हो अक्षकुमार काम दग्ध ज्वर से भारी भारी सांस भरने लगा फिर उसने दूती से कहा—"हे चारुभाविणी, जा-समय सन्मत कर।"

५६

अश्मपुरी का युद्ध

लंका-द्वीप के पूर्वी अचल में कुछ अश्म-द्वीप-पंज थे। ये द्वीप बहुत छोटे-छोटे थे और इनमें से अनेकों में मनुष्य की आबादी नहीं थी। कुछ द्वीप तो ऐसे थे जिनका पता ही नाविकों को न था। पर कुछ ऐसे भी थे—जहां जाते हुए अच्छे साहसी नाविक भी डरते थे। क्योंकि ये सभी द्वीप-पुंज चुम्बक पत्थर के द्वीप थे, इसी से ये सब अश्म-द्वीप-पुंज के नाम से प्रसिद्ध थे। बहुत कम नाविक वहां जाने का साहस कर पाते थे। द्वीपों के पास जाते ही नौकाओं के अंशफलक बिखर जाते थे। इन्हीं द्वीप-पुंजों में से एक में अश्मपुरी बसी थी। पहिले यह पुरी राक्षसों ही की थी, परन्तु प्राचीन काल से उसमें दैत्य-दानव ही रहते थे। विद्युज्जिह्व जब कालिकेयों का नेता बना—तो उसने पुरी को कुछ समृद्ध बनाया। इस समय अश्मपुरी में बीस सहस्र कालिकेय बस रहे थे, और इन सब का नेता विद्युज्जिह्व था। अश्मपुरी समुद्र के जिस अंचल में बसी थी, उसके आसपास का समुद्र बहुत गहरा था, और वहां समुद्र में जल-दानव बहुत थे। उनके भय से भी बहुत कम नाविक वहां आने का साहस करते थे। यह जल-दानव बड़ा शक्तिशाली प्राणी था। इसकी आकृति विलक्षण और भयानक होती थी। इस जीव के आठ पैर उसके सिर पर होते थे। इन आठ विशाल पैरों के साथ दो रस्सी-नुमा मूछें भी होती थीं। इसकी आंखें बड़ी ही भयानक होती थीं। इस जल-दैत्य के आठों पैर बड़े ही मजबूत और भयानक होते थे। वह इन्हीं से अपना शिकार पकड़ता था। इसका आकार छः-सात गज का होता

था। इस जल-दैत्य की सभी बातें निराली होती थीं। यह आगे को न चल कर पीछे की ओर चलता था। यह जन्तु उस काल में, जब जहाज बिना यन्त्र के चलते थे, उनके लिए काल ही माना जाता था। यह जल-दानव अपने मजबूत पावों से तरणी को जकड लेता था और बात की बात मे उसका मस्तूल तोड़ डालता था। एक विचित्र बात यह थी कि उसके शरीर में से कस्तूरी के समान सुगन्ध निकलती थी। यह दैत्य अपनी लम्बी भुजाओं में कई-कई मनुष्यों को एकबारगी ही लपेट लेता तथा तोते के समान विराट चोंच खोल कर उन सबको एकबारगी ही निगल जाता था।

दूसरी विशेषता इस द्वीप की, वन-मनुष्यों की थी। ये एक जाति के गुरिल्ले ही थे। इन वनमानुषों की आकृति दो गज़ से भी ऊची होती थी, और इनका शरीर इतना सुगठित और मोटा-ताज़ा होता था कि देखने पर ये बिल्कुल भयानक दैत्य लगते थे। इनके अग और जबड़े अत्यन्त मजबूत होते थे, और छोटे-से छोटे वनमानुष में दस आदमियों का बल होता था। इनका देह-भार साठ मन तक होता था। इनके सर्वांग पर बड़े बड़े काले बाल उगे होते थे। सिर पर कुछ लालिमा लिए लाल बाल होते थे। उनका उभरा हुआ मुंह, चपटी नाक, और आँखे बेढगी होती थीं। जब ये अपना मुंह खोलते थे, तो उनकी विकराल डाढें स्पष्ट दीख पडती थीं। ये जीव दो-चार एकत्र होकर जब बस्ती की ओर आते तो कृषि को चौपट कर डालते थे। यह पशु दस-दस की संख्या में पारिवारिक ढग पर रहता था। यह बड़ा ही विकट साहसी और अपनी रक्षा मे समर्थ होता था। जब यह क्रोध करता था तो इस प्रकार गरजता था कि वन-पर्वत प्रतिध्वनित हो जाते थे।

विद्युज्जिह्व ने कौशलपूर्वक तरणी को अश्म-द्वीप के तट पर

लगाया। वह प्रथम स्वयं उछल कर उतरा, और फिर उसने दोनों हाथों में सूर्पनखा को उठा कर तट पर रख दिया। धीरे-धीरे दोनों ही द्वीप की ऊबड़-खाबड़ पथरीली राह पर बढ़ने लगे।

सूर्पनखा ने पूछा—"अब क्या हम सुरक्षित हैं ?"

"मैं समझता हूँ, अश्मपुरी में हम सुरक्षित हैं।"

"किन्तु रक्षेन्द्र से कह आई हूं, कि अश्मपुरी में हम उसका स्वागत करेंगे।"

"सो तो ठीक ही कहा।"

"क्या हमारा बल इतना है ?"

"बीस सहस्र कालिकेय मेरे आधीन हैं।"

"यह तो तूने पहले कभी नहीं कहा ?"

"तो तूने रक्षेन्द्र को कैसे निमन्त्रण दे दिया ?"

"केवल तुझी पर निर्भर होकर।"

"क्या मैं एकाकी दुर्जय रक्षेन्द्र से पार पा सकता हूं ?"

"क्यों नहीं, तुझ में रक्षेन्द्र से अधिक शौर्य भी है, दर्प भी है।"

"यह तू मानती है ?"

"मानती हूं।"

"अच्छा ही है, उसी में बीस सहस्र कालिकेयों को भी जोड़ दे, जिसकी तू आज से स्वामिनी है।"

"पर मैं तो तेरी किंकरी हूं।"

"और मैं तेरा।"

"हमें कितना चलना होगा ?"

"डेढ़ योजन।"

"चल फिर, सूरज का प्रखर तेज बढ़ रहा है।"

दोनों आगे बढ़ चले। अश्मनगरी की पौर पर कालिकेयों ने ने दम्पति का भव्य अभिनन्दन किया। नगर भर में नृत्योत्सव हुआ। दीपावलि हुई। रात्रि को मद्यभोज हुआ, जहां विद्युज्जिह्व

ने सूर्पनखा सहित स्वर्ण-सिंहासन पर बैठ, सबकी अभ्यर्थना स्वीकार की।

अश्मनगर साफ सुथरा और कलापूर्ण गवाक्षों से सम्पन्न था। कालिकेय सम्पन्न और श्रीमन्त न थे। मात्र कृषक और आखेटक ही थे, फिर भी वे चतुर और सुरुचिपूर्ण थे। विद्युज्जिह्व से उन्हें प्रेम था। पितृहत्याकारिणी माता का वध करने के कारण कालिकेयों ने उसका अभिनन्दन ही किया था।

लंका में विद्युज्जिह्व छद्मवेश में, एक शिकारी के रूप मे रहता था। उसने एक प्रकार से अपने वैभव और सामर्थ्य का ठीक-ठीक अनुमान सूर्पनखा को भी न दिया था। वह उसे एक विपद्-ग्रस्त तरुण दानव-कुमार समझती थी। उसकी शालीनता और उसका साहसिक जीवन उसे बहुत पसंद था। इसी पर वह उस पर इतनी मोहित थी। उसकी विपन्नावस्था, 'पारिवारिक कलंक' और स्वयं विद्युज्जिह्व के हाथों माता का वध होने पर भी वह उसे त्याग न सकी। इतने बड़े इस साम्राज्य के अधिपति की इकलौती प्यारी बहिन, भाइयों और भाभी का परम अनुरोध भी न मान कर एकाकी उसके साथ चल दी। परन्तु जब उसने यहां आकर अश्मपुर में उसकी सामर्थ्य और वैभव देखा, तो उसने जाना कि उसका पति एक छोटा सा राजा ही है। वह अपने कुल का अधि-पति और एक द्वीप का स्वामी है।

चलते समय रावण ने प्रिय बहिन को कहा था कि संकट-ग्रस्त होने पर वह उसकी शरण आ सकती है, परन्तु उसने अपने घमण्ड और आत्मसम्मान के आवेश में रावण का दिया उपायन भी नहीं स्वीकार किया था। अत. अब भला वह कैसे उसकी शरणापन्न हो सकती थी। उसने उसका एक भी अनुरोध नहीं माना था, तो अब वह कैसे अनुरोध कर सकती थी।

परतु मधुयामिनी तो सम्पन्न हुई ही नहीं और संकट का

काल आ पहुँचा। रावण के सोलह सौ युद्ध-पोतों ने अश्मद्वीप को घेर लिया। क्षुद्रा, मध्यमा, भीमा, चपला, पटला, मया, दीर्घा, पत्रपुटा, गर्भरा, मन्थरा, तरणी, प्लाविनी, धारिणी, वेगिनी, ऊर्ध्वा, अनूर्ध्वा, स्वर्णमुखी आदि अनेक-विधि जल-नौकाओं ने अश्मद्वीप का तट घेर लिया। उन पर से शूल-खड्ग, मुद्गर, धनुष-बाणधारी राक्षस योद्धा तीर पर उतरने लगे।

विद्युज्जिह्व सूचना पा तुरन्त ही युद्ध को सन्नद्ध हो गया। पाठक उस क्रीतादासी राक्षस-बालिका को न भूले होंगे, जो लंका में विद्युज्जिह्व के लिए जागरण किया करती थी। यहां वह सूर्पनखा की प्रिय सखी बन गई थी। अभी यद्यपि कुछ ही मुहूर्त का यह सम्मिलन था, पर दोनों ही प्रिय सखी बन गई थीं, जब विद्युज्जिह्व युद्ध-सज्जा से सज्जित हो सूर्पनखा से मिलने आया; तो उसने देखा—सूर्पनखा और सरमा परस्पर एक दूसरे को युद्ध-सज्जा से अलंकृत कर रही हैं। विद्युज्जिह्व ने हँसकर कहा—"प्रिये, यह क्या ?"

उसी भांति हँसकर सूर्पनखा ने कहा—"रक्षेन्द्र के स्वागत की तैयारी तो मुझे ही करनी है। मैंने ही तो उसे अश्मपुरी में निमन्त्रण दिया है। मैं अपने भाई के प्रताप-स्वभाव से परिचित हूँ, अतः उसका समुचित सत्कार तो मैं ही करूंगी।"

"तो प्रतिष्ठिते, तू सरमा के साथ पुर की रक्षा कर। कह, कितने योद्धा तुझे चाहिएँ ?"

"एक भी नहीं, हमें पुरुष-योद्धा न चाहिएँ। हम दानवी-बालाएँ ही अपने नगर की रक्षा कर लेंगी। हां, हमें शस्त्र चाहिएँ।"

"वे शस्त्रागार में यथेष्ट हैं। क्या मैं तेरी सहायता के लिए, कुछ सेनापति और मन्त्री नियुक्त कर दूं ?"

"नहीं, उन सब को तू ले जाकर रणस्थली में अपना शौर्य प्रकट

कर, यहां हम सब यथेष्ट हैं। हमारे रहते नगर में राक्षस न प्रविष्ट हो सकेंगे।"

"तो प्रिये, कुल-पुरुष तेरी रक्षा करें। मैं चला।"

"समुद्र के दैत्य तेरी सहायता करें। जा शत्रु-रक्त से ललाट तिलक दे।"

समुद्र-तट से दक्षिण दिशा में विराट् समतल मैदान था वहीं रावण ने महाशुचि-व्यूह बनाकर अपनी सेना को अवस्थित किया था। व्यूह के प्रान्त-भाग में उसने अपने सभी मामाओं को नियुक्त कर मध्य में कुंभकर्ण को रखा तथा, सेना के पृष्ठ भाग की रक्षा स्वयं अपने आधीन की। विद्युज्जिह्व ने अर्धचक्र व्यूह रचा। मध्य में वह स्वयं रहा तथा प्रान्त में कुंजर और सनीथ कालिकेय सेनानायकों को नियुक्त किया।

दोनों ओर से रण-वाद्य बजे तथा सेनाएँ जय जयकार का तुमुलनाद करतीं, शस्त्र चमकातीं परस्पर गुथ गईं। देखते ही देखते बाणों से दिशाएँ व्याप्त हो गईं। शीघ्र योद्धा कट-कट कर भूमि पर गिरने लगे। लोथों के ढेर लग गए। योद्धा प्रचार-प्रचार कर भटों से जूझने लगे। शस्त्रों की मारकाट, योद्धाओं की लल कार और घायलों की चीत्कार से दिशाएँ व्याप्त हो गईं। मध्याह्न तक तुमुल युद्ध हुआ। धीरे-धीरे भटों के कट जाने पर अपनी-पराई सेना का भेद मालूम हुआ और लड़ते हुए प्रतिपक्षियों के नाम, रावण अपने मन्त्रियों से पूछने लगा। इस समय कुम्भकर्ण ने विकट पराक्रम ठान रखा था। उसके सम्मुख कोई भट ठहर ही न सकता था। यह देख विद्युज्जिह्व आगे बढ़ कर कुम्भकर्ण के सम्मुख आया। उसने खड्ग मस्तक पर लगाकर कुम्भकर्ण का अभिवादन किया, और कहा—"हे राक्षसों के ज्येष्ठ, मेरा तुझ से एक अनुरोध है।"

"तो पहिले अपना नाम कह, गोत्र बता और फिर प्रयोजन

कह।"

विद्युज्जिह्व ने कहा— "रक्षपति, मैं तेरी बहिन का स्वामी विद्युज्जिह्व कालिकेय हूं।"

"तो तू क्या मेरा शरणागत है?"

"नहीं रक्षेन्द्र, मैं रक्ष-कुलपति के साथ द्वन्द्व युद्ध करने की प्रतिष्ठा चाहता हूँ।"

"तो वीर, मैं भी तेरा प्रतिष्ठित सम्बन्धी हूँ, तू मेरा भगिनी-पति है, तू मुझी से द्वन्द्व युद्ध कर।"

"यह क्रम-भंग होगा। ऐसी कालिकेयों की रीति नहीं। यह सम्मान ज्येष्ठ को ही मिलता है। भाग्य से रक्ष-कुल का अपराधी भी मैं हूँ, और अपने कुल का ज्येष्ठ भी मैं हूँ। इसी से, मैं प्रथम राक्षसेन्द्र रावण से द्वन्द्व युद्ध करूंगा। फिर उसके बाद तेरी भी अभ्यर्थना करूंगा।"

"मैं तुझ पर प्रसन्न हुआ। तेरी बात युक्तियुक्त, संगत और दोनों कुलों की मर्यादा के अनुकूल है। मैं रावण को तेरा अनुरोध निवेदन करता हूं।"

अनुरोध सुन कर रावण वहां आया। विद्युज्जिह्व ने शस्त्र भूमि पर रख कर निरस्त्र हो रावण का अभिवादन किया, फिर कहा—"सातों द्वीपों के स्वामी राक्षसेन्द्र का मैं अश्मद्वीप में स्वागत करता हूं।"

"स्वस्ति, तेरी विनय भी तेरे शौर्य के समान ही श्लाघ्य है, किन्तु तू क्या मेरा शरणापन्न है?"

"रक्षेन्द्र, मेरी पत्नी और तेरी भगिनी सूर्पनखा ने मुझसे तेरा अश्मपुरी में स्वागत करने को कहा था।"

"वह मुझे याद है।"

"तो मैं अश्मद्वीप में तेरा स्वागत करता हूं।"

"शरणापन्न होकर?"

"नहीं, अश्मपुरी के अधिपति और तेरा भगिनीपति होने के नाते।"

"तू किस भांति स्वागत करना चाहता है भगिनीपति ?"

"यदि तू शस्त्र भूमि पर रख दे, जैसे मैंने रख दिया है, तो तेरा चिरकिंकर होकर, नहीं तो तू मुझे अपने साथ द्वन्द्व युद्ध की प्रतिष्ठा दे।"

"दूसरी ही बात ठीक है भगिनीपति, तेरा द्वन्द्व मुझे स्वीकार है, शस्त्र उठा ले। परन्तु युद्ध-पूर्व कह, तेरा मैं और क्या प्रिय करू ?"

"यही यथेष्ट है रक्षपति, तुझे कौनसा शस्त्र सिद्ध है ?"

"तू स्वच्छन्द प्रहार कर, सुना है तू शक्ति का अमोघ प्रहार करता है।"

"यों ही कुछ अभ्यस्त हू। तो रक्षेन्द्र, त प्रहार कर।"

विद्युज्जिह्व ने उछलकर शक्ति उठा ली। रावण ने प्रचण्ड वेग से शक्ति फेंकी। विद्युज्जिह्व एक ओर झुक गया, शक्ति भूमि में जा धंसी। अब विद्युज्जिह्व ने शक्ति फेंकी। वह रावण के कुण्डल को छूती हुई चली गई। बडी देर तक दोनों योद्धा शक्ति, शूल, खड्ग और मुद्गर से युद्ध करते रहे। रक्षेन्द्र रावण थक कर हांफने लगा। घावों से उसके रक्त झर-झर बह रहा था, परन्तु विद्युज्जिह्व अभी भी ताजा दम था।

रावण ने हँस कर कहा—"तेरा पराक्रम श्लाघ्य है वीर।"

"रक्षेन्द्र प्रसन्न हो। मुहूर्त भर विश्राम कर लें। इसके बाद युद्ध हो।"

"जैसे तुझे प्रिय हो।" रावण ने अपने हाथ का शस्त्र रख दिया। दोनों पक्ष स्तम्भित हो यह युद्ध देख रहे थे। दोनों अप्रतिहत योद्धा पास-पास खड़े श्रम दूर कर रहे थे। रावण ने कहा—"विद्युज्जिह्व, तू क्या सूर्पनखा के लिए कुछ सदेश देना

है ?"

केवल यही—कि मैं उसे प्यार करता हूँ।"

"क्या उसकी कोई अभिलाषा भी है ?"

"यदि रक्षेन्द्र का अकेले ही उसे अश्मपुरी में स्वागत करना ..., तो उसकी अभिलाषा रक्षेन्द्र से अव्यक्त न रहेगी। फिर राक्षस-...ज रावण जिसका भाई और ज्येष्ठ है, उसके लिए मुझे क्या ...न्ता ? परन्तु अब तो हम सुस्ता चुके।"

"निस्संदेह, तो वीर धनुष ले ?"

"रक्षेन्द्र यदि दो शरीर-रक्षक साथ ले लें तो मुझे आपत्ति न होगी।"

"वाह वीर, ऐसा भी कहीं होता है ?"

इसके बाद दोनों वीरों में धनुषबाणों से युद्ध हुआ। अनेक प्रकार के मन्त्रपूत बाणों से आकाश छा गया। दोनों वीरों के शरीर में बिंध-बिंध कर बाण शरीर का अंगभूषण बनने लगे। उनमें से रक्त की धार बह चली। अन्त में रावण ने सात अर्धचन्द्र एक बारगी ही धनुष पर चढ़ा कर विद्युज्जिह्व के धनुष की डोरी को काट डाला। यह देख राक्षसों की सेना गरज उठी। परन्तु इस समय विद्युज्जिह्व ने विकट परशु उठा रावण के सिर पर आघात किया। रावण आघात खाकर नीचे गिर गया। फिर उसने उछल कर अपना परशु सम्हाला, अपने सिर को चारों ओर घुमा कर रावण ने विद्युज्जिह्व पर प्रहार किया। प्रहार खाकर विद्यु-ज्जिह्व मूर्छित हो गया। इस पर सब कालिकेय सेनापतियों ने विद्युज्जिह्व को शस्त्रों की छांह में छिपा लिया। राक्षसों की सेन... एक बार फिर कालिकेयों पर टूट पड़ी। विद्युज्जिह्व का त... सेनापति मित्रहर्ष कालिकेय विद्युज्जिह्व के चरणतल में खड़ा हो... परशु चलाने लगा। परन्तु कुम्भकर्ण ने उसका पैर पकड़ कर ... एक शिला-खण्ड पर धर पटका, जिससे उसका भेजा फट ग...

अब विकृतदंष्ट्र कालिकेय विकट शूल ले कुम्भकर्ण पर धमक चला। दो मुहूर्त कुम्भकर्ण और विकटदंष्ट्र में घनघोर युद्ध हुआ। अन्त में कुम्भकर्ण ने शक्ति उसके हृदय के आरपार कर दी। तब चक्रवाल, अकुरी, प्रचण्ड और निर्घात कालिकेय सेनानायक एक साथ ही कुम्भकर्ण पर टूट पड़े। शस्त्रों की प्रचण्ड मार ने कुम्भकर्ण को विकल कर दिया। और वह चक्कर खाता हुआ भूमि पर गिर गया, यह देख कालिकेयों ने विकट हर्ष-नाद किया।

इसी समय विद्युज्जिह्व ने मूर्छा भग होने पर खड्ग हाथ में ले रावण के सम्मुख आकर कहा—"रक्षेन्द्र, आ—हम अपना अवशिष्ट धर्म पूरा करें।"

और—एक बार फिर ये दोनों अप्रतिम योद्धा सग्राम में भिड़ गए। उधर सोमिल और कालकम्पन दैत्यों से प्रहस्त और विलम्बक राक्षस घनघोर युद्ध कर रहे थे।

विद्युज्जिह्व पहिले ही रावण के परशु का करारा घाव खा चुका था। अब वह बारबार रुधिर बहने से अशक्त हो सुस्त हो गया। कई नए घाव खा गया। रावण ने कहा—"विद्युज्जिह्व शस्त्र रख दे, और शरणापन्न हो।"

"रक्षेन्द्र, जब शस्त्र-धारण में मैं समर्थ न रहूं, तब तू ही मेरे शस्त्र को ग्रहण करके मुझे सम्मानित करना।" इतना कह कर उसने एक विकट वार रावण पर किया। पर रावण ने उछल कर खड्ग का एक जनेऊ हाथ दिया, जिससे विद्युज्जिह्व का सिर कट कर भूमि पर दूर जा गिरा। विद्युज्जिह्व का कबन्ध ढाई घड़ी लड़ता रहा।

इस पर सब कालिकेय क्रुद्ध हो एक बारगी ही राक्षसों पर टूट पड़े। पर रावण ने युद्ध रोक दिया। उसने कहा—"अब युद्ध का कुछ प्रयोजन नहीं रहा।" विद्युज्जिह्व के सेनापति भयंकर ने कहा—"हम भद्र विद्युज्जिह्व का शरीर लेकर अश्मपुर जाते हैं। रक्षेन्द्र

अश्मपुर के द्वार पर आएँ, वहां कालिकेयों की रानी सूर्पनखा उनका स्वागत करेगी।"

कालिकेय अतिरथी विद्युज्जिह्व के शरीर को लेकर लौट गए। उनके पीछे रावण निरस्त्र हो मन्त्रियों सहित अश्मपुर को चला, उसके पीछे सब राक्षस सैन्य शस्त्र नीचे किए हुए। अश्मपुरी में विद्युज्जिह्व की चिता नगर के बाहर रची गई, और सूर्पनखा ने चितारोहण की तैयारी की। सब कालिकेय निराहार रह, समुद्र स्नान कर, चिता की परिक्रमा कर नीरव खड़े हो गए। तभी कालिकेयों की रानी सद्य-विधवा सूर्पनखा शृंगारित हो, चितारोहण के लिए आई। पहिले उसने पतिसहित चिता की परिक्रमा की। फिर उसने रावण के निकट आकर कहा—"स्वागत भाई, अश्मपुरी में तेरा स्वागत है। परन्तु तू मुझे क्षमा कर रक्षेन्द्र, मैं अधिक विलम्ब नहीं कर सकती, तेरा कल्याण हो।"

रावण की आंखों में आंसू भर आए। उसने कहा—"बहिन, यह तू क्या कहती है, मैं तुझे लंका ले जाने के लिए यहां आया हूं।"

"परन्तु वीर, मेरा पथ तुझे मालूम है, तू ने अपनी मर्यादा रक्खी—कुल-मर्यादा, राज-मर्यादा। और मैंने अपनी मर्यादा रखी—स्त्री-मर्यादा। तू अपनी मर्यादा की रक्षा के लिए यहां तक आया, और मैं अपनी मर्यादा के लिए वहां जा रही हूँ, अलातलोक में। भाई,रक्षेन्द्र, तू महाप्रतापी सत्व है, तेरे अनुग्रह से मैंने केवल एक रात का सुहाग-भोग लिया। मैंने दोनों कुलों को धन्य कर दिया। तेरे रक्ष-कुल को भी, और अपने कालिकेय-कुल को भी। अब तेरी-मेरी राह दो हैं। तू अपनी राह जा, और मैं अपनी।"

"यह न होगा बहिन, तुझे हम सभी भाइयों ने अपनी नेत्र-ज्योति समझा। कुल-मर्यादा का पालन न करने से कुल-क्षय होता है। इसीसे मुझे यहां आना पड़ा। पर विद्युज्जिह्व

सुप्रतिष्ठित है। उसके साथ विवाह करके तू ने रक्ष-कुल कलंकित नहीं किया। मैं सन्तुष्ट हू, पर खेद है विद्युज्जिह्व ने मुझसे तुझे नहीं मांगा। अब तो बहिन, जो होना था सो हो गया। अब तू यह भयंकर इरादा त्याग, शोक को भी मन से निकाल बाहर कर—'भस्मान्त श शरीरम्'"

"परन्तु चितारोहण राक्षसों की भी कुल-मर्यादा है और दानवों की भी। फिर मैं तो प्रिय के बिना रह नहीं सकती। जब मैंने उसके लिए तुझ रक्षेन्द्र को और लंका के वैभव को भी त्याग दिया—तब, तू ने क्या यह नही जाना कि मैंने उसकी अपेक्षा विश्व को भी तुच्छ मान लिया है।"

"मैंने जान लिया बहिन, इसी से तुझे रोका नहीं। पर तूने भी तो जान लिया था—कि मुझे आना होगा, तभी तूने मुझे अश्मपुरी में आमन्त्रित किया था। अब जिसका मुझे भय था वही हो गया। अब तू भी धर्म का अनुसरण कर—

"उदीर्ष्व नार्यभिजीवलोकगतासुमेतमुपशेषएहि"

"परन्तु—अजं ददातोनवियोषतः"

"नहिं, नहिं, जीवन्तप्राणसमूहमभिलक्ष्य आगच्छ।"

रावण ने आगे बढ़कर प्रिय बहिन का हाथ पकड़ लिया, कुंभकर्ण ने उसे अपनी प्रलम्ब बाहुओं मे उठा लिया। सूर्पनखा ने रोते हुए कहा—"तो भाई, मैं कालिकेयों को नहीं छोड़ सकती।"

"ठीक है। जा तू अपने सब कालिकेयों के साथ—दण्डकारण्य में रह, दण्डकारण्य मैंने तुझे दिया बहिन, तू वहा रह चुकी है, वह प्रदेश तुझे प्रिय है। अब से तूही वहां की स्वामिनी है। पर कालिकेय भी सब राक्षस-धर्म ग्रहण करें।"

"कालिकेय राक्षस-धर्म स्वीकार करेंगे।"

"मैं खर को आदेश दे दूंगा कि दण्डकारण्य की स्वामिनी सूर्पनखा है, वह सूर्पनखा का अनुगत होकर रहे।"

सूर्पनखा ने स्वीकार किया। विद्युज्जिह्व की चिता में अग्नि दी गई। रावण ने मन्त्र पढ़ा—सूर्यं चक्षुषागच्छ वातमात्मना दिवं च गच्छ, पृथिवीं च धर्मभिः। अपो वा गच्छ यदितत्र ते हित—मोषधीषु प्रतितिष्ठा शरीरैः। ये एतस्य पथोगोप्तारस्तेभ्यः स्वाहा। ये एतस्य रक्षितारस्तेभ्यः स्वाहा। ये एतस्य पथोऽभिरक्षितारस्तेभ्यः स्वाहा।

रावण ने प्रथम घृत की, फिर दूध की धार से चिता को सींचा। पीछे सब राक्षसों ने, कालिकेयों ने भांति-भांति के पशुओं का आखेट करके चिता को बलि दी।

६०

वशिष्ठ-विश्वामित्र

इस समय आर्यों के राज्य गंगा और यमुना की घाटियों को पार कर सोन-महानद के तटों को छू रहे थे। दक्षिण में नर्मदा के किनारे तक अनेक समृद्ध राज्य स्थापित हो चुके थे। सरस्वती और दृषद्वती की मध्य भूमि—जिसे आज कल सरहिन्द का इलाका कहते हैं—आर्यावर्त की केन्द्र-भूमि थी। अनेक चक्रवर्ती राज्यो की ही भांति प्रभावशाली ऋषियों के अनेक आश्रम भी यहां स्थापित थे, जिनमें वशिष्ठ, विश्वामित्र, जमदग्नि, गौतम और कण्व के आश्रम बहुत प्रसिद्ध थे। वे निरन्तर असुरों, नागों, मरुतों और दस्युओं को पीछे धकेलते हुए अपनी राज-श्री की वृद्धि करते जा रहे थे।

परन्तु इस समय आर्यावर्त मे दो व्यक्ति ऐसे थे, जिनका माहात्म्य बड़े-बड़े चक्रवर्ती राजाओं से भी अधिक प्रभावशाली था। इनमें एक थे वशिष्ठ और दूसरे थे विश्वामित्र।

वशिष्ठ का मैत्रावरुण नाम भी प्रसिद्ध था। इनका जन्म देव-भूमि इलावर्त में हुआ था, तथा इनकी माता उर्वशी उन दिनों वरुण और सूर्य दोनों ही की सेवा करती थी, इसलिए यह निर्णय नहीं हो सकता था कि वह सूर्य के औरस से है या वरुण के। इसलिए उन्हें मैत्रावरुण—सूर्य और वरुण का पुत्र कहते थे। वरुण के सभी पुत्र ऋषि हुए। उन्होंने राज-सत्ता स्थापित नहीं की। वशिष्ठ भी ऋषि हुए, परन्तु इलावर्त में इनका एक प्रतिद्वन्द्वी पैदा हो गया—इन्हीं का भाई नारद। वशिष्ठ ने अग्नि-होत्र की स्थापना की, और यज्ञ की प्रतिष्ठा की। शीघ्र ही वे याजक

प्रसिद्ध हो गए, परन्तु नारद ने इनकी खूब खिल्ली उड़ाई। उन्होंने वशिष्ठ की यज्ञ-विधि स्वीकार नहीं की। उन्होंने वामदेव्य गान किया। इसके बाद दोनो का परस्पर संघर्ष बढ़ चला। वशिष्ठ जो भी पूजन-विधि स्थापित करते—नारद उसके विपरीत दूसरी विधि कहते। ऐसा करते-करते नारद का नाम ही वामदेव प्रसिद्ध हो गया। उन्होंने देवराट् इन्द्र को प्रसन्न कर लिया और देवराट् की प्रशसा मे अनेक सूक्त रचे। वशिष्ठ की पैठ देवराट् के दरबार मे नहीं हुई। उन्होंने इलावर्त त्याग दिया और वे कुछ काल के लिए शाक-द्वीप चले आए। उन दिनो अरब का नाम शाक-द्वीप ही था। वशिष्ठ के वशज मग, मुनि, मौनी प्रसिद्ध हुए। कुश-द्वीप—अफ्रीका मे भी मुनिवशी कुछ लोग जा बसे। शाक-द्वीप—अरब मे वशिष्ठ ने बड़े-बड़े यज्ञ किए। उनके यज्ञों के धुए और सुगन्ध से दिशाएं व्याप्त रहती थीं।

परन्तु भाग्य की बात देखिए—यहां भी इनका एक प्रबल प्रतिस्पर्धी उत्पन्न हो गया। यह काव्य-उशना—शुक्र थे, जो दैत्य गुरु भृगु-पुत्र थे। भृगु का वश प्रजापति का वंश होने के कारण अधिक प्रतिष्ठित था, और शुक्र तो दैत्यपति बलि और दानवेन्द्र वृषपर्वा के याजक तथा चक्रवर्ती पौरव ययाति के श्वसुर थे ही। उनका बड़ा मान था– बड़ा नाम था। अतः अरब—शाक-द्वीप मे भी वशिष्ठ का प्रताप फीका ही रहा। भृगुवशियो का तेज, प्रताप वहां बढ़ता गया। पीछे भार्गव और्व के वहां आ जाने से द्वीप का नाम ही अरब पड़ गया। लोगो ने काव्य-उशना—शुक्र को अपना पूज्य याजक बना लिया। आगे चल कर उन्होंने काव्य का मन्दिर बना कर उसमें शुक्र की मूर्ति स्थापित की। इसी मन्दिर को आज काबा कहते हैं।

वशिष्ठ फिर भारत चले आए और सुदास के कुल-गुरु और मन्त्री बने। दाशराज्य-युद्ध मे उन्होंने बड़ा पराक्रम प्रकट

किया। पीछे सुदास से भी नाराज होकर वे सूर्यवंशियों के कुल-गुरु हुए। प्रथम दक्षिण कौशल—कल्माषपाद के पुरोहित बने। पीछे अयोध्या की मूल गद्दी पर आ दशरथ के कुल-गुरु हुए। दैव-दुर्विपाक से यहां भी उनका प्रतिद्वन्द्वी मिल गया—वह थे विश्वामित्र, जिन्हें उन्होंने एक बार युद्ध मे परास्त किया था, जब कि वे कल्माषपाद राज्य के व्यवस्थापक थे। वास्तव में फिर विश्वामित्र ने उन्हें कहीं भी जमने नहीं दिया। सर्वत्र उनसे उनकी खटपट होती ही रही। यहां तक यह शत्रुता बढ़ी—कि विश्वामित्र ने वशिष्ठ के सब पुत्रों को मरवा डाला।

विश्वामित्र वास्तव में कान्यकुब्ज के राजा थे। यहां प्रसंगवश हम उनके वश का भी कुछ परिचय देंगे। शोण-नद के तटवर्ती प्रदेश पर कुश नामक एक राजा राज्य करता था। उसकी पत्नी वैदर्भी से उसे चार पुत्र उत्पन्न हुए। उनके नाम कुशनाभ, कुशाश्व, अमूर्तरजस और वसु थे। इन चारों राजपुत्रों ने अपने पिता ही के राज्य-काल में पिता की आज्ञा से चार नगर बसाए। कुशनाभ ने महोदय, कुशाश्व ने कौशाम्बी, अमूर्तरजस ने धर्मारण्य और वसु ने गिरिव्रज। गिरिव्रज का नाम वसुमती भी प्रसिद्ध हुआ। यह प्रसिद्ध नगर पाच पर्वतो पर बसा था। आगे यहीं पर प्रसिद्ध जरासंघ तथा शिशुनागवशी सम्राट् हुए। कुश राजर्षि थे। उनके ज्येष्ठ पुत्र कुशनाभ को घृताची अप्सरा से अनेक कन्याएँ हुईं।

इसी काल में उस क्षेत्र में एक ऋषि चूली नाम के रहते थे। वे बड़े तेजस्वी और विद्वान् थे। उर्मिला गन्धर्वी भी ऋषि के निकट ही कहीं रहती थी। उसकी कन्या सोमदा ऋषि की यदा-कदा सेवा करती रहती थी। बहुत काल बाद वह गन्धर्व-कन्या जब यौवन की देहरी पर पहुची, एक दिन ऋषि ने कहा—"मैं तुझ पर प्रसन्न हूँ, तू वर मांग।" इस पर सोमदा ने कहा—"हे ब्रह्मर्षि, मेरा अभी विवाह नहीं हुआ है, तथा मैं किसी की भार्या नहीं हूँ।

अतः आप यदि मुझ पर प्रसन्न हैं, तो मुझे एक तेजस्वी पुत्र दीजिए।" ऋषिवर ने गन्धर्वी कन्या की यह याचना सहर्ष स्वीकार कर ली और यथासमय सोमदा के गर्भ से एक पुत्र हुआ, जिसका नाम ब्रह्मदत्त रखा गया। युवा होने पर ब्रह्मदत्त काम्पिल्य-नगरी में रहने लगा। उन दिनों काम्पिल्य-नगरी मे बहुत गन्धर्व रहते थे। शीघ्र ही वह नगरी का राजा हो गया। राजा कुशनाभ ने ब्रह्मदत्त को रूप-गुण-सम्पन्न एवं कुलीन देख, अपनी कन्याएं उसे दे दीं। परन्तु बहुत काल बीत जाने पर भी राजा ब्रह्मदत्त को कोई संतान नही हुई। बड़ी आयु मे उसे एक गाधि नाम का पुत्र हुआ, कुशाश्व के पुत्र कुशिक ने उन्हें गोद लिया। यही गाधि, विश्वामित्र के पिता थे। धीरे-धीरे कुशिक ने कान्यकुब्ज मे अपना राज्य स्थापित कर लिया जिसके उत्तराधिकारी गाधि हुए। गाधि की दो सतान थीं, एक पुत्री दूसरा पुत्र। पुत्री सत्यवती ऋचीक ऋषि को एक सहस्र श्यामकर्णअश्व लेकर दे दी गई। विश्वामित्र का बाल्य-काल का नाम विश्वबन्धु था। वे ऋचीक से सब शस्त्र-शास्त्रों मे निष्णात हो कान्यकुब्ज के राजा बने। राजा से अरक्षित समझ कर ही उन्होंने वशिष्ठ के रक्षित राज्य पर एक अक्षौहिणी सेना लेकर आक्रमण किया था, परन्तु वशिष्ठ के आगे उन्हें हार माननी पड़ी। उन्होंने वशिष्ठ को यह भी उत्कोच देना चाहा कि यदि आप यह राज्य मेरे हवाले कर दें तो मैं आप को सोने से सुसज्जित चौदह सौ हाथी, स्वर्ण से मढ़े हुए आठ सौ रथ, ग्यारह हजार अश्व और एक लाख गाय दूँगा, इसके अतिरिक्त प्रभूत स्वर्ण भी; परन्तु वशिष्ठ ने नहीं स्वीकार किया। इस युद्ध में पल्हवों, हिरातों, किरातों, काम्बोजों, बर्बरों और यवनों ने वशिष्ठ की सहायता के लिए युद्ध किया था। इस युद्ध में विश्वामित्र के सब पुत्र-परिजन खेत रहे थे—केवल एक ही पुत्र जीवित बचा था। अंत में विश्वामित्र पराजय की लज्जा के कारण श्री-

सहित जगल में जा छिपे, जहां उनके चार पुत्र हुए—दृढ़नेत्र, हविष्यन्द, महारथ और मधुष्यन्द। वन में विश्वामित्र बहुत काल तक रहे। यहीं मेनका अप्सरा उनके साथ दस वर्ष रही। वहीं त्रिशकु से सांठ-गांठ कर उन्होंने वशिष्ठ से वैर साधा। त्रिशंकु भी वशिष्ठ से खार खाए बैठा था। यह सब कथा पाठक जानते ही हैं।

परन्तु इस वैर-भावना के मूल में एक और भावना यह भी थी कि विश्वामित्र के वश का महाप्रतिष्ठ भृगुवशियों से सम्बन्ध हो चुका था। ऋचीक ने एक सहस्र श्यामकर्ण घोड़े देकर विश्वामित्र की बहिन से ब्याह किया था तथा बहिन के पुत्र जमदग्नि और विश्वामित्र दोनों ही ने ऋचीक के आश्रम में वेद और शस्त्र-विद्या ग्रहण की थी। साथ ही साथ हैहयों से वैर की भावना भी। इससे विश्वामित्र में जो वैर-भावना का बीज तथा शस्त्र-साधना का बल तथा राज-भोग और राज्य-भ्रष्ट होकर वन में छिपने के सयोग आए, तो उनकी क्रोध-भावना और वैर-भावना मूर्त हो उठी, जिसने वशिष्ठ का एक प्रकार से वंश-नाश ही करके दम लिया।

विश्वामित्र के बहनोई ऋचीक जैसे वेदर्षि थे, वैसे ही मन्त्र-यन्त्र-तन्त्र और शस्त्र-विद्या में भी एक थे। उन्होंने विश्वामित्र को अनेक दिव्यास्त्र दिए। दण्ड-चक्र, काल-दण्ड, कर्म-चक्र, विष्णु-चक्र तथा इन्द्र-चक्र, वज्र, शिवशूल, ब्रह्मास्त्र और इषीकास्त्र जो मन्त्र-बल से चलते थे उन्होंने दिए। मोदकी और शिखरी भेद से दो गदा-युद्धों के रहस्य सिखाए। धर्मपाश, कालपाश और वरुणपाश दिए। सूखे और गीले दो वज्र दिए, तथा पिनाकास्त्र नारायणास्त्र, आग्नेयास्त्र, वायव्यास्त्र, हयशिर, और क्रौंच-महास्त्र यत्न से सिखाए। मुशल, किंकिणी और अस्त्र भी दिए। फिर विद्याधर-अस्त्र, नन्दनास्त्र, दो प्रकार के खड्ग, पैशाचास्त्र, मोहनास्त्र,

प्रस्वापनास्त्र, वर्षास्त्र, शोषणास्त्र, संतापनास्त्र, विलयनास्त्र, भावनास्त्र जो अति महत्वपूर्ण थे, सिखाए। इन महास्त्रों के कारण विश्वामित्र की शक्ति अपार हो गई। यही सब महास्त्र, उन्होंने श्रीराम को और लक्ष्मण को उस समय प्रयोग-संहार सहित सिखाए थे, जब वह उन्हें ताड़का-वध के लिए नैमिषारण्य मे ले गए थे। इसके अतिरिक्त धृष्ट, रभस, प्रतिहारतर, परांगमुख, अवागुण, लक्ष्य, अलक्ष्य, दृढ़नाभ, सुनाभ, दशाक्ष, शतवक्र, दशशीर्ष, शतोदर, पद्मनाभ, महानाभ, दुन्दुनाभ, स्वनाभ, निष्कलि, विरुच, खार्चिमाली, धृतिमाली, पिच्य, विधूत, मकर, मोह, आवरण, जृम्भक, सर्वनाश और वरुणास्त्र प्रयोग-विधि सीखी थीं।

इलावर्त मे जो नारद—वामदेव ने वाम पूजन-विधि का प्रचलन किया था, ये उसी के समर्थक थे। उन्होंने जो ऋचाएं तैयार की, वे भी वाम-विधि-मूलक थीं। कहना चाहिए, उनका वेद, आर्यो के वेद से बिल्कुल पृथक्—निराला वेद था। आर्य जन जिन ऋचाओं को वेद कहते थे, ऋचीक उन्हें नहीं मानते थे, वे अपनी ऋचाएं पेश करते थे। ऋचीक का यह वामाचारमूलक वेद ही आगे चलकर अथर्वण या अथर्ववेद प्रसिद्ध हुआ। वशिष्ठ और विश्वामित्र जहां जिस यज्ञ मे एकत्र होते—वहीं झगड़ा खड़ा हो जाता; क्योंकि दोनों की वेद-विधि परस्पर वाम थी। संक्षेप मे, विश्वामित्र अथर्वण थे और वशिष्ठ ऋग्वेदिक।

भृगुओं का वंश दैत्य-याजक होने तथा आर्यावर्त से पृथक होने के कारण आर्यो से उनके संस्कार-आचार बहुत भिन्न थे। तथा च एक बात और थी। विष्णु-सूर्य ने शुक्र की माता तथा भृगु की पत्नी का वध कर दिया था। भृगु की यह पत्नी दैत्य-राज हिरण्यकशिपु की पुत्री थी। इस पर क्रुद्ध हो भृगु ने विष्णु की छाती में लात मारी थी। सो सूर्यवंशियों से भृगुओं का यह वैर भी बहुत पुराना था। आर्यावर्त में बस कर, और आर्यों के कुल-

गुरु होने पर भी उनके आचार बदले नहीं। सबसे बड़ी विशेषता भृगुओं की यह थी, कि वे प्रबल योद्धा भी थे। उन्होंने बड़े-बड़े युद्ध भी किए। यदु, तुर्वुस और द्रुह्य जाति के वे सहायक रहे, पवथ और शार्यातों के सम्बन्धी और कुल-गुरु रहे। इस कारण उन दिनों आर्यों के सांस्कृतिक और राजनैतिक जीवन से इस वंश का अविच्छिन्न और महत्वपूर्ण सम्बन्ध रहा। विशेषकर—ऋचीक के कान्यकुब्जपति गाधि की पुत्री से विवाह कर लेने के बाद, जब जमदग्नि और विश्वामित्र का जन्म हुआ तथा दोनों का साथ ही साथ पालन-पोषण हुआ—तो काल पाकर ये दोनों मामा-भांजे, ऋचीक के मेधावी शिष्य आर्यावर्त में एक बहुत ऊंची प्रतिष्ठा-भूमि पर स्थिर हुए। और आर्यावर्त ही में क्यों, ऋचीक की सत्ता तथा प्रभाव सिन्धु से गंगा तक, काशी से नर्वदा तक फैला था। उन्हीं के कारण विश्वामित्र भी इतने प्रसिद्ध हुए। राजा की भांति विश्वामित्र उतने प्रतिष्ठित कभी नहीं हुए। सम्भवतः आगे उनके वश में राज्य रहा भी नहीं, परन्तु वे राजाओं के शीर्पस्थल पर बने रहे। सक्षेप में वशिष्ठ और विश्वामित्र ये दो उस काल के अप्रतिम नक्षत्र थे, जिनमें सारे आर्यावर्त की राजनैतिक और सांस्कृतिक प्रतिष्ठा-भूमि आधारित थी।



हैहय-कार्तवीर्य सहस्रार्जुन

नहुष-पौत्र और ययाति-पुत्र यदु के दूसरे पुत्र सहस्रजित की शाखा में पच्चीसवीं पीढ़ी मे हैहय नाम राजा हुआ। इसके वंश में तैंतीसवां राजा कृतवीर्य और चौंतीसवां राजा अर्जुन था, जिसे उसके बल-प्रताप के कारण सहस्रार्जुन के नाम से पुकारा गया। हैहयों का यह वंश बड़ा विक्रमशाली हुआ। वैवस्वत मनु के पुत्र शर्याति ने खम्भात की खाड़ी में एक आनर्त राज्य स्थापित किया था। शर्याति बड़े सम्राट् थे। इनका ऐन्द्राभिषेक हुआ था। पाठक यह भी जानते हैं कि इनकी पुत्री सुकन्या का विवाह भृगु-पुत्र एवं शुक्र के सौतले भाई च्यवन से हुआ था। यद्यपि च्यवन दैत्य-याजकों के वंश में थे, परन्तु मानवों की कन्या से विवाह करके आर्य ऋषि हो गए थे। किन्तु रहते थे ससुराल में, राजसी ठाट-बाट से। वे योद्धा भी बड़े बांके थे। एक बार तो उन्होने देवराट् इन्द्र से विकट युद्ध किया था। वह काल ही ऐसा था जब प्रत्येक को शस्त्र ग्रहण करना पड़ता था। ऋषि लोग भी तब सीधे-साधे तो नहीं होते थे। वे युद्ध मे राजाओं के साथ-साथ भाग लेते थे।

कालान्तर मे पुण्यजन असुरों ने शर्यातों से आनर्तों का राज्य छीन लिया, और उनसे हैहयों ने वह राज्य छीन लिया। आनर्त-राज्य के स्वामी होकर हैहयों ने च्यवन के वंशज भार्गवों को अपना कुल-गुरु मान लिया। च्यवन के वंशधरों में दधीचि, ऊर्व, ऋचीक, जमदग्नि और परशुराम उत्पन्न हुए। अतः हैहय-वंश का भार्गवों के इस वंश से न केवल घनिष्ठ सम्बन्ध ही रहा, अपितु वे हैहयों

के ही राज्य में बसे रहे। परन्तु राजपुरोहित और राजसम्बन्धी होने के कारण भार्गव खूब सम्पन्न जागीरदार की भांति रहते थे। हैहयों ने भी उन्हें खूब धन दिया था। पीछे हैहयों ने उनसे प्रजा की भांति कर ग्रहण करना चाहा, इस पर भार्गवों ने आपत्ति की। राज्य के दायाद और गुरु होने के नाते वे इस कर से अपने को बरी करना चाहते थे। परन्तु इस पर झगड़ा बढ़कर भारी विद्रोह का रूप धारण कर गया। अन्त में भार्गवों को महिष्मती का राज्य छोड़ कर सरस्वती-तीर पर बस जाना पड़ा, जहां उनका सम्बन्ध कान्यकुब्जपति गाधि से हो गया, और वे इससे फिर प्रतिष्ठित और सम्पन्न हो गए। और्व-पुत्र ऋचीक का पुत्र जमदग्नि और गाधि-पुत्र विश्वामित्र—मामा-भांजे सरस्वती-तट पर ऋचीक ऋषि के आश्रम में वेद पढ़ने लगे, और फिर शीघ्र ही दोनों विख्यात वेदर्षि हो गए। यह बात पाठक जानते ही हैं।

इस समय हैहयों का प्रताप मथुरा से नर्वदा-तट तक के प्रदेशों में फैल गया था, और उधर काशी से खम्भात की खाड़ी तक उसका विस्तार था। अब कोई भी आर्य राजा अकेला हैहयों को पराक्रान्त न कर सकता था। कार्तवीर्य अर्जुन समूचे ही मध्य भारत का स्वामी था। उसकी विपुल पोत-वाहिनी और अजेय हय-दल था।

जमदग्नि का विवाह इक्ष्वाकु वंश की राजकुमारी रेणु के साथ हुआ था, और रेणु की सगी बहिन सहस्रार्जुन को ब्याही थी। इस प्रकार जमदग्नि और सहस्रार्जुन रिश्ते में साढ़ू थे। परन्तु जमदग्नि हैहयों का पिछला बैर नहीं भूले थे। ऋचीक ने बाल्य-काल ही से उनमें हैहयों की विरोधी भावना भर दी थी। वे हैहयों को अपना चिर शत्रु समझते थे। ऋचीक अप्रतिहत धनुर्धर थे। विश्वामित्र ने उन्हीं से धनुर्विद्या सीखी थी।

प्रागैतिहासिक काल में नर्मदा निःसीम नदी थी। उसी के

उत्तरी तट पर अर्जुन की नई राजधानी माहिष्मती थी। इस नगरी को माहिष्मत ने कर्कोटक नाग से छीन कर सम्पन्न किया था। पीछे उसने शकों, यवनों, काम्बोजों, पारदों और पल्लवों की सहायता से नर्मदा से मथुरा तक का समूचा प्रदेश जीत लिया था। नगरी के पास नर्मदा का विस्तार समुद्र के समान था। उसमें सदैव ही सुमेरु-पाताल, क्षीर-सागर, त्रिपुरी और सप्त महासागरों के द्वीप-समूहों के यान लंगर डाले पड़े रहते थे। सहस्रार्जुन का नौ-बल अजेय था। वह लहरों का स्वामी प्रसिद्ध था। उन दिनों माहिष्मती समूचे आर्यावर्त, भरतखण्ड, इलावर्त और दैत्य-राज्यों के व्यापारियों से परिपूर्ण रहती थी। पण्यों में आर्य, अनार्य, असुर, व्रात्य, नाग आदि सभी जातियों के वणिक, क्रय-विक्रय करते रहते थे। मथुरा से नर्मदा-तट तक समूची पृथ्वी का स्वामी उस समय सहस्रार्जुन हैहय था।

हैहयों का जैसा राज्य-प्रताप था, वैसा ही भृगुओं का धर्म-प्रताप था। अनूप देश इन दोनों प्रतापी प्रतिद्वन्दियों का क्षेत्र था। यहां भृगुवंशी अधिक रहते थे। अनूप देश की सीमा पूर्व में चर्मण्वती, पश्चिम में समुद्र, दक्षिण में नर्मदा और उत्तर में आनर्त तक थी। भृगुवशी यहां के हैहयों से भी पुराने निवासी थे। उनकी बहुत जमीन, जायदाद, जागीर और धन-सम्पत्ति यहां थी। इसी से जब भृगुओं से सहस्रार्जुन का विग्रह हुआ तो वह बहुत उग्र रूप धारण कर गया। सहस्रार्जुन गर्वीली प्रकृति का था। वह भृगुओं का दो पीढ़ी पुराना वैर भूला नहीं, जमदग्नि के साथ रिश्ते के सूत्र में बंध कर भी नहीं। परन्तु भृगुवंशी अब उससे दूर सरस्वती-तट पर रहते थे। यह विग्रह नाम ही को रह गया था कि एक घटना आ घटी। जमदग्नि ने अपनी स्त्री रेणु को चित्ररथ गन्धर्व के साथ व्यभिचार-रत पा उसका सिर अपने छोटे पुत्र राम के हाथों कटवा लिया। इस पर क्रुद्ध होकर उसके साढ़ू

सहस्रार्जुन ने अपनी स्त्री के अनुरोध से जमदग्नि के आश्रम को लूट कर उसे जला डाला।

मथुरा तक हैहयों की राज्य-सीमा थी। मथुरा से आर्यावर्त निकट ही था। मथुरा आर्यावर्त और भारतवर्ष की सीमा पर ही था। सहस्रार्जुन को इस कार्यवाही से आर्यावर्त में बहुत उत्तेजना फैल गई, और जमदग्नि-पुत्र परशुराम सहस्रार्जुन से पिता के आश्रम जलाने का बदला लेने की सोचने लगे। पाठक जानते ही हैं कि किस प्रकार हैहयों से जामदग्नेय राम ने बदला ले, उनके रक्त से समंतक तीर्थ में पांच रक्त-कुण्ड भरे थे।

६२

माहिष्मती का युद्ध

सब बातों पर भलीभांति विचार-परामर्श करके, लंका का सारा राज्य-भार विभीषण को सौंप, राक्षसों की चतुरंग चमू ले, महाबली और विचक्षण महोदर, प्रहस्त, मारीचि, शुक्र, सारण, और धूम्राक्ष इन छै महामात्यों को साथ ले रावण ने लंका से दिग्प्रस्थान किया। वह समुद्र पार उतर धनुषकोटि की राह भारत में घुसा। भारत के सम्पूर्ण समुद्र-तट को उसने सुरक्षित-सुव्यवस्थित किया। फिर दण्डकारण्य में आ वहां की रानी अपनी बहिन सूर्पनखा को करणीय कह, अपने भाई खर को उसका सचिव और दूषण को सेनापति बनाया। सब कालिकेयों सहित, जो राक्षस होने की शपथ ले चुके थे—चौदह सहस्र राक्षस भट दण्डकारण्य की रक्षा को नियत किए, दण्डकारण्य मे ठौर-ठौर पर सूर्पनखा ने सैनिक-सन्निवेश स्थापित किए। तथा वहां आर्यों का प्राबल्य न होने पाए इस सम्बन्ध में उसे बहुत से महत्वपूर्ण आदेश दे वह नदी, नगर, पर्वत, वन, उपवन पार करता हुआ माहिष्मती नगरी के निकट आ पहुंचा।

नर्मदा-तट पर उसने अपना सैनिक-सन्निवेश स्थापित कर, निर्द्वन्द जल-विहार और मृगया का आनन्द-लाभ किया। दैव-योग से जहां रावण ने अपना सन्निवेश स्थापित किया था, वहीं दुर्मद हैहय अर्जुन चक्रवर्ती अपने अवरोध के साथ जल-विहार कर रहा था। उसके अवरोध मे सहस्रों स्त्रियां थीं जो देश-देशान्तरों से एकत्र की गई थीं। रावण को तुरन्त ही पता चल गया कि निकट ही चक्रवर्ती जल-विहार कर रहा है। उसने अपने

मन्त्रियों से सम्मति ली कि इस अवसर पर क्या करना उचित है। मन्त्रियों ने कहा—"यह चक्रवर्ती माहिष्मती-नरेश अर्जुन महा तेजस्वी है। इससे यह यहीं घेर कर बन्दी कर लिया जाय तो उत्तम है। या इससे द्वन्द्व युद्ध किया जाय, या इसे मार ही डाला जाय, यह इस समय अरक्षित है।" परन्तु रावण को यह मत न रुचा। उसने कहा—"यह तो मेरी प्रतिष्ठा के सर्वथा विरुद्ध बात होगी। फिर, हमें तो धर्म-विजय भी करनी है। यदि चक्रवर्ती हमारी रक्ष-संस्कृति स्वीकार कर लेता है, तो विग्रह का प्रयोजन क्या है ? हम उसके मित्र हैं।" मन्त्रियों से वहुत आलाप-प्रलाप हुआ। अन्त में रावण ने कहा—"मैं ऋषि-कुमार हूं, वेदर्षि हूं। रक्ष-सस्कृति का सस्थापक महिदेव और दिग्पति पौलस्त्य कुवेर का भाई हूं। यह अवसर अच्छा है, विग्रह के स्थान पर मैं चक्रवर्ती से संधि-वार्ता करना अधिक पसद करूगा। चक्रवर्ती सम्पूर्ण मध्यदेश का स्वामी है,उसके रक्ष धर्म स्वीकार करने पर सारा मध्यदेश,फिर आर्यावर्त भी राक्षस हो जायगा।

उसने ऋषि-कुमार का वेश धारण किया। कमर में रक्त कौशेय पर व्याघ्र-चर्म बांधा, वक्ष पर स्वर्ण-वर्म धारण किया और कन्धे पर अपना परशु धर, वह एकाकी ही वहां जा पहुंचा जहां चक्रवर्ती अपने अवरोध के साथ जल-विहार कर रहा था। नर्मदा-तीर पर पहुँच कर उसने चक्रवर्ती को सूचित किया कि मैं पौलस्त्य रावण, धनपति दिग्पति कुवेर का अनुज, रक्ष-सस्कृति का सस्थापक हू, चक्रवर्ती से मैत्री-लाभ किया चाहता हूं। चक्रवर्ती इस समय स्नानोत्तर यजन कर रहा था, उसने उसी समय रावण को सम्मुख बुलाकर उसका अभिनन्दन करते हुए कहा—

"स्वस्ति, पौलस्त्य, माहिष्मती में तेरा स्वागत है मित्र,मैं तेरा क्या प्रिय करूं ?"

"मेरी रक्ष-सस्कृति को स्वीकार कर।"

"किसलिए ?"

"जिससे आर्य-अनार्य का भेद नष्ट हो, नृवंश एक सांस्कृतिक सूत्र में बंध जाय, वेद ही हमारा सांस्कृतिक मध्य बिन्दु हो।"

"सो तो अच्छा है। पर आर्यावर्त से तो मेरा ही विग्रह है, आर्य तो हमे ही बहिष्कृत समझते हैं।"

"पर मैं तो पृथ्वी पर धर्म-जय करने को निकला हूँ।"

"यह तो कुछ युद्ध-घोषणा-सी है।"

"जो मेरी रक्ष-संस्कृति स्वीकार नहीं करता, उस पर मेरा यह परशु है।"

चक्रवर्ती ने हँस कर कहा—"तेरी बातों से तो तेरे परशु पर ही मेरा अधिक लोभ है। मैं तेरी तरह ऋषिकुमार नहीं हूं, क्षत्र हूं।"

"तब तो मैं चक्रवर्ती का याजक भी हूं।"

"तो परशु को दूर फेंक, मैं अर्घ, पाद्य, मधुपर्क निवेदन करूं।"

"यह मेरा वेद है, इसे अंगीकार कर।"

"मैं तो अथर्वण का अनुगत हूँ।"

"तब तो फिर परशु ही है, युद्ध देहि।"

"मैं तेरे आह्वान पर प्रसन्न हूँ। परन्तु अभी तू मेरा अतिथि होकर माहिष्मती में विश्राम कर। फिर मैं तेरी अभिलाप-पूर्ति करूंगा।"

रावण अपने शिविर मे लौट आया।

दोनों ओर सैन्य की तैयारियां होने लगीं। राक्षसों की सेना दुर्जय थी तथा रावण का तेज असह्य था, परन्तु चक्रवर्ती कार्तवीर्य भी अप्रतिहत था। उसकी सेना मे तुण्डिकेरा, शर्यात, हैहय और अवन्तिपति वीतिहव्य की चतुरंगिणी चमू थी। चक्रवर्ती का सेनापति रुरु एक विलक्षण और साहसी सेनानी था। नर्मदा-तट पर यह प्रागैतिहासिक युद्ध हुआ। इस युद्ध में व्यक्ति विशेष का

महत्व था। चक्रवर्ती बाज की भांति राक्षसों पर टूट पड़ा। राक्षस बड़े विकट योद्धा थे, परन्तु चक्रवर्ती का भीम विक्रम असह्य था। चक्रवर्ती स्वयं अपनी भीमकाय गदा लेकर, सचमुच जैसे सहस्र बाहुओं से ही उसे घुमाता हुआ काल-रूप हो, राक्षस-सैन्य में घुस गया। उसके उस भीम प्रहार से त्रस्त हो राक्षस इधर-उधर भागने लगे। यह देख प्रहस्त अपना लौह-मुग्दर ले, उसके सामने आया। मुहूर्त भर दोनों वीर उलझे रहे। अवसर पाकर प्रहस्त ने अपने मुग्दर का चक्रवर्ती के सिर पर प्रहार किया, पर चक्रवर्ती ने उछल कर उसके प्रहार को निष्फल करके अपनी गदा का करारा वार किया। गदा की चोट से घूम कर प्रहस्त मूर्छित हो भूमि पर गिर गया। यह देख शुक,सारण,महोदर और धूमाक्ष महासेनानियों ने चक्रवर्ती को चारों ओर से घेर कर उस पर सैकड़ों बाणों की वर्षा की। परन्तु चक्रवर्ती ने उनकी तनिक भी आन न मान अकेले ही बाणों की वर्षा कर इन राक्षस महासेनापतियों को बींध डाला। चक्रवर्ती के दुर्धर्ष तेज से घबरा कर सब राक्षस-सेनानायक भाग चले। यह देख रावण स्वय ललकार कर अपना परशु घुमाता हुआ आगे बढ़ा। इन दोनों वीरों का डेढ़ प्रहर विकट युद्ध हुआ जिसे देखने को दोनों ओर की सेनाएं हाथ रोक खड़ी हो गईं। दोनों एक दूसरे को पराजित करने की इच्छा से एक दूसरे पर चोट कर रहे थे। रावण के हाथ में विकराल परशु था, और चक्रवर्ती के हाथ में विकट गदा थी। चक्रवर्ती ने उछल-उछल कर रावण के वक्ष पर गदा की चोटें कीं। उधर रावण अपने परशु के करारे वार करता रहा। बहुधा दोनों वीरों के शस्त्र परस्पर टकरा जाते। उनमें वज्र-गर्जन होता। अग्नि-स्फुलिंग निकलते। इसी प्रकार युद्ध करते करते डेढ़ प्रहर काल बीत गया। दोनों वीर लोहू और पसीने से तर हो गए। अब अकस्मात् चक्रवर्ती ने अपनी गदा घुमा कर दूर से रावण के वक्ष पर फेंक मारी। रावण ने भी

परशु पर उसे झेल लिया। दोनों वीरों के अस्त्र टूट कर टुकड़े-टुकड़े हो गए। फिर भी रावण उस प्रहार से तिलमिला कर एक धनुप पीछे हट गया। वह दर्द से कराह उठा। पर तुरन्त ही उछल कर उसने चक्रवर्ती के वक्ष में मुष्ठि-प्रहार किया। उस वज्र-मुष्ठि का प्रहार खाकर चक्रवर्ती मुंह से खून वमन करने लगा। पर क्रोध से अधीर होकर उसने रावण की कमर पकड़ उसे अधर हवा मे उठा कर भूमि पर पछाड़ दिया। रावण मूर्छित हो गया। चक्रवर्ती ने उसे कांख में दाब अपना मुंह मोड़ा।

यह देख, राक्षस-दल में हाहाकार मच गया। सब राक्षस गुल्मपति, नायक, सेनापति, सुभट, अपने-अपने शस्त्र ले मारो-मारो कहते चक्रवर्ती के पीछे दौड़े। परन्तु इसी समय रुरु, शर्यात और अवन्तिराज की विकट चतुरंग चमू ने शक्ति, शूल, खड्ग, धनुप ले चारों ओर से राक्षसों को घेर कर मार करनी शुरू कर दी। राक्षस भाग खड़े हुए और चक्रवर्ती ने रावण को रस्सी से बांध अपने रथ पर डाल लिया, तथा विजय दुंदुभी बजाता हुआ माहिष्मती में घुसा, जहां पौर-वधुओं ने उस पर लाजा-वर्षा की तथा ऋषिजनों ने पुष्प बरसाए। चक्रवर्ती ने रावण को बांध कर कारागार मे डाल दिया।



६३

रावण की मुक्ति

दुर्जय परतप रावण को बांध कर बन्दी करने से चक्रवर्ती हैहय कार्तवीर्य अर्जुन का यश दिगन्त में फैल गया। आर्यावर्त और भरत-खण्ड भर में उसका आतंक छा गया। राक्षसों के सेनापति और मन्त्री प्रहस्त, शुक, सारण, महोदर, धूम्राक्ष आदि भारी बहुमूल्य उपानय साथ ले, चक्रवर्ती की सेवा में उपस्थित हुए। उपानय सम्मुख धर उन्होंने कहा—"हे तेजस्वी हैहय, आपकी जय हो। आपने महापराक्रमी रक्षराज रावण को जय करके अपना सुयश पृथ्वी पर विस्तारित कर दिया। आपका पराक्रम अतुलित है और आप पृथ्वी के सब वीरो में श्रेष्ठ हैं। जिस रावण के भय से समुद्र और वायु भी स्तम्भित हो जाते हैं, सूर्य भी तेजहीन हो जाता है, उसी दुर्जय रक्षपति रावण को आपने युद्ध में जय कर बन्दी बना लिया। किन्तु हे यशस्वी महाराज, अब आप उसे छोड दीजिए। आपका यह कार्य—बन्दी बनाने से भी अधिक यशस्कर्ता होगा। यह धन-रत्न-राशि उपानय की भांति तथा दण्डस्वरूप हम आपकी भेंट में उपस्थित कर रहे हैं।"

राक्षस-मन्त्रियों के यह वचन सुन, प्रसन्न हो चक्रवर्ती ने हँस-कर रावण को तुरन्त सभा-भवन में ले आने की आज्ञा दी। सभा में आने पर उसने उठ कर स्वयं उसे बन्धनमुक्त किया, उसे दिव्यालंकार धारण कराए और अर्घ्य-पाद्य-मधुपर्क देकर कहा—"हे राक्षस-राज, मैंने तो तेरा पहिले ही माहिष्मती में मित्र की भांति स्वागत करना चाहा था, परन्तु तूने संधि नहीं—विग्रह मांगा, मैत्री नहीं—युद्ध-याचना की। सो मुझे समरांगण में तेरा

शस्त्र से सत्कार करना पड़ा। पर इससे मैंने तेरा समर-कौशल और तेरी अजेय शक्ति देख ली। मैं तेरे शौर्य से संतुष्ट हूं। सो हे प्रतापी पौलस्त्य, तेरी यदि इच्छा हो तो हम-तुम दोनों आज से अग्नि की साक्षी में समान मित्र होने की शपथ ले लें।"

रावण ने दोनों हाथ फैला कर कहा—"चक्रवर्ती ने तो मुझे युद्ध-भिक्षा देकर प्रथम ही यथेष्ट गौरव प्रदान कर दिया था। अब मैत्री से सम्पन्न करके मुझे कृतकृत्य कर दिया। अग्न्याधान कर चक्रवर्ती—आज से हम जीवन में, मरण में, सुख में, दुःख में एक हैं।'

चक्रवर्ती हैहय ने तुरन्त अग्नि की साक्षी में मैत्री-स्थापना की और रावण को हृदय से लगा कर कहा—"हे पौलस्त्य, तू ऋषि-कुमार तथा वेदों का उद्गाता है। संस्कृति का संस्थापक है। राक्षसों का स्वामी और सप्त द्वीपों का अधिपति है। तूने मुझसे अपनी रक्ष-संस्कृति की बात कही थी। उस समय तू परशुहस्त था। इससे शस्त्र ने शास्त्र नहीं सुनने दिया। अब तू स्नेहसिक्त है, हमारा अभिन्न मित्र है, अपनी संस्कृति को बखान कर। उसे सुन कर मैं प्रसन्न होऊंगा।"

रावण ने कहा—"चक्रवर्ती राजन्, यह मेरी लोकैषणा है। इसमें लोक-हित निहित है। सुन, इस समय पृथ्वी पर देव, दैत्य, दानव, असुर, आर्य, व्रात्य, नाग, गन्धर्व, किन्नर, यक्ष, रक्ष आदि अनेक नृवंश विस्तार पा रहे हैं जो सब परस्पर दायाद-बान्धव हैं। किन्तु परस्पर विग्रह करते हैं। बारह दारुण देवासुर-संग्राम हो चुके। ये संग्राम आर्थिक कम और सांस्कृतिक अधिक थे। आचारों की भिन्नता ही नृवंश के इस विग्रह-भावना का मूल कारण है। पृथ्वी तो बहुत विस्तृत है, और नृवंश अभी अधिक विस्तार नहीं पा सका है। फिर भी युद्ध होते हैं। जो भूमि

स्वच्छन्द है वहा लोग नहीं बसते—दूसरों की अधिकृत भूमि छीनना चाहते हैं, इसका मूल कारण आचारों की भिन्नता ही है। नृवश के आचारों का मूल उद्गम वेद हैं। परन्तु आर्यों ने वशिष्ठ के नेतृत्व मे वैदिक विधि-परम्परा कुछ दूसरी ही स्थापित की है। उधर नारद की वाम-परम्परा देवों में और दैत्यों मे भी प्रचलित है। भृगु पृथक ही आथर्वणी परम्परा प्रचलित कर रहे हैं। फिर आर्यों को बड़ा गर्व है, वे तनिक विधि भंग होने पर ही आर्यजनों को वहिष्कृत कर देते हैं। देखो, ऐसे कितने वहिष्कृत आर्य व्रात्य दक्षिणारण्य में तथा आस-पास के द्वीप-समूहों मे बस गए हैं। अब यदि इन सबको सांस्कृतिक रीति से एक वेद के आधीन नहीं किया जाता है, तो नृवश अपने ही विग्रहों में विनष्ट हो जायगा। इसलिए महाराज कार्तवीर्य सहस्रबाहु, मैंने यह रक्ष-संस्कृति-स्थापना की है। वय रक्षाम.—हमारा मूल मन्त्र है। और समूचे नृवश को समान वैदिक संस्कृति में दीक्षित करना ही हमारा धर्म है। इसी से मैंने वेदों में समूचे नृवश के आचारों का समावेश किया है और मैंने अब घमण्डी आर्यों और देवों को जय करने की भावना से लका त्यागी है। मैं केवल यही चाहता हूँ कि वैदिक धर्म मे समूचे नृवश का समन्वय रहे।"

"साधु! साधु! अच्छा है पौलस्त्य रावण, तेरा उद्देश्य स्तुत्य है। जहां तक आर्यों के गर्व-भजन का प्रश्न है, मैं तेरे साथ हूं। अनुमति देता हूँ, तू मेरी प्रजा में अपने समन्वयमूलक धर्म, का प्रचार कर। परन्तु मैं तेरे धर्म में दीक्षित नहीं हो सकता हूं! हां, मेरी सहानुभूति तुझी से है। स्वस्ति, रक्षपति! स्वस्ति पौलस्त्य! जब कभी तू परशुरहित निरस्त्र माहिष्मती मे आएगा, तभी तेरा स्वागत होगा। अब तू जा, अपना अभीष्ट सिद्ध कर, और कह—मैं तेरा और क्या प्रिय करूं। तुझे छुट्टी है—मित्र, माहिष्मती में जो वस्तु तुझे प्रिय है—स्वेच्छा से ले जा।"

"बस मित्र, तेरी मित्रता से मैं संम्पन्न हुआ । तेरी जय हो चक्रवर्ती, पौलस्त्य रावण तेरे लिए जब माहिष्मतो मे आयगा—इसी परशु के साथ । और जब अपने लिए आयगा—निरस्त्र ।"

इतना कह कर रावण उठा । चक्रवर्ती ने उठ कर उसे हृदय से लगाया । और तब पौलस्त्य रावण माहिष्मती के राजपथ पर रत्न बखेरता हुआ तथा वहां की कुल-वधूटियों मे कौतूहल बढ़ाता हुआ अपनी सेना में लौट आया ।



स्वच्छन्द है वहां लोग नहीं बसते—दूसरों की अधिकृत भूमि छीनना चाहते हैं, इसका मूल कारण आचारों की भिन्नता ही है। नृवश के आचारों का मूल उद्गम वेद हैं। परन्तु आर्यों ने वशिष्ठ के नेतृत्व मे वैदिक विधि-परम्परा कुछ दूसरी ही स्थापित की है। उधर नारद की वाभ-परम्परा देवो मे और दैत्यों में भी प्रचलित है। भृगु पृथक ही आथर्वणी परम्परा प्रचलित कर रहे हैं। फिर आर्यों को बडा गर्व है, वे तनिक विधि भंग होने पर ही आर्यजनों को वहिष्कृत कर देते हैं। देखो, ऐसे कितने वहिष्कृत आर्य व्रात्य दक्षिणारण्य में तथा आस-पास के द्वीप-समूहों में वस गए हैं। अव यदि इन सवको सांस्कृतिक रीति से एक वेद के आधीन नहीं किया जाता है, तो नृवश अपने ही विग्रहों में विनष्ट हो जायगा। इसलिए महाराज कार्तवीर्य सहस्रबाहु, मैने यह रक्ष-सस्कृति-स्थापना की है। वयं रक्षाम — हमारा मूल मन्त्र है। और समूचे नृवश को समान वैदिक सस्कृति में दीक्षित करना ही हमारा धर्म है। इसी से मैंने वेदो में समूचे नृवश के आचारों का समावेश किया है और मैने अव घमण्डी आर्यों और देवों को जय करने की भावना से लंका त्यागी है। मैं केवल यही चाहता हूँ कि वैदिक धर्म में समूचे नृवश का समन्वय रहे।”

“साधु! साधु! अच्छा है पौलस्त्य रावण, तेरा उद्देश्य स्तुत्य है। जहां तक आर्यों के गर्व-भंजन का प्रश्न है, मैं तेरे साथ हूं। अनुमति देता हूँ, तू मेरी प्रजा में अपने समन्वयमूलक धर्म, का प्रचार कर। परन्तु मैं तेरे धर्म में दीक्षित नहीं हो सकता हूं! हां, मेरी सहानुभूति तुझी से है। स्वस्ति, रक्षपति! स्वस्ति पौलस्त्य! जब कभी तू परशुरहित निरस्त्र माहिष्मती में आएगा, तभी तेरा स्वागत होगा। अब तू जा, अपना अभीष्ट सिद्ध कर, और कह—मैं तेरा और क्या प्रिय करू। तुझे छुट्टी है—मित्र, माहिष्मती में जो वस्तु तुझे प्रिय है—स्वेच्छा से ले जा।”

"बस मित्र, तेरी मित्रता से मैं संपन्न हुआ। तेरी जय हो चक्रवर्ती, पौलस्त्य रावण तेरे लिए जब माहिष्मती में आयगा—इसी परशु के साथ। और जब अपने लिए आयगा—निरस्त्र।"

इतना कह कर रावण उठा। चक्रवर्ती ने उठ कर उसे हृदय से लगाया। और तब पौलस्त्य रावण माहिष्मती के राजपथ पर रत्न बखेरता हुआ तथा वहां की कुल-बधूटियों मे कौतूहल बढ़ाता हुआ अपनी सेना मे लौट आया।



६४

मधुपुरी में

रावण ने नर्मदा मे स्नान कर जम्बूनद लिंग की बालुका में स्थापना कर सुगन्धित पुष्पो से पूजन किया। और फिर वहां से प्रस्थान कर वन, पर्वत, नद, नदी पार करता हुआ मधुपुरी की सीमा में मुकाम किया। आजकल जो प्राचीन पुरी मथुरा के नाम से प्रसिद्ध है, इसी का नाम प्रारम्भ में मधुपुरी था। पाठक मधु असुर को न भूले होंगे। यह उन्हीं पुण्यजनो के वश का असुर था जिन्होंने शर्याती से आनर्तराज्य जय किया था और लका में पहुँच कर सुमाली के भाई माल्यवान् की पुत्री, रावण की ममेरी बहिन, कुम्भीनसी को चुरा लाया था। मधु ने यह पुरी अभी नई बसाई थी। पाठकों को यह भी स्मरण होगा कि महा प्रतापी सम्राट् ययाति ने चम्बल, वेतवा और केन वाला इलाका अपने पुत्र यदु को दिया था। यदु के दो पुत्र थे, क्रोष्ठु और सहस्रजित्। पहले से यादव-वश चला और दूसरे से हैहय-वंश। हर्यश्व यदुवश का उन्तालीसवां नृपति था, जिसने मधु असुर की पुत्री से विवाह किया। मधु के सपर्क से यदुवश भी असुरों में गिना जाने लगा तथा आर्यों में इसकी महत्ता कम हो गई। प्रथम शर्याती से आनर्त-राज्य मधु ने छीन लिया, फिर अपने दामाद हर्यश्व को दे स्वयं व्रज में आ मधुपुरी बसाई। परन्तु नई राजधानी बसाने, तथा आनर्त-राज्य हैहयों द्वारा आक्रान्त होने से इस इस समय मधु निर्वल हो रहा था। रावण के आने का समाचार सुन वह भयभीत होकर अपने दुर्ग में छिप गया, और दुर्ग के सब द्वार बन्द कर लिए। रावण ने मधुपुरी को घेर लिया और राक्षसों

ने चारों ओर से बाण-वर्षा करनी आरम्भ कर दी। दुर्ग पर से मधु ने भी प्रतिकार किया। पर उसका बल यथेष्ट न था। शीघ्र ही दुर्ग भंग हो गया। और रावण अकेला ही कन्धे पर परशु रख, 'मधु-मधु' गरजता हुआ मधु असुरपति के अन्तःपुर में घुस गया। अन्तःपुर की सब चेटी, दासी, किन्नरी भयभीत हो जड़ गईं। राक्षसों की सेना महल को घेर कर, शोर मचाने लगी। तब कुम्भीनसी ने बाहर आ, अर्घ्य-पाद्य-मधुपर्क से रावण का सत्कार किया, पूजन किया और वह रोती-रोती रावण के चरणों पर गिर कर गिड़गिड़ा कर कहने लगी—"हे वीरबाहु भाई, मेरी रक्षा कर, सूर्पनखा की भांति मुझे विधवा न कर। वैधव्य बड़ा भारी दुःख है। यदि तू मेरा कहना न सुनेगा तो तेरा भला न होगा।"

रावण ने उसे सान्त्वना देकर कुशल पूछा और कहा—"तू निर्भय होकर अपना अभिप्राय कह, तेरी सब इच्छाएं मैं पूर्ण करूंगा।"

कुम्भीनसी ने कहा—"रक्षेन्द्र, मेरा पति मधु मुझ से प्रेम करता है, मैं भी उससे प्रेम करती हूं। मैं इस राज्य की महिषी हूं, तथा मेरा पुत्र उसका उत्तराधिकारी है। यह सत्य है कि उसने बलात् मेरा हरण किया था, पर यह तो राक्षसों की भी मर्यादा तूने स्थापित की है। फिर यहां लाकर उसने वेद-विधि से अग्नि की साक्षी में विवाह किया है और मेरा सत्कार भी करता है। इसलिए तू मधु को मेरे लिए क्षमा कर दे। तेरा ऐश्वर्य बढ़े, तू प्रसन्न रह। तू मधु को अभय दान दे।"

अपनी बहिन कुम्भीनसी के ये दीन वचन सुन रावण द्रवित हो गया। उसने कन्धे का परशु धरती पर टेक कर कहा—"तू डर मत, मधु को मैं तेरे कहने से अभय देता हूं। अब उसे मेरे सम्मुख उपस्थित कर। मैं उसे साथ लेकर आर्यों और देवों से युद्ध

करने जाऊंगा।"

रावण के इस वचन से आश्वस्त हो कुम्भीनसी मधु को ले रावण के सम्मुख आई। मधु ने रावण को अभिवादन किया। रावण ने उसका आलिंगन कर कुशल पूछा। फिर मधु ने रावण की मधुपुरी में बड़ी ठाठ की पहुनाई की। पान, भोज, नृत्य, दीपोत्सव हुआ। गोष्ठी हुई, फिर रावण एक रात मधुपुरी में रह, मधु और उसकी चमू को ले आर्यावर्त में प्रविष्ट हुआ।

क्षिप्र गति से रावण की राक्षस सैन्य ने आर्यावर्त में प्रवेश किया और वह नैमिपारण्य में जा पहुँची। पाठक जानते हैं कि नैमिपारण्य में रावण का एक सैनिक-सन्निवेश स्थापित था, जिसकी रक्षार्थ ताटिका-राक्षसी तथा उसके दो पुत्र सुबाहु और मारीचि बहुत सी राक्षस-सैन्य के सहित यहां रहते थे। उसे आशा थी कि नैमिपारण्य में उसका ताटिका और उसके पुत्रों द्वारा अच्छा सत्कार होगा। परन्तु यहां आने पर जब उसने अपने सन्निवेश को उजड़ा हुआ और नष्ट-भ्रष्ट देखा तो वह आश्चर्य-चकित रह गया। उसने मन्त्रियों से कहा—"यह तो बड़ी अद्भुत बात है, भला मेरे सेनापति मारीचि, सुबाहु और सब राक्षस-सेना कहां गई? ताटिका तो बड़ी विकट स्त्री थी, किसने उसका पराभव किया?"

मन्त्रियों ने दूतों के द्वारा बड़ी खोज के बाद मारीचि को किसी गिरि-कन्दरा से खोज निकाला, जहां वह प्राण के लिए छिपा बैठा था। वह बहुत दुर्बल, वृद्धा-सा हो रहा था, तथा घावों से उसका शरीर भरा था। वह बहुत दुखी और निराश था। रावण ने उसे बहुत-बहुत तसल्ली दी, और उससे इस दुर्दशा का कारण पूछा। मारीचि ने कहा—"हे स्वामी, अपनी विपत्ति कैसे कहूं, बस संक्षेप में यही सुन लीजिए कि राक्षसों में केवल मैं ही अकेला जीवित बचा हूँ और सब तो काल-कवलित हुए।"

"किन्तु यह विपत्ति राक्षसों पर आई कैसे?"

"कोई एक राम, लक्ष्मण दो मानव-कुमार हैं। उन्हीं ने हम

सब राक्षसों को मार गिराया।"

"कौन हैं वे मानव-कुमार?"

"सुना है, कौशलराज्य के राजकुमार हैं।"

"यहां, नैमिषारण्य में क्या उनकी भूमि है?"

"नहीं, विश्वामित्र उन्हें अपनी सहायता के लिए ले आए थे।"

"वही ऋचीक के पुत्र?"

"पुत्र नहीं, साले; पर वेद उन्होंने ऋचीक ही से पढ़ा है।"

"मैंने सुना है। पर वे तो मानवों के मित्र नहीं। मानवों के मित्र तो मुनि वशिष्ठ हैं।"

"वशिष्ठ और विश्वामित्र बहुत लड़े हैं। जीवन में प्रतिस्पर्द्धी रहे हैं। पर इस बार वे वशिष्ठ की सहमति ही से इन मानव-कुमारों को ले आए थे।"

"किसके पुत्र हैं वे?"

"अयोध्यापति दशरथ के।"

"आह, शंबर के युद्ध में दशरथ के पराक्रम की बात मैंने सुनी थी, परन्तु वे बालक मानव क्या बहुत सेना अयोध्या से लाए थे?"

"नहीं, एकाकी ही थे। विश्वामित्र उनके साथ थे।"

"विश्वामित्र बड़े धनुर्धर हैं। वे ऋचीक के शिष्य हैं। ऋचीक की गरिमा मैं जानता हूं। परन्तु विश्वामित्र और इन बालकों ने क्या समूची राक्षस-सेना को विध्वंस कर दिया?"

"ऐसा ही लज्जाजनक काण्ड हो गया रक्षपति।"

"विश्वामित्र क्या यहीं कहीं रहते हैं?"

"निकट ही कामवन में उनका आश्रम है। हमने उन्हें टिकने नहीं दिया। निरन्तर हमने उनपर आक्रमण किए। उनकी यज्ञ-विधि भंग की। पलाद, मद्य और बलि-पशुओं की आहुति उनके

यज्ञ-कुण्डों में दी।"

"विश्वामित्र ने विरोध नहीं किया, शस्त्र ग्रहण नहीं किया?"

"नहीं, वे शस्त्र-ग्रहण नहीं करते। दक्षिण कौशल के पराभव के बाद जब से उन्होंने ऋषिपद ग्रहण किया, तभी से वे शस्त्र-ग्रहण नहीं करते हैं।"

"इसी से वे इन मानव-कुमारों को ले आए?"

"इसी से।"

"क्या नाम कहा, उनका?"

"राम, लक्ष्मण।"

"इतना शौर्य है उन बालकों में?"

"उन्होंने बात की बात में एक ही बाण से माता ताटिका को सौ धनुष दूर फेंक दिया और वह रक्त-वमन करके मर गई। इस पर जब मैंने और सुबाहु ने राक्षसो की सेना लेकर उन पर आक्रमण किया तो उन्होंने बड़े ही हस्त-लाघव से सारे राक्षसों को काट डाला। सुबाहु भी उसी युद्ध मे खेत रहा। मेरे ये अधम प्राण किसी भांति बच रहे। सो मैं असहाय पर्वत-कन्दराओ मे वन्य पशु की भांति छिप कर दिन काटता रहा। और आपके आगमन की राह ताकता रहा।"

"अद्भुत है, अकल्पित है, श्लाघनीय है। अभिनन्दन करता हूँ उन मानव-बालकों का। अब कहां हैं, वे किशोर?"

"मिथिला के सीरध्वज ने जनकपुर में अपनी पुत्री का स्वयंवर रचा है। विश्वामित्र के साथ दोनों कुमार वहीं गए हैं।"

"यह सीरध्वज क्या कोई बड़ा आर्य है?"

"मानवों ही के वंश मे है।"

"और उसकी वह पुत्री।"

"त्रैलोक्यसुन्दरी है, सीता उसका नाम है। सीरध्वज ने कृषि-यज्ञ के द्वारा उसे प्राप्त किया था।"

"तेरे वचनों से मेरी अभिलाषा उन दोनो मानव-बालकों तथा उस त्रैलोक्यसुन्दरी सीता को भी देखने को उदग्र हो उठी है।"

"आकर्षण का एक विषय भी है।"

"वह क्या ?"

"वहां एक पिनाक धनुष है। सीरध्वज का प्रण है कि जो कोई उसे चढ़ा कर बाणसंयुक्त कर सकेगा, उसी को वह त्रैलोक्य-सुन्दरी पुत्री देगा।"

"वहां क्या बहुत राजा आए हैं ?"

"आर्यावर्त और भरतखण्ड के प्रायः सभी राजा गए हैं, पिनाकपाणि के विशेषानुरोध से दैत्येन्द्र बाण महाकाल भी आया है, ऐसा सुना है।"

"बाण आया है ?"

"ऐसा ही सुना है।"

"ठीक है, अच्छा सुयोग है। मैं भी जाता हूं।"

"क्या सैन्य सहित ?"

"नहीं, एकाकी। एक बार उस पिनाक धनुष को देखूंगा। उन मानव-बालकों को भी, और उस त्रैलोक्यसुन्दरी को भी। परन्तु मैं छद्म वेश में जाऊंगा।"

"क्या यह चिन्त्य नहीं है ?"

"मेरे इस परशु के रहते ?"

"मेरा कहना है, सुरक्षा के लिए कुछ भट अवश्य साथ लेना चाहिए।"

"नहीं, किन्तु राह कितनी योजन है ?"

"ग्यारह योजन सुना है, परन्तु देखा नहीं है। यहां से तीन योजन पर शोणनद पार करके जाना पडता है।"

"राह में कुछ राज्य-सीमाएँ भी हैं ?"

"नहीं, कौशल-राज्यों से विदेह-राज्य मिले हुए हैं।"

"ठीक है, तो तू मारीचि मातुल, शीघ्र आरोग्यलाभ कर, और अपने बिखरे हुए बल को एकत्र कर, फिर राक्षस-सैन्य को साथ ले गन्धमादन पर पहुंच, जहां मेरा वीर पुत्र मेघनाद और मातामह सुमाली, तथा भाई कुम्भकर्ण कुबेर की अलका को आक्रान्त करने छद्मवेश में पहुंच चुके हैं। सब ज्ञातव्य बातों को जान, और देवाधिदेव रुद्र से परामर्श कर, अलका को आक्रान्त करने को तैयार रह। तब तक मैं आता हूं।"

उसने अपने मन्त्रियों और सेनापतियों को भी आवश्यक आदेश दिए और कुछ सेना वहां नैमिषारण्य में रख, शेष को आगे बढ़ने का आदेश दे, उसने जनकपुरी की ओर एकाकी ही, कन्धे पर परशु रख कर, प्रस्थान किया।

६६

धनुष-यज्ञ

मिथिला के राजा सीरध्वज जनक ने यह प्रण किया था कि जो पुरुष जनकपुर के पिनाक धनुष को चढ़ा कर बाणसंयुक्त कर देगा, उसे ही वह अपनी कन्या सीता दे देंगे। इस धनुष-यज्ञ का निमन्त्रण पृथ्वी के सब राजाओं को भेजा गया। और पृथ्वी-मण्डलस्थ राज-कुल के मुकुटधारी छत्रधारी राजा महाराज जनक की विश्व-मोहिनी सीता को जय करने जनकपुर में आ पहुँचे। इस समय इन सब छत्रधारियों की चतुरंगिणी सेनाओं की चहल-पहल से, हाथी, घोड़ों, रथों और अन्य वाहनों की भीड़-भाड़ से, जनकपुरी भर गई थी। देश-देशान्तरों से वेदवेत्ता ऋषिगण भी आए थे। उनके निवास-स्थान पर सैकड़ों बैलगाड़ियां और छकड़े खड़े थे। सभी अपने-अपने सुभीते के अनुसार अनुकूल स्थानों में डेरे डाल रहे थे। महामुनि विश्वामित्र भी राम-लक्ष्मण सहित धूम-धाम से आए थे। उनके साथ सैकड़ों वेदपाठी, बटुक, मुनि और अनेक ऋषि थे। मुनि विश्वामित्र के साथ सौ छकड़े आए थे। सीरध्वज महाराज ने सब ऋषियों, मुनियों और छत्रधारियों का समुचित सत्कार किया। सबको यथोचित निवास और आवश्यक सामग्री दी गई। नगर में नित-नई धूम-धाम होने लगी और अन्ततः वह दिन भी आया जब धनुष-यज्ञ रचा गया।

बहुत राजा लोग भारी-भारी सेना लिए बड़ी तड़क-भड़क और धूम-धाम से आए थे। सबके ठाठ एक से एक निराले थे, परन्तु सबसे निराला ठाठ रक्ष-पति रावण का था। यह महाप्राण

पुरुष अकेला ही पांव-प्यादा कन्धे पर परशु रखे सिंह की भांति और मन्थर-गति से वहां जा पहुँचा था। उसे न किसी को परिचय देने की आवश्यकता थी, न किसी को उसको पूछने की चिन्ता थी। बहुतों ने उसे देखा और किसी छत्रधारी राजा का सामंत समझा। किसी ने एकाध बात की भी, तो इसने उसे उत्तर ही नहीं दिया, एक हुंकृति कर आगे बढ़ गया।

यज्ञस्थली में पृथ्वी-मण्डल के राजा उपस्थित थे। उनके मुकुटमणि सूर्य के प्रकाश में जगमगा रहे थे। रावण ने कमर में रक्त कौशेय, वक्ष में व्याघ्र-चर्म, कण्ठ में उपवीत, भुजाओं में वलय, कमर में रत्न-कटिबन्ध और पैरों में लाल उपानत धारण किए। मुख पर लिपटी हुई चमकीली काली छोटी-सी डाढ़ी, खड़ी हुई मूँछें, उनपर उभरी नाक और पानीदार गहरी काली आँखें। सिंह के-सी उठान और वृषभ के-जैसी चाल, अभय दृष्टि। जो देखता, उसे देखता ही रह जाता। सब राजाओं से उसका ठाठ निराला था, देखकर मुनि-कुमार का भान होता था। पर विकराल परशु और ज्वलत दृष्टि क्या मुनि-कुमार की होती है? वह सब राजाओं के रत्न-मणि को घूरता हुआ, उनकी उपस्थिति से कुछ भी प्रभावित हुए बिना, धीर गति से यज्ञ-भूमि में आगे बढ़ कर वहां पहुँचा, जहां स्वर्ण के मणिजटित सिंहासन पर दैत्येन्द्र बाण महातेज बैठा था। दैत्येन्द्र का तेज सूर्य के समान था। उसका बड़ा डील-डौल था। रावण ने उसके सम्मुख पहुँच। [illegible]

"हं रावणोनाम।"

"आ., अयं लंकाभर्ता? एहि, एहि, स्वस्त्यायुष्मन्।"

"अनुगृहीतोऽस्मि।"

"रक्षेन्द्र, इहतिष्ठ। त्वदागमन जनकाय निवेदयामि, तावत्।"

बाण की सूचना पाते ही जनक सीरध्वज अपने पुरोहित गौतम-पुत्र शतानन्द के साथ आ उपस्थित हुआ। बाण ने रावण का सप्तद्वीप-पति कहकर परिचय दिया। सीरध्वज ने नम्रता और आदर से कहा—

"स्वागतमतिथये, एतदासनमास्यताम्।"

"वाढम्" कह-कर रावण ने आसन ग्रहण किया। जनक ने पुकार कर सेवकों से कहा—"पाद्यमानय। शुश्रूषम भवन्तम्।"

रावण ने संतुष्ट होकर कहा—"वाचानुवृत्तिः खल्वतिथि-सत्कारः। पूजितोऽस्मि। विश्वस्तोस्मि। अनेन वहुमानवचनेनानु-गृहीतोस्मि। आस्यताम्।"

इसी समय सब बाजे एकाएक जोर से बज उठे। जनक व्यस्त भाव से यज्ञ-भूमि में चले गए। किसी ने ऊंचे स्वर में पुकार कर कहा—

"एवमार्यमिश्रान् विज्ञापयामि। उत्सरतोत्सरतार्या। उत्सरतार्याः उत्सरत।"

और दूसरे ही क्षण कुमारिकाओं से घिरी हुई, मांगलिक उप-चारों सहित जनक-नन्दिनी सीता ने विजयमाल लिए यज्ञ-भूमि में पदार्पण किया। शुभ्र परिधान-धारिणी, लज्जावनता, जनकराज-नन्दिनी सीता पुष्पभारनमित वृन्त की-सी शोभा विस्तार कर रही थी। सारी सभा उस सुषमा को देख चित्रलिखित-सी रह गई। आगे चलनेवाली चेटियों ने हाथ की छड़ी ऊंची करके कहा—

"एत्वेतु भर्तृदारिका, इमायज्ञभूमि., प्रविशतु।"

रावण ने उत्सुकतापूर्वक दैत्येन्द्र बाण के कान के पास मुंह

लाकर मन्दस्मित स्वर मे कहा— "इयं सा राजदारिका ? अभिजनानु रूप रूपम् ।"

"नहि रूपमेव, गत्यपि खल्वस्यमधुरा ।"

"दिष्टया सफल मे अभिगमनम् ।"

"ममानुरूपमेवाभिहितम् ।"

इसी समय मन्त्रिगण सैकड़ों मनुष्यों द्वारा उस आठ पहियों वाले शकट को खिंचवा कर यज्ञ-भूमि में ले आए, जिसपर वह दिव्य पिनाकी धनुष रखा था। कंचुकी नें पुकार कर कहा—

"एवमार्यमिश्रान् विज्ञापयामि। यह दिव्य धनुष निमि के ज्येष्ठ पुत्र देवरात को देवताओ ने धरोहर के रूप में सौंपा था। इसी धनुष को रुद्र ने यक्ष-यज्ञ मे यज्ञध्वंस-काल मे प्रयुक्त किया था।

"इस प्रकार यह प्रसिद्ध धनुष मिथिला-राज-वंश के पास देवताओ की पवित्र धरोहर के रूप में है। राजर्षि जनक ने एक बार कृषि-यज्ञ करते हुए भौमी कन्या प्राप्त की थी। और उसका लालन-पालन पुत्री के समान किया था। उसका नाम सीता है। अब वह राजनन्दिनी विवाह योग्य वय सन्धि प्राप्त है। राजर्षि जनक का यह प्रण है कि जो कोई इस धनुष पर प्रत्यचा चढ़ा कर इस पर बाण-संधान करेगा, उसी को राजर्षि सीरध्वज अपनी पुत्री देंगे। अब हे नृपतिगण, आप अपने बल और सौभाग्य की परीक्षा करो।"

यह सुनकर छत्रधारी नृपति उठ-उठ कर धनुष को उठाने लगे। प्रथम उन्होंने एक-एक ने जोर लगाया—फिर सबने मिल कर चेष्टा की, परन्तु वे धनुष को हिला भी न सके। वे सब विफल-मनोरथ हो खीझ कर रह गए और जब उन्होंने देखा कि बिना प्रण पूरा किए जनक राजर्षि किसी को पुत्री नहीं ब्याहेंगे, तो वे सब क्रुद्ध हो, शस्त्र ले-लेकर युद्ध करने को सन्नद्ध हो गए।

सीरध्वज ने भी ऐसे समय के लिए चतुरंगिणी सेना तैयार रखी थी। उसने देखते ही देखते सब राजाओं को घेर लिया। दैत्येन्द्र बाण और रावण अभी यह तमाशा देख ही रहे थे कि रावण ने उत्तेजित-सा होकर दैत्येन्द्र से कहा—

"द्रष्टुकामो धनु श्रेष्ठम्।"

"परमभास्वरं धनुरेतद्।"

"तदस्य धनुषो आरोपण करिष्ये।"

"न खलु। सुरोपमं पूजित धनुर्वरमस्माभिः रुद्रानुयायिनः।"

"तत्किं करणीयमत्र?"

"तिष्ठ, पश्य कौतुकम्।"

रावण अपने आसन पर बैठ गया। इसी समय यज्ञ-भूमि में राम-लक्ष्मण सहित विश्वामित्र मुनि ने प्रवेश किया। जनक ने अपने पुरोहितों और आमात्यों सहित विधिवत् अर्घ्यपाद्य से ऋषि का पूजन करते हुए कहा—

"भगवन्स्वागत तेऽस्तु। किं ते करोमि। भवानाज्ञापयतु।"

विश्वामित्र ने कहा—

"इमौ लोकविश्रुतौदशरथस्यपुत्रौ, धनु श्रेष्ठ द्रष्टुकामौ।"

जनक ने कहा—"श्रूयतामस्यधनुष, यदर्थमिहतिष्ठति, भूतलादुत्थितामसात्मजा सीतेति विश्रुता वीर्य शुल्केति। एते सर्वे नृपतयः ममात्मजां वरयामासुरागताः। तेषां वीर्य जिज्ञासमानानां शैवं धनुरुपाहृतम्। ते न शेकुर्ग्रहणे तस्य धनुषस्तोलनेऽपिवा। ते अवीर्या नृपतयः प्रत्याख्याता। तदेतद् परमभास्वरं धनुर्दर्शय रामाय। यद्यस्य धनुषो रामः कुर्यादारोपणम्, सुतामयोनिजां वीर्य शुल्कां सीतां दद्यां दाशरथेरहम्।"

राजर्षि सीरध्वज जनक के ये अर्थगम्भीर वचन सुनकर विश्वामित्र ने राम से कहा—"धनुर्दर्शय रामाय।"

जनक के संकेत से वेत्रवती और कंचुकियों ने मार्ग-प्रदर्शन

किया। विश्वामित्र और राम को वे धनुष के निकट ले गए। भटों ने पुकार कर कहा—"यही वह धनुष है, जिसे निमिवंश की धरोहर देवों ने धरा है। मिथिला का निमि-राज-वंश इसकी पूजा करता रहा है। इस धनुष को असुर, गन्धर्व, देव, राक्षस, यक्ष, किन्नर और बड़े-बड़े उरग भी आक्रान्त नहीं कर सके।"

विश्वामित्र ने कहा—"वत्स राम, धनुः पश्य।"

राम ने धनुष को भली-भांति निरीक्षण करके कहा—

"इदं धनुर्वरं दिव्यं संस्पृशामीह पाणिना।
यत्नवांश्च भविष्यामि तोलने पूरणेऽपिवा।"

ऋषि और राजर्षि ने कहा—"बाढ़म्।"

इतना सुनते ही राम ने हजारों राजाओं के देखते-देखते धनुष को दृढ़ हाथों में पकड़ कर अधर उठा लिया। फिर ज्यों ही उसकी प्रत्यंचा को चढ़ाने लगे, वह वज्रपात की भांति घोर शब्द करके बीच से टूट गया।

सारी ही यज्ञ-भूमिस्थ-सभा यह चमत्कार देख जड़, चकित रह गई। जनक ने हाथ उठाकर कहा—

"दृष्टवीर्योभिरामोदशरथात्मजः। सीता सुता मे भर्तारं राममासाद्य जनकानां कुले कीर्तिमाहरिष्यति। सा वीर्यशुल्केति मे सत्या प्रतिज्ञा। सीता रामाय मे देया। शीघ्रं गच्छन्तु अयोध्यांत्वरिता रथैः मन्त्रिणो मम, आनयन्तु राजानं मम पुरम्। कथयन्तु सर्वशः वीर्य शुल्कायां प्रदानम्।"

सीता ने जयमाल राम के कण्ठ में डाल दी। वन्दीजन विरद बखानने लगे। रावण स्तम्भित हो यह चमत्कार देख रहा था। उसे सब कुछ चमत्कारपूर्ण लग रहा था। राम का किशोर वय, लावण्य, रूप और अति विक्रम देख वह स्तम्भित हो गया था। जब धनुष टूट गया तो वह आश्चर्य-चकित हुआ, और जब जनक ने घोषणा की कि उसने वीर्य शुल्का कन्या को राम को प्रदान कर

सीरध्वज ने भी ऐसे समय के लिए चतुरंगिणी सेना तैयार रखी थी। उसने देखते ही देखते सब राजाओं को घेर लिया। दैत्येन्द्र बाण और रावण अभी यह तमाशा देख ही रहे थे कि रावण ने उत्तेजित-सा होकर दैत्येन्द्र से कहा—

"द्रष्टुकामो धनुश्रेष्ठम्।"

"परमभास्वर धनुरेतद्।"

"तदस्य धनुषो आरोपण करिष्ये।"

"न खलु। सुरोपमं पूजित धनुर्वरमस्माभिः रुद्रानुयायिनः।"

"तत्कि करणीयमत्र?"

"तिष्ठ, पश्य कौतुकम्।"

रावण अपने आसन पर बैठ गया। इसी समय यज्ञ-भूमि में राम-लक्ष्मण सहित विश्वामित्र मुनि ने प्रवेश किया। जनक ने अपने पुरोहितों और आमात्यों सहित विधिवत् अर्घ्यपाद्य से ऋषि का पूजन करते हुए कहा—

"भगवन्स्वागत तेऽस्तु। किंते करोमि, भवानाज्ञापयतु।"

विश्वामित्र ने कहा—

"इमौ लोकविश्रुतौदशरथस्यपुत्रौ, धनु श्रेष्ठ द्रष्टुकामौ।"

जनक ने कहा—"श्रूयतामस्यधनुष, यदर्थमिहतिष्ठति, भूतला-त्थितामममात्मजा सीतेति विश्रुता वीर्य शुल्केति। एते सर्वे नृपतयः ममात्मजां वरयामासुरागता। तेषां वीर्यं जिज्ञासमानानां शैवं धनुरुपाहृतम्। ते न शेकुर्ग्रहणे तस्य धनुषस्तोलनेऽपिवा। ते अवीर्या नृपतयः प्रत्याख्याता। तदेतद् परमभास्वरं धनुर्दर्शय रामाय। यद्यस्य धनुषो रामः कुर्यादारोपणम्, सुतामयोनिजां वीर्य शुल्कां सीतां दद्यां दाशरथेरहम्।"

राजर्षि सीरध्वज जनक के ये अर्थगम्भीर वचन सुनकर विश्वामित्र ने राम से कहा—"धनुर्दर्शय रामाय।"

जनक के संकेत से वेत्रवती और कंचुकियों ने मार्ग-प्रदर्शन

किया। विश्वामित्र और राम को वे धनुष के निकट ले गए। भटों ने पुकार कर कहा—"यही वह धनुष है, जिसे निमिवंश की धरोहर देवों ने धरा है। मिथिला का निमि-राज-वंश इसकी पूजा करता रहा है। इस धनुष को असुर, गन्धर्व, देव, राक्षस, यक्ष, किन्नर और बड़े-बड़े उरग भी आक्रान्त नहीं कर सके।"

विश्वामित्र ने कहा—"वत्स राम, धनुः पश्य।"

राम ने धनुष को भली-भांति निरीक्षण करके कहा—

"इद धनुर्वरं दिव्यं संस्पृशामीह पाणिना।
यत्नवांश्च भविष्यामि तोलने पूरणेऽपिवा।"

ऋषि और राजर्षि ने कहा—"बाढ़म्।"

इतना सुनते ही राम ने हजारों राजाओं के देखते-देखते धनुष को दृढ़ हाथों में पकड़ कर अधर उठा लिया। फिर ज्यों ही उसकी प्रत्यंचा को चढ़ाने लगे, वह वज्रपात की भांति घोर शब्द करके बीच से टूट गया।

सारी ही यज्ञ-भूमिस्थ-सभा यह चमत्कार देख जड़, चकित रह गई। जनक ने हाथ उठाकर कहा—

"दृष्टवीर्योभिरामोदशरथात्मजः। सीता सुता मे भर्तारं राममासाद्य जनकानां कुले कीर्तिमाहरिष्यति। सा वीर्यशुल्केति मे सत्या प्रतिज्ञा। सीता रामाय मे देया। शीघ्रं गच्छन्तु अयोध्यांत्वरिता रथैः मन्त्रिणो मम, आनयन्तु राजानं मम पुरम्। कथयन्तु सर्वशः वीर्य शुल्कायां प्रदानम्।"

सीता ने जयमाल राम के कण्ठ में डाल दी। बन्दीजन विरद बखानने लगे। रावण स्तम्भित हो यह चमत्कार देख रहा था। उसे सब कुछ चमत्कारपूर्ण लग रहा था। राम का किशोर वय, लावण्य, रूप और अति विक्रम देख वह स्तम्भित हो गया था। जब धनुष टूट गया तो वह आश्चर्य-चकित हुआ, और जब जनक ने घोषणा की कि उसने वीर्य शुल्का कन्या को राम को प्रदान कर

दिया, तो वह कुछ विकल हुआ। कहीं एक अज्ञात टीस उसने अनुभव की। उसकी दृष्टि शारदीयशोभाधारिणी-सीता पर अटक गई। उसने मुग्धभाव से अपने ही मन में कहा—"अहा, इस शीलवती के अंग को तो इसके वस्त्रों ने भी नहीं देखा होगा; जैसे आत्मा को शरीर नहीं देख पाता।"

रावण को ध्यानमग्न देख बाण ने कहा—

"स्थितो मध्याह्न, दृढ़मस्मिपरिश्रान्त, विश्रामयिष्ये।"

परन्तु रावण ने अपने ही में डूबे हुए कहा—

"अथ परिसमाप्तोः चमत्कारः।"

"भवितव्यम्।"

"अलीकमलीक खल्वैतत्।"

बाण खिलखिला कर हँस पड़ा। हँसते-हँसते उसने कहा—"भवतु। गच्छामस्तावत्।"

वह स्वर्ण-सिंहासन से उठ खड़ा हुआ। रावण ने भी खड़े हो कर कहा—

"अहमपितत्र भवताम्यनुज्ञातो गन्तुमिच्छामि।"

"गच्छतु भवान् पुनर्दर्शनाय।"

"वन्दामि, दैत्येन्द्र।"

"जयतु रक्षेन्द्र।"

रावण ने अपना परशु कन्धे पर रक्खा। वह धीर-मन्द गति से वहां पहुचा, जहा खण्डित धनुष पड़ा था और राम को जो जयमाल सीता ने पहिनाई थी—उसके एकाध पुष्प, वहीं पृथ्वी पर सीता के चरणचिन्ह के समीप पड़े थे। उसने झुक कर उस-चरण-चिन्ह की मृत्तिका जरा-सी उँगलियों के पोर में छूकर हृदय से लगाई। पुष्प की उन पखुड़ियों को यत्न से उठाया, और

विना इधर-उधर देखे राजाओ, मण्डलीकों, धनुर्धरों, व्रात्यों, ब्रह्मचारियों और ऋषियों के बीच होता हुआ अपने मार्ग चला—हृदय मे राम की 'किसलय-कोमल मूर्ति और सीता की अमलच्छवि को रक्त की प्रत्येक बूंद मे भरकर'

६७

सार्वभौम रावण

मिथिला के धनुष-यज्ञ से लौट कर रावण ने शीघ्रतापूर्वक अपना सार्वभौम प्रस्थान किया। उसके शत-सहस्र राक्षस छद्म-वेश में हिम-शैल की उपत्यकाओं में कुम्भकर्ण और सुमाली के नेतृत्व में उसकी प्रतीक्षा कर रहे थे, जहा उसके धर्म-गुरु और शस्त्र-गुरु रुद्र महादेव की उन पर छत्र-छाया थी। उसने मारीचि को खूब आगा-पीछा समझा कर तैयारी करने का आदेश दिया था। नैमिषारण्य से मारीचि राक्षसों की सैन्य लिए गंधमादन की ओर प्रस्थान कर चुका था, अत. रावण ने अविलम्ब वहां से कूच बोल दिया, और उत्तर कौशलराज्य की सीमा में जा घुसा, जहां महा प्रतापी अनरण्य राज्य कर रहा था। अनरण्य ने रावण को भारी राक्षस-सैन्य लिए अपनी राज्य-सीमा में प्रविष्ट करता देखा तो वह दस सहस्र अश्व और बहुत से रथ, हाथियो से सज्जित सैन्य ले रणागण में उतरा। घनघोर युद्ध हुआ। राक्षसों ने प्रबल पराक्रम से अनरण्य की सेना को काट डाला। परन्तु महावीर अनरण्य गजराज पर खड़ा हो हाथ में धनुष ले, अपनी सेना को ललकारता हुआ रावण पर बाण-वर्षा करता रहा। अनरण्य के हस्त-लाघव और पराक्रम को देख एक बार रावण के सब मन्त्री—प्रहस्त आदि घबड़ा कर, भागने लगे।

तब रावण ललकारता हुआ रथ पर चढ़ कर उसके सम्मुख आया। यह देख अनरण्य ने भी रथ ग्रहण किया। और अब इन दोनो महा विक्रमशाली योद्धाओं ने विविध दिव्य शस्त्रास्त्रों से ऐसा विकट युद्ध किया कि दोनो ओर की सेनाए स्तम्भित हो गईं।

रावण ने वेग से प्रचण्ड आक्रमण करके अनरण्य के रथ के घोड़ों को मार डाला। इस पर अनरण्य ने रथ से कूद कर, बाणों की बौछार से रावण के सारथी को बींध दिया। रावण भी उछल कर रथ से उतर पड़ा, और उसने अनरण्य के मस्तक पर गदा का प्रचण्ड वार किया। उस प्रहार को न सह कर अनरण्य मुंह के बल भूमि पर गिर गया। यह देख रावण अट्टहास करके हँसने लगा। हँसते-हँसते उसने कहा—"राजन्, इतने ही बल पर तुम वैश्रवण रावण से युद्ध करने निकल आए? अच्छा अब भी यह है कि पराजय स्वीकार कर लो और मेरी रक्ष-संस्कृति को भी स्वीकार करो। जो कोई मेरी रक्ष-संस्कृति को स्वीकार करता है उसके लिए अभय, जो नहीं स्वीकार करता उसके मस्तक पर मेरा यह परशु है।" उसने अपना विकराल परशु हवा में घुमाया।

इस पर अनरण्य ने कहा—"अरे विश्रवा मुनि के पुत्र, तू क्या अपने ही मुंह से अपनी प्रशंसा करके बड़ा बनना चाहता है? अरे मूढ़, तू इक्ष्वाकु वंश का अपमान किया चाहता है? मैं वृद्ध हूं—और मेरे प्राणत्याग का यह समय समुचित है—तो भी क्या? अभी इक्ष्वाकु वंश निर्वंश नहीं हुआ है। आ, सावधान हो, और युद्ध कर, गाल न बजा।" इतना कह कर महाराज अनरण्य ने बाण-वर्षा कर राक्षसों को विकल कर दिया। प्रहस्त, प्रकम्प और अन्य राक्षसों ने चारों ओर से विरथ महाराज अनरण्य को घेर लिया। महातेजस्वी अनरण्य शरीर पर सहस्रों आघात खा वहीं खेत रहे।

महाराज अनरण्य के निधन होने पर रावण ने हिमवन्त की ओर बाग मोड़ी, जहां उसके भाई कुम्भकर्ण और नाना सुमाली तथा महावीर पुत्र मेघनाद तथा सहस्रों राक्षस उसकी बाट जोह रहे थे। रावण की वह वीरवाहिनी उनसे इस प्रकार जा मिली, जैसे नदियां समुद्र में मिलती हैं। राक्षसों के इस सैन्य का आग-

मन सुन कर यक्ष भयभीत होकर भागने लगे। कुवेर ने जव सुना तो उसने क्रुद्ध होकर रावण के सम्मुख युद्ध करने अपनी चतुरंग चमू को भेजा। यक्षो ने राक्षसों के धुर्रे उड़ा दिए। राक्षस और राक्षस-सेनापति इधर-उधर भागने लगे। यह देख रावण ने ललकार कर कहा—"अरे, राक्षस भटो, निर्भय युद्ध करो और देखो कि मैं अकेला ही युद्धस्थली में कैसा चमत्कार दिखाता हू।" इतना कह वह अपना परशु घुमाता हुआ यक्षों के समूह में घुस गया। यक्षों ने भी गदा, मुशल, खड्ग, शक्ति, तोमर आदि आयुध ले उसे चारों ओर से घेर लिया। परन्तु रावण ने उनका तनिक भी भय न कर अपने फरसे से उन्हें मारना आरम्भ कर दिया। उसके मन्त्रियों और सेनापतियों ने भी उसे चारो ओर से घेर कर चौमुखी मार शुरू कर दी। देखते ही देखते यक्षो के कट-कट कर ढेर होने लगे। घायलों की चीत्कार और योद्धाओ की ललकार से लोगों के कान के पर्दे फटने लगे।

यक्षों की यह दुर्दशा देख कुवेर वैश्रवण ने अपने सेनापति सयोध कटक यक्ष को बहुत-सी नई सेना देकर भेजा। इस नई सेना को देख, विकराल कुम्भकर्ण दोनों बाहु फैला कर दौड़ा। दूसरी ओर से मारीचि ने यक्षों को दवाया। दोनों दलों में जब इस प्रकार विकट सग्राम हो रहा था, तव अवसर पा रावण अपना परशु घुमाता हुआ अलका के सिंहद्वार पर जा पहुँचा। उसके साथ ही दैत्य सुमाली शक्ति हाथ में लिए चला। द्वार-रक्षकों के अध्यक्ष सूर्यभानु यक्ष ने रावण को रोकना चाहा। और जब रावण उसे धकेल आगे वढ़ा तो, सूर्यभानु ने खींचकर परिघ रावण के मस्तक पर दे मारा। जिससे रावण के मस्तक से रक्त की धार वह चली। इस से क्रुद्ध होकर रावण ने वही परिघ छीन इतने वेग से उसकी छाती में मारा कि वह वहीं गिर कर मर गया। द्वार-रक्षक सारी सेना अस्त्र-शस्त्र फेंक भाग खड़ी हुई। रावण परशु

घुमाता हुआ सुमाली सहित अलकापुरी में घुस गया।

कुबेर ने जब यह समाचार सुना तो उसने मणिभद्र यक्ष को रावण का वध करने भेजा। चार हजार यक्ष लेकर मणिभद्र ने रावण को चारों ओर से घेर लिया। उस पर गदा, मुसल, प्रास, शक्ति, तोमर तथा मुग्दर की वर्षा होने लगी। इसी समय प्रहस्त, अकम्पन और मारीचि बहुत-सी राक्षस-सेना ले वहां पहुँच गए। अब वीर वीर से गुथ गया। प्रहस्त और महोदर ने बहुत से यक्षों को मार गिराया। इसी समय धूम्राक्ष ने मणिभद्र की छाती में मुशल प्रहार किया; पर मणिभद्र ने उसकी तनिक भी चिन्ता न कर इतने वेग से गदा धूम्राक्ष को मारी; कि वह चक्कर खाकर भूमि पर गिर गया। यह देख रावण मणिभद्र की ओर दौड़ा। मणिभद्र ने तीन शक्ति रावण पर फेंकी, पर रावण ने इसी समय परशु से मणिभद्र के सिर पर प्रहार किया। इससे मणिभद्र मूर्छित हो गया। उसे रथ पर डाल यक्ष कैलाश की ओर ले भागे।

मणिभद्र के पराभव का समाचार सुनते ही यक्षों की सेना में हाहाकार मच गया। अलकापुरी के सब आबालवृद्ध आर्तनाद करने लगे। यह देख शुक्र, प्रोष्ठपद और पद्मशाख नामक तीन महाविक्रम महारथियों के साथ स्वयं कुबेर धनेश ने पुष्पक विमान में बैठकर यक्षों की सेनासहित युद्धभूमि में प्रवेश किया। कुबेर धनेश को सम्मुख आते देख रावण परशु उठा आगे बढ़ा। उसे देख कुबेर ने कहा—"अरे दुर्बुद्धि रावण, तू मेरा निवारण भी नहीं मानता। अरे माता-पिता और गुरुजन का जो अपमान करता है; वह तो महा अधर्मी है। परन्तु अब इन बातों से क्या? अब तू अपने कर्मों का फल भोग।" इतना कह उसने रावण पर गदा से वार किया। कुबेर के प्रताप और तेज से व्याकुल होकर रावण के सभी मन्त्री भयभीत होकर भाग गए। पर रावण अचल खड़ा रहा। जब कुबेर ने दुबारा गदा का प्रहार करना चाहा तो रावण

ने भी प्रहार किया। अब दोनों भाइयों में भयकर युद्ध होने लगा। लड़ते-लडते कुवेर ने रावण पर आग्नेयास्त्र छोड़ा। इसका निवारण रावण ने वारुणास्त्र से किया। फिर रावण ने अनेक कौशल किए, अन्त में रावण का, मस्तक पर गहरा आघात खाकर कुवेर मूर्छित होकर भूमि पर गिर गया। यह देख उसके सेवक उसे उठाकर रथ मे बैठा कर ले भागे। रावण यह देख प्रसन्न हुआ। उसने कुवेर के पुष्पक विमान पर अधिकार कर लिया, जिसमें सोने के खम्भे, वैदूर्य मणि के द्वार और मोतियो की झालरें टकी थीं। इस पुष्पक का वेग मन के समान था। इसकी सीढिया सोने की थीं और इसमें ठौर-ठौर रत्न जड़े थे। यह विमान त्वष्टा विश्वकर्मा ने कुवेर के लिए बनाया था। रावण ने विमान को प्राप्त कर तीनों लोकों को जय किया समझा; और वह तेजी से हिमालय को लांघ कर देवाधिदेव रुद्र के निकेतन कैलाश-शिखर पर जा चढ़ा।

कैलाशी ने प्रसन्नवदन हो रावण की अभ्यर्थना की। रावण ने कैलाशी रुद्र के चरणों में मस्तक डाल उन्हें प्रणिपात किया और बद्धांजलि हो अनुग्रह-याचना की। रुद्र ने कहा—"भद्र वैश्रवण; तेरे पुत्र मेघनाद को हमने अपने सब दिव्यास्त्र दे दिए हैं। अब वह देव-दैत्य, सभी से अजेय है। अब कह; तेरा और क्या प्रिय करूं ?"

रावण कृतकृत्य हो गया। इसी समय मेघनाद ने पिता के चरण लिए। रावण ने पुत्र को छाती से लगा, स्नेह से सिर सूंघा-फिर वह पुत्र को साथ ले, रुद्र की अनुमति ले तीव्रगति से कैलाश से नीचे उतरा।

परन्तु कैलाश ही के मार्ग में उसकी भेंट नारद-वासदेव से हो गई। नारद को देख रावण ने उन्हें प्रणिपात किया और अपना मन्तव्य सुनाकर कहा—"देवर्षि, कहो कैसे मेरा मनोरथ पूरा

होगा ।"

नारद ने कहा—"सुन विश्रवा मुनि के पुत्र, तेरे पराक्रम, साहस और भावना से मैं प्रसन्न हूं । पर तू यहां आर्यावर्त में क्या कर रहा है ? तू देव, दानव, दैत्य, यक्ष,गन्धर्व सभी को तो-पराजय करने की सामर्थ्य रखता है, तू अपवर्त जा । वहां यम, वारुणेय, इन्द्र देवराट् हैं, उन्हें जय कर । फिर नागों को पाताल में विजय कर । तब तेरा मनोरथ फलेगा ।"

रावण ने हॅस कर कहा—"देवर्षि, मैं ऐसा ही करूंगा ।"

नारद ने कहा—"तो तेरा यह शौर्य देखूंगा मैं भी ।"

इतना कह नारद अपनी राह लगे और रावण ने भी अपवर्त की राह पकड़ी । वह अब मित्रावसु गन्धर्व की पुरी में पहुँचा, जहां उसका भव्य स्वागत हुआ । चिरविरहिणी चित्रांगदा से मिल कर, हृदय-ग्रन्थि खोली, मान-मनोवल हुआ । चित्रांगदा के मनोरथ पूर्ण कर तथा शीघ्र लौटने का वचन दे, अपने श्वसुर मित्रावसु से गन्धर्वों की सेना सहायतार्थ ले, रावण अपवर्त की ओर अग्रसर हुआ । अनरण्य का युद्ध में निधन तथा वालि, वानरेन्द्र और माहिष्मती के सहस्रार्जुन की कथा रावण ने श्वसुर को कह सुनाई थी । इस पर मित्रावसु ने उसे अनेक सत्परामर्श दिए । चतुरग चमू के साथ वहुत: स्वर्ण, मणि और दिव्यास्त्र भी दिए ।

अव रावण का यह राक्षस-सैन्य अपरिसीम था । रौद्र शक्ति से सम्पन्न और गन्धर्वों से संयुक्त तथा अजेय मेघनाद, कुम्भकर्ण, और सुमाली से सुरक्षित उसकी सेना एक ओर थी, और दूसरी ओर उसका अपना विकराल परशु था ।

चलते-चलते राक्षसों की यह चतुरंग चमू 'आर्य वीर्यान्' क्षेत्र में आ पहुँची, जहां इन्द्रसखा मरुत संवर्त ब्रह्मर्षि के नेतृत्व में यज्ञ कर रहे थे । मरुतों के इस यज्ञ में देवेन्द्र सहित सभी देवता

उपस्थित थे। दुर्जय रावण परशु कन्धे पर रख निर्भय एकाकी ही यज्ञ-भूमि में जा धमका और कहा—"मैं सप्तद्वीपों का अधीश्वर पौलस्त्य रावण हूँ। नृवंश में एक वैदिक रक्ष-संस्कृति की स्थापना करने के लिए मैंने सार्वभौम अभियान किया है। अब जो कोई मेरी रक्ष-संस्कृति को स्वीकार करता है, उसे अभय, जो नहीं स्वीकार करता है उसके मस्तक पर मेरा यह परशु है।" रावण के ऐसे गर्वभरे अकल्पित, अतर्कित वचन सुन कर सभी मरुद्गण और देवगण स्तम्भित रह गए। रावण की दुर्धर्ष चतुरंग चमू की सूचना उन्हें मिल गई थी। इससे उन्हें भीति भी हुई। इसके अतिरिक्त यह यज्ञ का काल था।

रावण के वचन सुनकर मरुतों के प्रमुख ने कहा—

"अरे पौलस्त्य, तू विज्ञ दीखता है, पर अभिमानी पुरुष की भांति बातें करता है। क्या विश्व में तू ही एक वीर पुरुष है?"

"इसका निर्णय तो यह परशु करता है, अभी मैंने अपने बड़े भाई कुबेर धनपति का इसी से पराभव किया है तथा इक्ष्वाकु अनरण्य का इसी परशु से शिरच्छेद किया है, जिसका रक्त भी अभी सूखा नहीं है।"

मरुतों के प्रमुख ने कहा—"शांत पाप। बड़े भाई का पराभव और वृद्ध मानव अनरण्य का वध! अरे वैश्रवण, तू तो अधर्म करता आ रहा है, क्या संसार में अधर्म करके भी कोई यशभागी बना है? परन्तु इस प्रलाप से क्या? तू यदि हम मरुद्गण से युद्ध ही चाहता है तो खड़ा रह, मैं तुझे यहां से जीवित नहीं जाने दूंगा।"

यह कह कर मरुतों का स्वामी खड्गहस्त हो, यज्ञोपवीत पहिने हुए ही यज्ञासन से उठ खड़ा हुआ। अन्य मरुद्गणों ने भी खड्ग खींच लिए। देवों ने भी धनुषों पर बाण-संधान किए। रावण हुंकार कर परशु हवा में घुमाने लगा, परन्तु इसी समय महर्षि

सम्वर्त ने उसके निकट आकर स्नेह से रावण के सिर पर हाथ रखा, और कहा—"आयुष्मान् रावण, मैं तेरे पिता विश्रवा मुनि का गुरुभाई और सखा हूं। तुझे देख कर सम्प्रहर्षित हूं, मरुद्गण इस समय माहेश्वर-यज्ञ में दीक्षित हैं, तू भी तो माहेश्वर है, सो पुत्र, इस समय धर्म-क्षण मे यह विग्रह ठीक नहीं। इसमे देव-अवज्ञा होगी।" फिर उसने मरुतों के प्रमुख से कहा—"यज्ञ की दीक्षा मे प्रविष्ट पुरुष को युद्ध और क्रोध से दूर ही रहना उचित है, इसलिए रावण के पराक्रम और यज्ञ के भार को समझ कर आप भी शस्त्र त्याग दें, तथा सब मरुत और देव शान्त हो जायं।"

इसी समय रावण के मन्त्री शुकने उच्च स्वर से पुकार कर कहा—"मैं राक्षसो का मन्त्री शुक पुकार कर घोपित करता हूं—यहां बैठे सब मरुद्गण और देवगण सुनें कि, वैश्रवण पौलस्त्य रावण सप्त द्वीपो का अधिपति लंकेश, यहां उपस्थित है। और मैं उसकी विजय-घोपणा करता हूं। जिसे विरोध हो, वह शस्त्र ले।"

परन्तु ऋपिवर संवर्त के संकेत से सब मरुद्गण और देवेन्द्र सहित देवगण चुपचाप बैठे रहे। रावण उसी प्रकार यज्ञ-स्थल से चला गया।

शीघ्र ही वह अपवर्त मे जा पहुंचा। यमराज महिपों की सैन्य ले तोमर, शूल, प्रास, परिघ, मुग्दर और शक्ति ले युद्धस्थल में आ पहुँचे। वह यद्यपि बहुत वृद्ध हो गए थे, पर अभी उनमें बड़ा बल था। यम-राज ने राक्षस-मन्त्रियों तथा राक्षसो को छोड़ सीधा रावण ही पर आक्रमण किया। यम के दिव्यास्त्रों से रावण व्याकुल हो गया, तब उसने महा अमोघ पाशुपतास्त्र धनुष पर चढ़ाया। पाशुपतास्त्र सहस्र उल्कापात की भांति—ज्वलंत सत्व की भांति सब यमदूतों को भस्म कर यम को पराभूत कर गया।

परन्तु शीघ्र ही चैतन्य हो क्रोध से लाल-लाल आँखें किए यम

उपस्थित थे। दुर्जय रावण परशु कन्धे पर रख निर्भय एकाकी ही यज्ञ-भूमि में जा धमका और कहा—"मैं सप्तद्वीपों का अधीश्वर पौलस्त्य रावण हूँ। नृवंश में एक वैदिक रक्ष-संस्कृति की स्थापना करने के लिए मैंने सार्वभौम अभियान किया है। अब जो कोई मेरी रक्ष-संस्कृति को स्वीकार करता है, उसे अभय, जो नहीं स्वीकार करता है उसके मस्तक पर मेरा यह परशु है।" रावण के ऐसे गर्वभरे अकल्पित, अतर्कित वचन सुन कर सभी मरुद्‌गण और देवगण स्तम्भित रह गए। रावण की दुर्धर्ष चतुरंग चमू की सूचना उन्हें मिल गई थी। इससे उन्हें भीति भी हुई। इसके अतिरिक्त यह यज्ञ का काल था।

रावण के वचन सुनकर मरुतों के प्रमुख ने कहा—

"अरे पौलस्त्य; तू विज्ञ दीखता है, पर अभिमानी पुरुष की भांति बातें करता है। क्या विश्व में तू ही एक वीर पुरुष है?"

"इसका निर्णय तो यह परशु करता है, अभी मैंने अपने बड़े भाई कुबेर धनपति का इसी से पराभव किया है, तथा इक्ष्वाकु अनरण्य का इसी परशु से शिरच्छेद किया है, जिसका रक्त भी अभी सूखा नहीं है।"

मरुतों के प्रमुख ने कहा—"शांतं पापं। बड़े भाई का पराभव और वृद्ध मानव अनरण्य का वध! अरे वैश्रवण; तू तो अधर्म करता आ रहा है, क्या संसार में अधर्म करके भी कोई यशभागी बना है? परन्तु इस प्रलाप से क्या? तू यदि हम मरुद्‌गण से युद्ध ही चाहता है तो खड़ा रह, मैं तुझे यहां से जीवित नहीं जाने दूंगा।"

यह कह कर मरुतों का स्वामी खड्गहस्त हो यज्ञोपवीत पहिने हुए ही यज्ञासन से उठ खड़ा हुआ। अन्य मरुद्‌गणों ने भी खड्ग खींच लिए। देवों ने भी धनुषों पर बाण-संधान किए। रावण हुंकार कर परशु हवा में घुमाने लगा; परन्तु इसी समय महर्षि

समूचे वरुणालय को भस्म कर ढेर कर दूंगा।" इस पर इन्द्रद्युम्न वारुणेय ने आगे बढ़ कर खड्ग हवा में हिलाते हुए कहा—"हेमा मेरी प्रेयसी है, उसपर जिसकी दृष्टि है, उसका मैं इसी क्षण वध करूंगा।" मय दानव अब अपनी विकराल शक्ति ले आगे आया। उसने कहा—"अरे पराई स्त्री को चुरानेवाले चोर, ठहर—आज तू मेरे हाथ से बच नहीं सकता।" इसके बाद दोनों वीर गुथ गए विविध शस्त्रास्त्रों का प्रयोग हुआ। और इन्द्रद्युम्न छाती में शक्ति खा रक्त वमन करता हुआ मर गया।

वारुणेयों ने अछता पछता कर हेमा रावण को सौंप दी। उर-नगर भी उसके हवाले किया। इस प्रकार वारुणेयों से युद्ध में कृत-कृत्य हो, अपनी प्रिया मन्दोदरी की अभिलाषा पूर्ण कर, अपनी सास हेमा अप्सरा को साथ ले रावण ने दलबल सहित, उरनगर में डेरा डाला और सब राक्षस-सैन्य को विश्राम करने की आज्ञा दी।

●

ने अपने सारथी से कहा—"सूत, मेरा रथ इस वैश्रवण के पास ले चल।" सूत ने काल-दण्ड हाथ में ले,रथ आगे बढ़ा दिया। यम ने भयानक वेग से महास्त्रों का प्रयोग किया, जिससे दशों दिशाएं जलने लगीं। राक्षसों की सेना हाहाकार करती भाग खड़ी हुई। पर रावण ने घोर गर्जना करके यमराज को बाणों से छा दिया। यमराज ने भी गदा के प्रहार से रावण के वक्ष को आहत कर दिया। फिर अमोघ शक्ति का उस पर प्रहार किया। इससे रावण मूर्छित होकर भूमि पर आ गिरा। थोड़ी ही देर में फिर चैतन्य होकर उसने बाणों की वर्षा कर यम के सारथी मृत्यु को व्याकुल कर दिया। यमराज ने कहा—"अरे, यह विश्रवा मुनि का पुत्र तो, हिरण्यकशिपु, नमुचि, शम्बर, धूमकेतु, बलि, वैरोचन, वृत्र, राजर्षि, देवर्षि, गन्धर्व, उरग सभी से प्रबल ज्वलन्त सत्व-प्रतीत होता है।" यह कह कर यमराज ने युद्ध-क्षेत्र त्याग दिया। यमराज को पराङ्मुख देख रावण विजय का डंका बजाता हुआ अपवर्त से वरुण लोक की ओर चल खड़ा हुआ।

शीघ्र ही उसकी चतुरंग चमू वरुणलोक में जा पहुँची तथा वारुणेयों से उसका घमासान युद्ध ठन गया। नाना विधि दिव्यास्त्रों से वारुणेयों ने राक्षसों से युद्ध किया। वारुणियों ने बाणों से रावण के शरीर को छेद डाला। इस पर क्रुद्ध हो महोदर ने रथ पर बैठ मुसल, भाल, पट्टिश, शक्ति और शतघ्नी लेकर वारुणेयों को खदेड़ दिया। उसके प्रहार से वारुणेय चारों ओर से घिर गए। यह देख रावण ने परशु हवा में घुमा कर प्रलय-मेघ के समान गर्जना की। इस पर सब वारुणेयों ने मिलकर अपने मन्त्री प्रहास के द्वारा रावण से सन्धि-प्रस्ताव किया। रावण ने कहा—"हे वारुणेयो, तुमने मय दानव की पत्नी हेमा नामकी अप्सरा को हरण किया है, उसे वापस करो तथा उरनगर मय दानव को दो, तो मैं तुम्हें क्षमा करूंगा। नहीं तो मैं

समूचे वरुणालय को भस्म कर ढेर कर दूंगा।" इस पर इन्द्रद्युम्न वारुणेय ने आगे बढ़ कर खड्ग हवा में हिलाते हुए कहा—"हेमा मेरी प्रेयसी है, उसपर जिसकी दृष्टि है, उसका मैं इसी क्षण वध करूंगा।" मय दानव अब अपनी विकराल शक्ति ले आगे आया। उसने कहा—"अरे पराई स्त्री को चुरानेवाले चोर, ठहर—आज तू मेरे हाथ से बच नहीं सकता।" इसके बाद दोनों वीर गुथ गए विविध शस्त्रास्त्रों का प्रयोग हुआ। और इन्द्रद्युम्न छाती में शक्ति खा रक्त वमन करता हुआ मर गया।

वारुणेयों ने अछता पछता कर हेमा रावण को सौंप दी। उर-नगर भी उसके हवाले किया। इस प्रकार वारुणेयों से युद्ध में कृत-कृत्य हो, अपनी प्रिया मन्दोदरी की अभिलाषा पूर्ण कर, अपनी सास हेमा अप्सरा को साथ ले रावण ने दलबल सहित, उरनगर में डेरा डाला और सब राक्षस-सैन्य को विश्राम करने की आज्ञा दी।



६८

उरपुर

इन दिनों उरपुर देवलोक में अत्यन्त सम्पन्न नगर था। वह अनेक देव,अप्सराएँ और उरग-जन रहते थे। इसकी सुषमा अमरावती से कम न थी। यह नगर काकेशस उपत्यकाओ में आज भी बसा हुआ है। यहां की अप्सराएँ देवलोक में सबसे अधिक सुन्दरी हुआ करती थीं और वे उर्वशी कहाती थीं। काकेशस या कोहेकाफ का यह अंचल अत्यन्त नैरोग्य है। पार्शियन कथाकारों ने इन अप्सराओ को कोहेकाफ की परी कह कर परिचय दिया है। यहां पारिजात नाम का एक अम्लान, श्वेत स्थलकमल होता था, जो देवलोक भर में प्रसिद्ध था। इसकी गन्ध-माधुरी एक योजन वातावरण को सुरभित करती थी और देवराट् इन्द्र प्रतिदिन इसी पारिजात का अम्लान माल्य धारण करते थे। आज भी ससार भर में प्रान्त का यह स्थल-गुलब प्रसिद्ध है।

वारुणेयों से हेमा अप्सरा के साथ रावण ने बहुत से रत्न, मणि, सुवर्ण भी क्षति-पूर्ति की भांति लिया था तथा हेमा को उसने वन्दिनी के रूप मेंपृथक् एक स्थान में रखा था। हेमा इसी उरपुर की निवासिनी थी। वह असाधारण सुन्दरी और मोहक थी। उसके कटीले नयनों के कटाक्ष और उन्नत उरोजों का आकर्षण विलक्षण था। इस वृहद् अभियान में रावण के साथ उसका श्वसुर मय दानव और उसके दोनों पुत्र मायावी और दुन्दुभी भी थे। भलीभांति सैनिक-सन्निवेश स्थापित कर चुकने के बाद रावण ने अपने श्वसुर मय दानव को बुलाया तथा अपने सम्पूर्ण मन्त्रियों के समक्ष उससे कहा—"हे महाभाग, सुम्बाद्वीप

में मैंने आपसे आपकी कन्या ग्रहण करने के समय शुल्क-रूप जो वचन दिए थे, उन्हें मैंने अब पूरा कर दिया। वारुणेयों से दारुण युद्ध करके आपने अपने शत्रु का हनन किया; तथा आपकी स्त्री हेमा अप्सरा को मैंने उद्धार कर दिया। अब वह बन्दिनी यहां उपस्थित है। स्वेच्छा से अकारण अपने पुरुष को त्याग कर जो स्त्री चली जाय और दूसरे से रमण करे, वह दण्डनीय है। ऐसी स्त्री को शौर्य से फिर हस्तगत करना धर्म है; तथा उस कुल-त्यागिनी पुंश्चली को वध करना भी कुलीन मर्यादा है। परन्तु शौर्य से मैंने उसका उद्धार कर दिया, अब कुल-मर्यादा के अनुसार कार्य करना आपका धर्म है। यह खड्ग है, लीजिए और उस कुलत्यागिनी कुलटा स्त्री का शिरच्छेद कर अपने प्रतिष्ठित कुल की प्रतिष्ठा सुरक्षित कीजिए, जिससे लोक में उदाहरण रहे।" इतना कह कर रावण ने खड्ग अपने श्वसुर मय दानव के हाथ में दे दिया।

मय ने कहा—"हे सौम्य, तूने अच्छी धर्म-मर्यादा कही। मैं भी यही ठीक समझता हूँ और अभी उस कुलटा कुलत्यागिनी का हृदय इस खड्ग से निकाल कर भक्षण करता हूँ। अब उसके कलंकित जीवन से मुझे क्या?" इतना कह कर मय दानव खड्ग-हस्त उस कारागार में गया, जहां उसकी पत्नी हेमा अप्सरा बन्दिनी थी, जिसके वियोग से वह अपना राज्य, नगर त्याग चौदह वर्ष वन-वन और देश-देश की खाक छानता फिरा था।

परन्तु जब वह नग्न खड्ग हाथ में लिए उसके सम्मुख पहुँचा; तो उसने देखा, वह अविचल भाव से स्थिर खड़ी है। मय ने देखा, उसका सौन्दर्य और आकर्षण इन चौदह वर्षों में तनिक भी म्लान नहीं हुआ है। वैसा ही उसका उठा हुआ यौवन है, वैसा ही तपाए हुए सोने का-सा स्वर्णगात है, वैसी ही नीलमणि-सी उसकी पानीदार आँखें हैं, वैसा ही मोहक भ्रू भंग है; वैसी ही रस-

णीय, कमनीय उसकी देह-यष्टि है।

अपने पति को चौदह वर्ष बाद इस प्रकार खड्गहस्त सम्मुख खड़े देखकर वह तनिक भी विचलित नहीं हुई, न उसने अपने बचाव की ही कुछ चेष्टा की।

जरठ मय की मुट्ठी से खड्ग स्रस्त होने लगा। वह उस मनोहर रमणीय वक्ष में खड्ग नहीं घुसेड़ सका। उस कोमल शोभावती रमणी पर निर्दय वार नहीं कर सका। किस प्रकार उसने उसके नव विकसित यौवन के साथ कभी रमण किया था, संसार को भूल कर। आरोपित कर दिया था उसी में अपने को। उसके लिए नगर बसाया था, हेम-हर्म्य बनाया था, उसे प्यार किया था, उससे उसने एक पुत्री और दो पुत्र उत्पन्न किए थे। आज चौदह वर्ष से वह उसके वियोग में मारा-मारा फिर रहा था। उसके बिना उस विरागी को संसार सूना दीख रहा था, और आज जैसे उसकी खोई निधि मिल गई थी। अतीत जीवन के मधुर दृश्य उसके नेत्रों में घूम गए। उसने देखा—आज वह पहिले से भी अधिक आकर्षक, मनोहर और सुन्दरी है। अब भला वह कैसे उसका वध कर सकता था?

हाथ में खड्ग लिए, वह देर तक एक टक हेमा को देखता रहा, फिर उसने पूछा—"अब तू क्या चाहती है?"

"जो तुम चाहो।"

"तू क्या करेगी।"

"जो तुम कहो।"

"कहां रहेगी?"

"जहां तुम रखोगे।"

"यदि मैं तुझे मुक्त कर दूं?"

"अब, इस अभियान के बाद?"

"तू जहां चाहे चली जा, मुझसे तुझे क्या?"

"फिर इतना रक्त क्यों बहाया ?"
"यह तो ठीक ही किया।"
"तो अब फिर मैं कहां जाऊँ ?"
"क्या इन्द्रद्युम्न तुझे मेरे हर्म्य से भगा ले गया था ?"
"नहीं, मैं स्वेच्छा से उसके साथ गई थी।"
"इसमें दोष किसका है, तेरा या इन्द्रद्युम्न का ?"
"किसी का भी नहीं ?"
"तो तू अपने उस गर्हित कार्य के लिए लज्जित नहीं ?"
"लज्जित नहीं हूं।"
"क्या मैं तुझे प्यार नहीं करता था ?"
"करते थे।"
"और तू ?"
"मैं भी।"
"फिर भागी क्यो ?"
"इसलिए कि मैं अपने को भी प्यार करती थी।"
"तूने मेरा विचार नहीं किया ?"
"बहुत किया।"
"फिर भी तू मुझे छोड़ कर भाग गई ?"
"हां।"
"किसलिए ?"
"तुम्हारे साथ रह नहीं सकती थी।"
"क्यों ?"
"क्योंकि उसने भी मुझे प्यार किया।"
"और तूने ?"
"मैंने भी उसे।"
"क्या तू उसके साथ संतुष्ट रही ?"
"बहुत।"

"मैंने तेरे लिए कितने हर्म्य-मणि दिए, कितने सुख-साधन जुटाए, उसने भी ऐसा ही किया ?"

"न।"

"फिर भी तू उसके साथ सुखी रही ?"

"हां।"

"मुझे याद नहीं किया ?"

"बहुत किया।"

"मेरे दुःख को नहीं देखा ?"

"बहुत देखा।"

"फिर भी लौटी नहीं ?"

"नहीं लौट सकती थी।"

"क्या तुझे बलात् रखा गया था ?"

"नहीं।"

"चाहती तो लौट सकती थी ?"

"सकती थी।"

"फिर भी लौटी नहीं ?"

"न।"

"क्यों ?"

"उसके प्यार के वशीभूत होकर।"

"तो उसका प्यार, मेरे प्यार—तेरे विवेक और तेरी-मेरी मर्यादा—सब को आक्रान्त कर गया ?"

"ऐसा ही हुआ।"

"और अब ?"

"अब तो तुमने उसे मार डाला।"

"परन्तु तू ?"

"तुम्हारे आधीन हूँ।"

"यदि मैं तेरा वध करूं ?"

"करो।"

"और प्यार?"

"करो।"

"तू भयभीत नहीं है?"

"क्या तुमसे?"

"नहीं, इस खड्ग से?"

"नहीं।"

"क्यों भला?"

"तुम जो मेरे निकट हो। तुम्हारे निकट रहते, मुझे भय क्या?"

मय की आंखों से अश्रु-धारा वह चली। वह खड्ग की नोक भूमि में गड़ा कर पृथ्वी पर झुक गया।

हेमा ने आकर उसका सिर अपने वक्ष मे ले लिया।

बहुत देर बाद मय ने कहा—

"घर चल हेमा।"

"चलो।"

और दोनों उस बन्दी-गृह से बाहर आए। रावण ने सब बातें जानीं—पर उसने सास की अभ्यर्थना नहीं की। फिर भी वह उसके औदैन्य पर चकित था।

उसने कहा—"मातः, मैं तेरी अभ्यर्थना नहीं कर सकता।"

"कैसे कर सकता है पुत्र, मुझसे घृणा करने का तुझे अधिकार है।"

"मैं तुझसे घृणा नहीं करता मातः, परन्तु तूने अपराध तो किया है।"

"उसका विचार तू नहीं कर सकता पुत्र, तेरी पत्नी का पिता मेरा पति कर सकता है, सो उसने कर लिया है।"

"तो मातः, तेरा अब मैं क्या प्रिय करूं?"

"इस उरपुर में हमारा अभिनन्दन ग्रहण कर मुझे संप्रहर्षित कर।"

"यह उरनगर तो मैंने अपने श्वसुर महाभाग मय को दे दिया है।"

"तो उसकी पत्नी मैं यहां की स्वामिनी हूं, तेरा अभिनन्दन करती हू, तू हमारा जामाता है, पूजार्ह है, अतिथि है, अभिनन्दनीय है, मेरे पति पर तेरा उपकार है।"

"तो मात, मेरे इस कार्य से क्या तुझे दुःख नहीं हुआ?"

"पुत्र, स्त्री के सुख-दुःख से तेरा क्या प्रयोजन है तथा गुरुजन के गुणदोष के विवेचन का यह क्या अवसर है? यदि सत्य ही तूने हमें उरनगर का स्वामी बनाया है, तो हमारा जामातृ की भांति अभिनन्दन ग्रहण कर।"

रावण ने स्वीकार किया और तब मय दानव और उसकी पुनरागता पत्नी हेमा अप्सरा ने उरपुर मे रावण और उसके राक्षस-सैन्य का धूमधाम से सत्कार का आयोजन किया।

६६

सारं श्वसुर मंदिरम्

अपने यशस्वी जामाता रावण की अभ्यर्थना के लिए मय ने सब दैत्य-दानव और असुर सम्बन्धियों को बुलाकर एक विराट् भोज का आयोजन किया। सम्पूर्ण दैत्यलोकों तथा पातालों से दैत्य-दानव आने लगे। उनके साथ अनेक दैत्य-पार्श्वद और सैनिक थे। सुभाय, तन्तुकच्छ, विकटाक्ष, प्रकंपन, नमुचि, धूम्रकेतु, मायाकाम तथा अन्य सगे-सम्बन्धी दैत्य-दानव राजा और भूमिपति एकत्रित हुए। सभा भरी। परस्पर यथायोग्य वन्दना कर सब बैठे। मय ने यथायोग्य सब का सम्मान किया। भोजन की जब पंक्ति बैठी तो दश योजन विस्तृत भूमि में भोज हुआ। विविध प्रकार के भुने-तले मांस, समूचे मृग, शूकर, लाव, तित्तिर, बत्तख, हंस, चक्रवाक, कपोत, कुक्कुट आदि स्वादिष्ट मांस के साथ सुवासित मदिरा का खूब पान हुआ। दानवेन्द्र मय ने नाना प्रकार के भक्ष्य-भोज्य-लेह्य आदि षड्रस युक्त दिव्य अन्न-भोजन प्रस्तुत किए। पान-भोजन से निवृत्त हो दानव-दैत्य रत्न-सभा में जा बैठे, जहां अनेक दैत्य-बालाएं नृत्य कर रही थीं। सभी दैत्य-दानव वहां बैठ रत्न-मणि की प्यालियों में भर-भर मद्य पीने तथा दैत्य-बालाओं का नृत्य देखने लगे। नमुचि दानव की कन्या विलासिका का नृत्य देख, सभी जन विभोर हो गए। विलासिका की कान्ति से दिशाएं प्रकाशित हो उठीं। अपनी दृष्टि से अमृत की वर्षा करती हुई, वह दानव-बाला ऐसी प्रतीत हो रही थी, जैसे चन्द्रमा की मूर्ति ही पृथ्वी पर अवतरित हुई हो। ललाट में तिलक, पैरों में नूपुर, मनोहर दृष्टि, नृत्य करने में वह मूर्तकला-सी हो

उठी। उसके घुंघरवाले बाल, उज्ज्वल सम दन्तपंक्ति, उत्तम पीन स्तन उस नृत्य में विलास-वाहक हुए। उस दानवी के नृत्य को देख रावण कामविमोहित हो गया। थक जाने पर नृत्य बन्द कर वह दानव-बाला जब तिरछी नजर से उस जगज्जयी रावण को देखती हुई, पिता की आज्ञा से उसे ऋजु प्रणाम निवेदन कर चली गई, तब रावण भी मन्त्रियोंसहित उठकर अपने शयन-मन्दिर में आया। विलासिका को याद कर वह लम्बी-लम्बी सांस खींचने लगा। अर्ध रात्रि व्यतीत होने पर विलासिका अपनी दो सखियोंसहित वहां आई और रावण के शयन-कक्ष मे जाने लगी। तब पहरे पर जागते हुए मन्त्री प्रहस्त ने कहा—हे राजपुत्री, तनिक ठहर। मैं तेरे आगमन की सूचना रक्षेन्द्र को दे दूं।"

दानव-राज कन्या ने कहा—"किसलिए भद्र, तू मुझे भीतर जाने से रोकता है?"

"महाभागे, सोते हुए पुरुष के पास सहसा नहीं जाना चाहिए। फिर हमारा स्वामी व्रती है।"

"अच्छा तो भद्र, तू उसे सूचित कर।"

रावण ने विलासिका का आना सुना तो वह बाहर आकर उसकी अभ्यर्थना करता हुआ बोला—"सुन्दरी, तूने अपने आगमन से इस अभ्यागत को कृतार्थ किया है। अब आसन ग्रहण कर इस स्थान को भी कृतार्थ कर।"

राजपुत्री सखियोंसहित बैठ गई। तब रावण ने कहा—"हे चपलनेत्रे-यद्यपि तेरे दर्शन मात्र से ही मेरे नेत्र सफल हो गए—पर सभा में नृत्य करती वेला तूने सभी के समान मुझे भी समझ मेरा अपमान ही किया।" बाला ने मन्द मुस्कान कर और अपने भारी-भारी पलक उठाकर कहा—"यह अपराध तो उसका है जिसने सभा में मेरा नृत्य बिगाड़ कर मुझे लज्जित किया।"

इस पर हँस कर रावण ने विलासिका का हाथ पकड़ लिया।

इसी समय कुंजर-कुमार दैत्य की पुत्री ग्रहप्टरोमा भी वहां आ पहुंची। वहां विलासिका को देख, वह ईर्षा से जलकर बोली— "हे सखी, कुशल तो है, आज इस समय रात्रि में तू यहां कैसे आई ?"

विलासिका ने कहा—"यह तो मेरे ही पितृव्य का घर है। राक्षसेन्द्र मेरा अतिथि है। इसी तरह तू भी मेरी अतिथि हो। मैं तुम्हारा भी सत्कार करती हूं।"

"यह तो बहुत अच्छी बात है। मैंने सुना था, यहां जो आता है उसी का तुम इसी भांति सत्कार करती हो।"

विलासिका ने रुष्ट होकर कहा—"परन्तु मैं तुम्हारे समान, बिना बन्धुओं की आज्ञा के अकेली पराए स्थान में नहीं जाती।"

यह उत्तर सुन क्रुद्ध हो, कुछ भी जवाब बिना दिए, ग्रहप्टरोमा चली गई और खिन्नमन विलासिका भी सखियों समेत उठकर चल दी। विवश रावण भी विमन हो रात भर करवटें बदलता रहा।

दूसरे दिन नमुचि दानव ने आकर मय से कहा—"मैं आज रक्षेन्द्र का अपने घर आतिथ्य करके अपनी कन्या विलासिका रक्षेन्द्र को दूंगा।" सब के सहमत होने पर उसने वेदी रच अग्नि-स्थापना की और अपनी कन्या अनेक रत्नों सहित रावण को दे दी। दूसरे दिन कुंजर-कुमार दैत्य ने आकर कहा—"आज आप सब लोग मेरे स्थान पर आइए, वहां मैं रक्षेन्द्र रावण का सत्कार करूंगा तथा अपनी पुत्री ग्रहप्टरोमा उसे दूंगा।" फलतः सभी दैत्य-दानवों ने वहां जा रक्षेन्द्र के साथ उसका आतिथ्य ग्रहण किया और उसने सबका विधिवत् सत्कार कर अपनी कन्या रावण को दे दी। तीसरे दिन दुरारोह ने अपनी त्रैलोक्यसुन्दरी कन्या कुमुदावती उसे दी। चौथे दिन तन्तुकच्छु ने निमन्त्रण दे तप्त कांचन की प्रभावाली कन्या प्रभावती उसे दी। पांचवे दिन मदन-

केतु दैत्य ने पान-गोष्ठी रच अपनी दूर्वा के समान कान्तिवाली श्यामलांगी मदनशर के समान अपनी सुभद्रा कन्या उसे दी। छठे दिन सुवाहु ने अपनी नवीन पल्लवों के समान, कोमल अंगवाली माधुरी कन्या और सातवें दिन सुमाय ने कुसुम-कोमल सुमाया कन्या दी। आठवें दिन भद्रजंघ दानव ने आकर निवेदन किया—हे रक्षेन्द्र, आज तुम्हारे आतिथ्य की मेरी बारी है। मैंने सुरपुर से बारह दिव्य देवांगनाओं को हरण किया था। वे सब रूप-किशोरी एक से बढ़कर एक हैं। उनमें अमृतप्रभा तथा केशिनी नामकी दो ऋषि कन्याएँ हैं। कालिन्दी, भद्रिका, दर्पकमाला, देवल मुनि की कन्याएँ हैं। सौदामिनी और उज्ज्वला हाहागन्धर्व की पुत्रियाँ हैं। पीवरा हूहू गंधर्व की बेटी है। अंजनिका काल दैत्य की पुत्री है, केशरावती पिंगल मरुत की पुत्री है। ये बारहों दिव्याङ्गनाएँ मेरी दुलारी पुत्री अनंगभद्रा की सखियां हैं। अब सब दैत्य-दानवों की पान-गोष्ठी में मैं ये तेरह कन्यारत्न तुझे दूंगा।" सब दैत्य-दानवों ने यह प्रस्ताव प्रसन्नता से स्वीकार किया। दानव भद्रजंघ ने बहुत-सा यौतुक देकर तेरहों कन्याएँ रक्षेन्द्र को दे दीं।

जिस समय उरपुर में इस प्रकार रावण के नित नए ब्याह रचाए जा रहे थे और एक से बढ़कर एक नवोढ़ा बालाएं उसे भेंट दी जा रही थीं, तभी सम्पूर्ण दैत्यलोक देवलोक तथा मृत्युलोक के उन राजाओं और सरदारों ने, जिनकी कन्याओं का मार्ग में रावण ने हरण किया था, उरपुर के समाचार जान तथा रावण का परिचय पा सदेश पर सदेश भेजने आरंभ कर दिए। गन्धर्व नागभट ने अपनी सुन्दरी कन्या मदनसेना, अपरान्त के स्वामी सुभट ने अपनी कन्या चन्द्रावती, कांची के मरुत राजा कुंभीरक ने अपनी कन्या वरुणसेना, लावणक के राजा ने अपनी लावण्यवती कन्या विद्युन्माला और श्रीकण्ठ के राजा ने अपनी कान्तिवती कन्या के लिए भारी-भारी यौतुक भेज, रावण को अपना

दामाद स्वीकार कर लिया। पृथ्वीजयी रक्षेन्द्र रावण को अपनी-अपनी कन्या देने की मानो समूचे दैत्यलोक और देवलोक में होड़-सी मच गई।

उस काल में कन्याओं का राजनैतिक मूल्य भी खूब था। आजकल की भांति कदाचित् उन दिनों विदेशों के राज-दरबारों में राजदूत और कूटनीतिक दूत नहीं रखे जाते थे—तब विजयी नरपति को कन्या देना ही लाभदायक होता था, वह कन्या पिता के शत्रु-हर्म्य में जाकर उसके हृदय तक का भेद जान लेती थी, तथा सदैव अपने पिता पर पति को सदय रखती थी। वह युग ही ऐसा था।

उरपुर के क्रीड़ा-उद्यानों में नित नई नववधुओं का प्रसाद पा रावण निर्द्वन्द कुछ दिन अपनी मधु-यामिनियां मनाता रहा। और जब वह वहां से चला तो मय दानव ने अपने दामाद को एक सहस्र कुमारिकाएँ, एक सहस्र हाथी, दस सहस्र अश्व, एक सहस्र स्वर्णजटित रथ, तथा स्वर्ण, रत्न, वस्त्र, कर्पूर, अगर, कुंकुम आदि से भरे पांच हजार ऊंट यौतुक में दिए, तथा सब राक्षसों का विधिवत् सत्कार कर बहुत सा स्वर्ण-रत्न दे उन्हें विदा किया।

●

अमरावती में

उरपुर से श्वसुर तथा सास से सुपूजित होकर रावण अपनी चतुरंगिणी सेना ले अमरावती की ओर बढ़ा। अब तक रावण ने मेघनाद को युद्ध से विरत कर रखा था। उसने कहा था—"पुत्र, तू केवल देखता रह, युद्ध न कर। मैं देवराट् इन्द्र के साथ तेरा प्रथम युद्ध देखना चाहता हू।" सो अब जब अमरावती के स्वर्ण-कलश रावण ने देखे, तो पुत्र मेघनाद को छाती से लगा कर रावण ने कहा—"पुत्र, यह अमरावती है, जहां हमारे राक्षस-धर्म के परम विरोधी देव—आदित्य रहते हैं। अब तेरा यह कार्य है कि इस देवराट् को रस्सियों से बांध ला। आज तू ही इस देवाभियान का नेतृत्व कर पुत्र, हम सब तेरे अनुगत रहकर तेरी पृष्ठ रक्षा करेंगे।"

पिता के ये वचन सुन मेघनाद ने रावण की परिक्रमा कर प्रणाम किया और कहा—"तात, आप मेरा कौतुक देखें कि मैं किस प्रकार देवराट् को बांध कर आपके चरणों में ला डालता हूँ।"

इतना कह कर मेघनाद ने वर्म पहिना, शस्त्र धारण किए और श्यामकर्ण सोलह घोड़ों के रथ में बैठ समूचे रक्षबल का वज्र-व्यूह रच, धौंसा वजाता हुआ अमरावती की ओर अग्रसर हुआ। राक्षसों की इस महती वीरवाहिनी को देखकर देवतागण घबरा गए। देवराट् ने अपने पुत्र जयन्त को मेघनाद से लोहा लेने को भेजा और पुर के सब राह-घाट पर उसने धनुर्धर देवों को सन्नद्ध किया।

दोनों ओर से रणवाद्य बजते ही दोनों सेनाएं भिड़ गईं। जयन्त के सरक्षण में देव-सैन्य ने मेघनाद पर भीषण प्रहार करने आरम्भ किए। मेघनाद ने अनायास ही जयन्त के सभी बाणों को काट डाला, तथा एक बारगी ही बाणों के जाल से जयन्त को ढांप लिया। यह एक अभूतपूर्व धनुर्युद्ध था, जिसमें एक ओर एकाकी मेघनाद—रुद्र किंकर, विद्युत्-प्रवाह की भांति बाण-वर्षा कर रहा था, दूसरी ओर जयन्त देवराट्-सुत दिव्य रथ पर सवार, जिसमें स्वर्णाभरण पहिने श्वेत सोलह अश्व जुते थे, अपना अमोघ लाघव दिखा रहा था। देखते ही देखते मेघनाद ने देव-सारथी मातुलि को बाणों से छेद दिया। उत्तर में जयन्त ने मेघनाद के सारथी वीर चूड़ामणि सारण को अग्निबाणों से दग्ध कर दिया। इस पर अति आवेशित हो मेघनाद ने माया-चक्र रच युद्ध-भूमि में घोर अन्धकार फैला दिया, और फिर चारों ओर से प्रास; मुसल, शतघ्नियों के प्रहार से देवकुल को आतंकित कर दिया। ऐसा अद्भुत और भयानक युद्ध देख देव हाहाकार कर भागने लगे। किसी को भी अपने-पराए का ज्ञान न रहा। युद्ध का सारा क्रम ही भंग हो गया।

अब मायावी मेघनाद जयन्त पर अन्तक के समान प्रहार करने लगा। जयन्त पर घोर आपत्ति आई देख, उसके नाना भीम विक्रम दानवेन्द्र पुलोमा ने व्यूह में बलात् घुसकर रथ पर से जयन्त को उठा लिया, और उसे कांख में दबा, जल-स्तम्भनी विद्या द्वारा समुद्र-जल में जा घुसा। जब देवों ने जयन्त के रथ को खाली तथा मातुलि को मूर्छित देखा, तो जयन्त को मरा समझ रणस्थली से भाग निकले।

इसी समय मातुलि की मूर्छा भंग हुई और वह रथ दौड़ा कर व्याकुल भाव से देवराट् इन्द्र के पास पहुंचा। अपने पुत्र को रणक्षेत्र से इस प्रकार गायब सुन देवराट् इन्द्र वज्रहस्त हो स्वयं

रथ में बैठ, युद्ध-स्थली में पहुंचा। शत सहस्र मेघों की गर्जना के समान ध्वनित उस रथ को हेम-पर्वत की भांति अबाध गति से आता देख राक्षस भय से चीखने-चिल्लाने लगे। सब रुद्र, वसु, आदित्य और मरुद्गण इन्द्र की रक्षा करते हुए उसे चारों ओर से घेर कर चले। यह देख रावण अपने विशाल मय दैत्य द्वारा निर्मित रथ पर आरूढ़ हो आगे बढ़ा। रावण ने मेघनाद को युद्ध से विरत करके कहा—"तू तनिक विश्राम कर पुत्र, तब तक मैं इस ब्रह्महा देवराट् को देखूं।" कुम्भकर्ण रथ के आगे तथा शुक, सारण दाएं-बाएं और भीम पराक्रम सुमाली दैत्य रावण की पृष्ठ रक्षा पर सन्नद्ध हो चले। चारों ओर राक्षसों का कटक। क्षण भर ही में घमासान मच गया। कुम्भकर्ण को अपना-पराया कुछ न सूझ पड़ता था। वह जिसको भी सामने पाता, अपने दांत, भुजा और लातों से मसल डालता। शस्त्र-ग्रहण करने का उसे विचार ही न आता था। वह देवों को बीच से चीर-चीर कर इधर-उधर फेंकने लगा। उसका यह वीभत्स कार्य देख, देव 'त्राहि-माम्—त्राहिमाम्' करने और इधर-उधर भागने लगे। अब पराक्रमी मेघनाद रुद्रों से भिड़ गया। रुद्रों ने उसे चारों ओर से लिपट कर उसके अंग विदीर्ण कर डाले। उनमें से रक्त झरने लगे। उधर मरुद्गणों ने राक्षसों को मार-मार कर बिछा दिया। युद्ध-भूमि मरों और अधमरों से पट गई। अनेक राक्षस अपने वाहनों पर मर कर गिर गए। रक्त की वहां नदी बह चली। उसमें तैरती हुई लोथें जलचर सी दिखाई देने लगीं। आकाश में चील, गृद्ध और कौए उड़ने लगे। बड़ा ही वीभत्स दृश्य उपस्थित हो गया। रावण ने जब यह दशा देखी तो वह अपना रथ बढ़ा कर इन्द्र को ललकारता हुआ तथा बाणों की वर्षा करता आगे बढ़ा। इन्द्र ने भी अपने धनुष को टंकार कर शर-संधान किए। अब रावण और इन्द्र का ऐसा घनघोर युद्ध हुआ

कि जैसा न किसी ने देखा, न सुना होगा।

इसी समय मेघनाद ने माया रची। रणक्षेत्र में अंधकार छा गया। इन्द्र, रावण और मेघनाद को छोड़ समस्त वीर अन्धे के समान आचरण करने लगे।

अब रावण ने ललकार कर सारथी से कहा—"अरे, मेरा रथ मध्य युद्ध-भूमि में ले चल, आज मैं इस आर्यवीर्यान् की देव-भूमि से देवों का वीर्यनाश करूंगा। देवों का वध करने से मेरे कुल की कीर्ति बढ़ेगी। चल-चल—उदयपर्वत की ओर चल।"

रावण की इस आज्ञा को सुन सारथी रथ को युक्ति से वक्रगति से चल कर देवों की सेना को चीरता हुआ उसके मध्य भाग में जा पहुंचा। इस प्रकार रावण को आते देख इन्द्र ने चिल्ला कर कहा—"इसे जीता पकड़ना चाहिए। जिस प्रकार हमने बलि को बांध कर त्रिलोकी का राज्य पाया है, उसी प्रकार इस दुष्ट वैश्रवण को भी बांध लो।" यह कह कर इन्द्र वहां से हट गया। आदित्य, रुद्र, वसु और मरुद्गणों ने अब रावण को चारों ओर से घेर लिया और बाणों से उसे ढांप दिया। इस पर सब राक्षस जोर-जोर से चिल्लाने लगे और कहने लगे—"हाय-हाय रक्षेन्द्र को इन्द्र ने बन्दी बना लिया। अब कौन हमारी रक्षा करेगा?"

अब प्रहस्त, महोदर, मारीच, महापार्श्व, महादंष्ट्र, यज्ञकोप, दूषण, खर, त्रिशरा, दुर्मुख, अतिकाम, देवान्तक, नरान्तक आदि रण-पण्डित महारथी राक्षस भट्ट सुमाली को आगे कर देव-सैन्य में घुस गए।

सुमाली ने यहां ऐसा समर किया कि देव-सेना की सारी व्यवस्था भंग हो गई। यह देख त्वष्टा और पूषा दो आदित्य सेना सहित सुमाली पर टूट पड़े। इसी समय आठवें वसु सावित्र ने भी वसुओं को ले सुमाली को घेर लिया। अब चहुंमुखी युद्ध होने लगा, और राक्षसों की सेना कट-कट कर गिरने लगी।

सुमाली और सावित्र में अब घनघोर युद्ध होने लगा। दोनों ही वीर परम पराक्रमी थे। त्वष्टा और पूषा धकेल कर राक्षसों के प्रहस्त, महोदर आदि महारथियों को युद्ध मे फसा कर सुमाली से दूर ले गए। दो मुहूर्त के तुमुल संग्राम में वसु सावित्र ने सुमाली का रथ तोड़ दिया, घोड़ों को मार डाला। यह देख ज्यों ही सुमाली रथ से कूदा, त्योंही सावित्र वसु ने उछल कर कालदण्ड के समान भयंकर गदा कई बार घुमा कर उसके मस्तक पर दे मारी। उसकी चोट से सुमाली का मस्तक चूर-चूर हो गया और सुमाली चुरमुर हो भूमि पर गिर गया। यह देख राक्षसों मे हाहाकार मच गया। राक्षस रोते और बाल नोचते इधर-उधर भागने लगे।

सुमाली के वध से क्रुद्ध अग्नि के समान जलता हुआ मेघनाद रथ पर बैठ बिजली की भांति इन्द्र पर टूट पड़ा। छूटते ही उसने शक्ति का इन्द्र के वक्ष में प्रहार किया। साथ ही दस बाणों से सारथी मातुलि और दस बाणों से उसके घोड़ों को बींध डाला। फिर उसने माया-विस्तार कर, अंधकार कर दिया। सब देव व्याकुल हो गए। तब मेघनाद निश्शंक इन्द्र के रथ पर चढ़ गया और उसे जकड़ कर रस्सियों से बांध पीठ पर उठा, गर्जना करता हुआ राक्षसो की सेना में लौट आया।

जब प्रकाश हुआ और इन्द्र को देवों ने रथ पर नहीं देखा, तो वे बड़े घबड़ाए। न उन्हें मेघनाद ही दिखाई दिया न इन्द्र। उन्होंने खीझ कर रावण पर प्रचण्ड आक्रमण किया। आदित्यों और वसुओं ने उसपर अविरल प्रहार कर उसे जर्जर कर दिया। इसी समय अदृष्ट रह, मेघनाद ने आकाशवाणी से पुकारा—"हे पिता, अब युद्ध का क्या प्रयोजन है, हम विजयी हो गए हैं। त्रिलोकी के स्वामी इन्द्र को हमने बन्दी कर लिया है। अब इन क्षुद्र देवताओं को मारने से क्या लाभ है? चलिए, लंका को लौट चलिए और त्रिलोकी का राज्य भोगिए।"

मेघनाद की यह सारगर्भित आकाशवाणी सुन रावण संप्रहर्षित हो गया। आकाशवाणी सुन देवता भी घबड़ा गए। इसी समय प्रहस्त ने शंख फूंक कर संकेत किया और सारण वक्र गति से रथ को चला कर रावण को युद्ध-भूमि से बाहर ले चला। रावण के रथ की ध्वजा देखते ही राक्षसों ने हर्ष-नाद किया। राक्षसों की सैन्य में विजय-दुन्दुभी बज उठी।

अपनी विजय से गर्वित रावण ने हर्षित हो इन्द्रजयी पुत्र को छाती से लगा कर कहा—"अरे पुत्र, तू आज से त्रैलोक्य में इन्द्रजित् के नाम से विख्यात हो। तूने आज इन्द्र को वन्दी बनाकर हमारे कुल के ऐश्वर्य को बढ़ाया है। अब तू इन्द्र को लेकर अभी लंका को प्रस्थान कर। पीछे मैं भी आता हूं।"—इतना कह रावण ने उसी क्षण सुरक्षा के लिए बहुत सी सैन्य दे, वन्दी इन्द्र के सहित इन्द्रजयी मेघनाद को लंका को भेज दिया।

सुमाली और सावित्र में अब घनघोर युद्ध होने लगा। दोनों ही वीर परम-पराक्रमी थे। त्वष्टा और पूषा धकेल कर राक्षसों के प्रहस्त, महोदर आदि महारथियों को युद्ध में फंसा कर सुमाली से दूर ले गए। दो मुहूर्त के तुमुल संग्राम में वसु सावित्र ने सुमाली का रथ तोड़ दिया, घोड़ों को मार डाला। यह देख ज्यों ही सुमाली रथ से कूदा, त्योंही सावित्र वसु ने उछल कर कालदण्ड के समान भयंकर गदा कई बार घुमा कर उसके मस्तक पर दे मारी। उसकी चोट से सुमाली का मस्तक चूर-चूर हो गया और सुमाली चुरमुर हो भूमि पर गिर गया। यह देख राक्षसों में हाहाकार मच गया। राक्षस रोते और बाल नोचते इधर-उधर भागने लगे।

सुमाली के वध से क्रुद्ध अग्नि के समान जलता हुआ मेघनाद रथ पर बैठ बिजली की भांति इन्द्र पर टूट पड़ा। छूटते ही उसने शक्ति का इन्द्र के वक्ष में प्रहार किया। साथ ही दस बाणों से सारथी मातुलि और दस बाणों से उसके घोड़ों को बींध डाला। फिर उसने माया-विस्तार कर, अंधकार कर दिया। सब देव व्याकुल हो गए। तब मेघनाद निश्शंक इन्द्र के रथ पर चढ़ गया और उसे जकड़ कर रस्सियों से बांध पीठ पर उठा, गर्जना करता हुआ राक्षसों की सेना में लौट आया।

जब प्रकाश हुआ और इन्द्र को देवों ने रथ पर नहीं देखा, तो वे बड़े घबड़ाए। न उन्हें मेघनाद ही दिखाई दिया न इन्द्र। उन्होंने खीझ कर रावण पर प्रचण्ड आक्रमण किया। आदित्यों और वसुओं ने उसपर अविरल प्रहार कर उसे जर्जर कर दिया। इसी समय अदृष्ट रह, मेघनाद ने आकाशवाणी से पुकारा—"हे पिता, अब युद्ध का क्या प्रयोजन है, हम विजयी हो गए हैं। त्रिलोकी के स्वामी इन्द्र को हमने बन्दी कर लिया है। अब इन क्षुद्र देवताओं को मारने से क्या लाभ है? चलिए, लंका को लौट चलिए और त्रिलोकी का राज्य भोगिए।"

मेघनाद की यह सारगर्भित आकाशवाणी सुन रावण संप्रहर्पित हो गया। आकाशवाणी सुन देवता भी घवड़ा गए। इसी समय प्रहस्त ने शंख फूंक कर संकेत किया और सारण वक्र गति से रथ को चला कर रावण को युद्ध-भूमि से वाहर ले चला। रावण के रथ की ध्वजा देखते ही राक्षसों ने हर्ष-नाद किया। राक्षसों की सैन्य में विजय-दुन्दुभी वज उठी।

अपनी विजय से गर्वित रावण ने हर्षित हो इन्द्रजयी पुत्र को छाती से लगा कर कहा—"अरे पुत्र, तू आज से त्रैलोक्य में इन्द्रजित् के नाम से विख्यात हो। तूने आज इन्द्र को वन्दी-वना-कर हमारे कुल के ऐश्वर्य को वढ़ाया है। अव तू इन्द्र को लेकर अभी लका को प्रस्थान कर। पीछे मैं भी आता हूं।" इतना कह रावण ने उसी क्षण सुरक्षा के लिए वहुत सी सैन्य दे, वन्दी इन्द्र के सहित इन्द्रजयी मेघनाद को लंका को भेज दिया।

सुमाली और सावित्र में अब घनघोर युद्ध होने लगा। दोनों ही वीर परम पराक्रमी थे। त्वष्टा और पूषा धकेल कर राक्षसों के प्रहस्त, महोदर आदि महारथियों को युद्ध में फंसा कर सुमाली से दूर ले गए। दो मुहूर्त के तुमुल संग्राम में वसु सावित्र ने सुमाली का रथ तोड़ दिया, घोड़ों को मार डाला। यह देख ज्यों ही सुमाली रथ से कूदा, त्यों ही सावित्र वसु ने उछल कर कालदण्ड के समान भयंकर गदा कई बार घुमा कर उसके मस्तक पर दे मारी। उसकी चोट से सुमाली का मस्तक चूर-चूर हो गया और सुमाली चुरमुर हो भूमि पर गिर गया। यह देख राक्षसों में हाहाकार मच गया। राक्षस रोते और बाल नोचते इधर-उधर भागने लगे।

सुमाली के वध से क्रुद्ध अग्नि के समान जलता हुआ मेघनाद रथ पर बैठ बिजली की भांति इन्द्र पर टूट पड़ा। छूटते ही उसने शक्ति का इन्द्र के वक्ष में प्रहार किया। साथ ही दस बाणों से सारथी मातुलि और दस बाणों से उसके घोड़ों को बींध डाला। फिर उसने माया-विस्तार कर, अंधकार कर दिया। सब देव व्याकुल हो गए। तब मेघनाद निश्शंक इन्द्र के रथ पर चढ़ गया और उसे जकड़ कर रस्सियों से बांध पीठ पर उठा, गर्जना करता हुआ राक्षसों की सेना में लौट आया।

जब प्रकाश हुआ और इन्द्र को देवों ने रथ पर नहीं देखा, तो वे बड़े घबड़ाए। न उन्हें मेघनाद ही दिखाई दिया न इन्द्र। उन्होंने खीझ कर रावण पर प्रचण्ड आक्रमण किया। आदित्यों और वसुओं ने उसपर अविरल प्रहार कर उसे जर्जर कर दिया। इसी समय अदृष्ट रह, मेघनाद ने आकाशवाणी से पुकारा—"हे पिता, अब युद्ध का क्या प्रयोजन है, हम विजयी हो गए हैं। त्रिलोकी के स्वामी इन्द्र को हमने बन्दी कर लिया है। अब इन क्षुद्र देवताओं को मारने से क्या लाभ है? चलिए, लंका को लौट चलिए और त्रिलोकी का राज्य भोगिए।"

मेघनाद की यह सारगर्भित आकाशवाणी सुन रावण संप्रहर्षित हो गया। आकाशवाणी सुन देवता भी घबड़ा गए। इसी समय प्रहस्त ने शंख फूंक कर संकेत किया और सारण वक्र गति से रथ को चला कर रावण को युद्ध-भूमि से बाहर ले चला। रावण के रथ की ध्वजा देखते ही राक्षसों ने हर्ष-नाद किया। राक्षसों की सैन्य में विजय-दुन्दुभी बज उठी।

अपनी विजय से गर्वित रावण ने हर्षित हो इन्द्रजयी पुत्र को छाती से लगा कर कहा—"अरे पुत्र, तू आज से त्रैलोक्य में इन्द्रजित् के नाम से विख्यात हो। तूने आज इन्द्र को बन्दी बना-कर हमारे कुल के ऐश्वर्य को बढ़ाया है। अब तू इन्द्र को लेकर अभी लंका को प्रस्थान कर। पीछे मैं भी आता हूं।" इतना कह रावण ने उसी क्षण सुरक्षा के लिए बहुत सी सैन्य दे, बन्दी इन्द्र के सहित इन्द्रजयी मेघनाद को लंका को भेज दिया।

सुमाली और सावित्र में अब घनघोर युद्ध होने लगा। दोनों ही वीर परम पराक्रमी थे। त्वष्टा और पूषा धकेल कर राक्षसों के प्रहस्त, महोदर आदि महारथियों को युद्ध में फसा कर सुमाली से दूर ले गए। दो मुहूर्त के तुमुल सग्राम में वसु सावित्र ने सुमाली का रथ तोड दिया, घोड़ों को मार डाला। यह देख ज्यों ही सुमाली रथ से कूदा, त्योंही सावित्र वसु ने उछल कर कालदण्ड के समान भयंकर गदा कई बार घुमा कर उसके मस्तक पर दे मारी। उसकी चोट से सुमाली का मस्तक चूर-चूर हो गया और सुमाली चुरमुर हो भूमि पर गिर गया। यह देख राक्षसों में हाहाकार मच गया। राक्षस रोते और बाल नोचते इधर-उधर भागने लगे।

सुमाली के वध से क्रुद्ध अग्नि के समान जलता हुआ मेघनाद रथ पर बैठ बिजली की भाति इन्द्र पर टूट पड़ा। छूटते ही उसने शक्ति का इन्द्र के वक्ष में प्रहार किया। साथ ही दस बाणों से सारथी मातुलि और दस बाणो से उसके घोड़ों को बींध डाला। फिर उसने माया-विस्तार कर, अधकार कर दिया। सब देव व्याकुल हो गए। तब मेघनाद निश्शंक इन्द्र के रथ पर चढ़ गया और उसे जकड़ कर रस्सियो से बांध पीठ पर उठा, गर्जना करता हुआ राक्षसों की सेना में लौट आया।

जब प्रकाश हुआ और इन्द्र को देवों ने रथ पर नहीं देखा, तो वे बड़े घबड़ाए। न उन्हें मेघनाद ही दिखाई दिया न इन्द्र। उन्होंने खीझ कर रावण पर प्रचण्ड आक्रमण किया। आदित्यों और वसुओं ने उसपर अविरल प्रहार कर उसे जर्जर कर दिया। इसी समय अदृष्ट रह, मेघनाद ने आकाशवाणी से पुकारा—"हे पिता, अब युद्ध का क्या प्रयोजन है, हम विजयी हो गए हैं। त्रिलोकी के स्वामी इन्द्र को हमने बन्दी कर लिया है। अब इन क्षुद्र देवताओं को मारने से क्या लाभ है? चलिए, लंका को लौट चलिए और त्रिलोकी का राज्य भोगिए।"

मेघनाद की यह सारगर्भित आकाशवाणी सुन रावण संप्रहर्षित हो गया। आकाशवाणी सुन देवता भी घवड़ा गए। इसी समय प्रहस्त ने शंख फूंक कर संकेत किया और सारण वक्र गति से रथ को चला कर रावण को युद्ध-भूमि से वाहर ले चला। रावण के रथ की ध्वजा देखते ही राक्षसों ने हर्ष-नाद किया। राक्षसों की सैन्य में विजय-दुन्दुभी वज उठी।

अपनी विजय से गर्वित रावण ने हर्षित हो इन्द्रजयी पुत्र को छाती से लगा कर कहा—"अरे पुत्र, तू आज से त्रैलोक्य में इन्द्रजित् के नाम से विख्यात हो। तूने आज इन्द्र को वन्दी वना-कर हमारे कुल के ऐश्वर्य को वढ़ाया है। अव तू इन्द्र को लेकर अभी लका को प्रस्थान कर। पीछे मैं भी आता हूं।" इतना कह रावण ने उसी क्षण सुरक्षा के लिए वहुत सी सैन्य दे, वन्दी इन्द्र के सहित इन्द्रजयी मेघनाद को लंका को भेज दिया।

सुमाली और सावित्र में अब घनघोर युद्ध होने लगा। दोनों ही वीर परम पराक्रमी थे। त्वष्टा और पूषा धकेल कर राक्षसों के प्रहस्त, महोदर आदि महारथियों को युद्ध मे फंसा कर सुमाली से दूर ले गए। दो मुहूर्त के तुमुल संग्राम में वसु सावित्र ने सुमाली का रथ तोड़ दिया, घोड़ों को मार डाला। यह देख ज्यों ही सुमाली रथ से कूदा, त्योंही सावित्र वसु ने उछल कर कालदण्ड के समान भयंकर गदा कई बार घुमा कर उसके मस्तक पर दे मारी। उसकी चोट से सुमाली का मस्तक चूर-चूर हो गया और सुमाली चुर्रमुर्र हो भूमि पर गिर गया। यह देख राक्षसों में हाहाकार मच गया। राक्षस रोते और बाल नोचते इधर-उधर भागने लगे।

सुमाली के वध से क्रुद्ध अग्नि के समान जलता हुआ मेघनाद रथ पर बैठ बिजली की भांति इन्द्र पर टूट पड़ा। छूटते ही उसने शक्ति का इन्द्र के वक्ष में प्रहार किया। साथ ही दस बाणों से सारथी मातुलि और दस बाणों से उसके घोड़ों को बींध डाला। फिर उसने माया-विस्तार कर, अंधकार कर दिया। सब देव व्याकुल हो गए। तब मेघनाद निश्शक इन्द्र के रथ पर चढ़ गया और उसे जकड़ कर रस्सियों से बाध पीठ पर उठा, गर्जना करता हुआ राक्षसों की सेना में लौट आया।

जब प्रकाश हुआ और इन्द्र को देवों ने रथ पर नहीं देखा, तो वे बडे घबड़ाए। न उन्हें मेघनाद ही दिखाई दिया न इन्द्र। उन्होंने खीझ कर रावण पर प्रचण्ड आक्रमण किया। आदित्यों और वसुओं ने उसपर अविरल प्रहार कर उसे जर्जर कर दिया। इसी समय अदृष्ट रह, मेघनाद ने आकाशवाणी से पुकारा—"हे पिता, अब युद्ध का क्या प्रयोजन है, हम विजयी हो गए हैं। त्रिलोकी के स्वामी इन्द्र को हमने बन्दी कर लिया है। अब इन क्षुद्र देवताओं को मारने से क्या लाभ है? चलिए, लंका को लौट चलिए और त्रिलोकी का राज्य भोगिए।"

मेघनाद की यह सारगर्भित आकाशवाणी सुन रावण संप्रहर्पित हो गया। आकाशवाणी सुन देवता भी घवड़ा गए। इसी समय प्रहस्त ने शंख फूंक कर संकेत किया और सारण वक्र गति से रथ को चला कर रावण को युद्ध-भूमि से बाहर ले चला। रावण के रथ की ध्वजा देखते ही राक्षसों ने हर्ष-नाद किया। राक्षसों की सैन्य में विजय-दुन्दुभी बज उठी।

अपनी विजय से गर्वित रावण ने हर्पित हो इन्द्रजयी पुत्र को छाती से लगा कर कहा—"अरे पुत्र, तू आज से त्रैलोक्य में इन्द्रजित् के नाम से विख्यात हो। तूने आज इन्द्र को बन्दी बना-कर हमारे कुल के ऐश्वर्य को बढ़ाया है। अब तू इन्द्र को लेकर अभी लंका को प्रस्थान कर। पीछे मैं भी आता हूं।" इतना कह रावण ने उसी क्षण सुरक्षा के लिए बहुत सी सैन्य दे, बन्दी इन्द्र के सहित इन्द्रजयी मेघनाद को लंका को भेज दिया।

७१

लंका की ओर

अब हर्षित, तृप्तमनोरथ, अप्रतिरथ, चक्रवर्ती, त्रैलोक्य-विजयी रावण लौटा। एक सहस्र कुमारिकाएँ उसने देवलोक से हरण कीं। गन्धर्व-लोक पहुँच मित्रावसु गन्धर्व की वन्दना की, प्रियतमा चित्रांगदा को हृदय से लगाया। वहां से प्रियतमा चित्रांगदा को संग ले तथा मित्रावसु से बहुत सा धन उपानय ले, वह लंका की ओर चला। मार्ग में नागों, यक्षों, मनुष्यों, देवों, दानवों और राजर्षियों के जो-जो जनपद पड़े, सभी में अपनी विजय-वैजयन्ती फहराता, अपनी रक्ष संस्कृति का डंका पीटता और जनपदों की सुन्दरी कन्याओं का हरण करता, विरोधियों का वध कर उनके अवरोध की बहू-बेटियों को बलपूर्वक समेटता—अपने पुष्पक विमान पर बैठ, आगे बढ़ता चला गया। वे सब अपहृत बालाएँ—चीत्कार करती, रुदन करती, जा रही थीं। उनके आंसू सूखते न थे। वे सब किशोरावस्थावाली बालाएँ अपने सौन्दर्य से रति का दर्प-मर्दन करनेवाली थीं। उनके लम्बे-लम्बे, काले-काले बाल और समस्त अंग अत्यन्त ही कोमल और सुडौल थे। उनके मुख पूर्णिमा के चन्द्र के समान सुन्दर थे। उनके उभरे उरोज, पतली कमर, और लावण्य को देख मन वश में नहीं रहता था। रावण उन्हें बलात्कार से हर कर लंका में ले जा रहा था। जिन्हें वह अपनी सब लूटी हुई संपदा से बढ़ कर समझता था। जिस प्रकार सिंह के चंगुल में फसी हरिणी तड़पती है, उसी प्रकार वे सब बालाएँ व्याकुल हो रही थीं। वे अपने पतियों, पिता-माताओं और परिजनों से बलात् पृथक करके

हरण की गई थीं, जिन्हें देख-देख कर रावण कामविह्वल हो रहा था, और वे सब कुकरी की भांति व्याकुल हो रुदन करती जा रही थीं।

अंत मे वह लंका में पहुँचा। विजय-डंका बजाते हुए उसने लंका मे प्रवेश किया। नगरनिवासियों ने उसका जय-जयकार किया।

और अन्त मे जब मन्दोदरी ने आगे बढ़कर उसका अर्घ्यपाद्य से सत्कार किया, तब चित्रांगदा को आगे कर उसने कहा—"प्रिये मन्दोदरी, यह तेरी अनुगता गन्धर्व-कुमारी महिषी चित्रांगदा उपस्थित है। और तुम दोनो की सेवा के लिए ये दस सहस्र कुलीन कुमारिकाएँ हैं जो देव, दैत्य, नाग, मानव, आनव सभी सम्भ्रान्त कुलों की हैं।

लंका में घर-घर आनन्द-मंगल होने लगा, दीपावली हुई। नृत्य-पान-गोष्ठी हुई। रावण के मणिहर्म्य में स्वर्ण, रत्न लुटाए गए। राजमहिषी मन्दोदरी और चित्रांगदा ने विविध मंगल-अनुष्ठान किए। पशुओं की बलि दी गई। यज्ञ हुए और बड़े-बड़े पान-महोत्सव हुए। इस समय लंका आनन्द और उल्लास के झूले में झूलने लगी।

रंग में भंग

अभी लका में विजयोत्सव, पान-गोष्ठियां, नृत्य-विलास, दीपावलियां हो ही रही थीं कि अकस्मात् ही रंग में भंग हो गया, जिससे सारी ही लका में विषाद और क्रोध की भावना फैल गई। नाच-रग, पान-गोष्ठिया तुरन्त रोक दी गईं। नगर और मणि-महल, सर्वत्र ही शोक छा गया।

कोई एक तपस्वी वहिष्कृत राज्यच्युत आर्य राजकुमार दण्डकारण्य में आए हैं, जो धनुष-वाण धारण करते हैं। उनसे दण्डकारण्य की रानी सूर्पनखा का विग्रह हो गया है। उन्होंने धृष्टतापूर्वक राक्षस-राजनन्दिनी सूर्पनखा का अगभग कर दिया है, उसकी नाक काट ली है और जन-स्थान के रक्षक चौदह हजार राक्षसों को खर-दूषण सहित मार डाला है। अब सूर्पनखा रोती-कलपती, विलाप करती लंका में रक्षेन्द्र रावण की शरणापन्न हुई है। त्रिलोकीपति विश्वविजयी रावण प्रिय बहिन का यह भयानक अभियोग सुन, क्रोध और शोक से जड़ हो गया है। इस भयानक अपमान का वह उन तपस्वी राजकुमारों को क्या दण्ड दे, यही वह निर्णय नहीं कर पा रहा है। वह अपने मणिमहालय में पड़ा लम्बी-लम्बी उसासें ले रहा है।

जगज्जयी महातेज रावण अपने मणिमहालय के सतखण्डे की छत पर स्वर्ण-सिंहासन पर, अति उद्विग्न बैठा था। देवों के युद्ध मे उसके अंग पर जो वज्र-प्रहार हुए थे, उसकी चोटें अभी उसके शरीर पर ताजा थीं।

इन्द्र के ऐरावत ने जो अपने दाँत उसकी छाती मे गाड़ दिए

थे, उसके चिन्ह भी अभी उसके वक्ष पर थे। वह राजोचित वस्त्राभरणों से सज्जित, सुन्दरी ताम्बूलवाहिनियों, चंवरधारिणियों, प्रासाधिकाओ से परिवृत मूर्त हिम-शैल जैसा दीख रहा था। वन्दीजन उसका स्तुतिगान कर रहे थे, और सब मन्त्री और राजवर्गी पुरुष हाथ बांध अधोमुख दीन भाव से उसके सम्मुख बैठे थे।

अब उसकी बहिन सूपनखा उसके सम्मुख खड़ी हो कहने लगी—

"भाई, मेरी इस दुर्दशा को देख, तू अमिताभ यदि इसे सहन करेगा, तो तू भी उस निष्कासित के हाथों अछूता न बचा रहेगा।"

रावण ने विपन्ना बहिन को खिन्न नेत्रों से देखा, फिर कहा—

"बहिन, धैर्य रख, रावण को क्रुद्ध करके यमराज भी सुख से नहीं जी सकता, तू विस्तार से उस आर्य राजपुत्र का बखान कर। क्या वह आर्यावर्त से आया है? क्या वह सम्पूर्ण देवताओ और यम, कुबेर, दिग्पालो सहित जनस्थान मे आया है?"

"वह दाशरथि राम कहाता है, उसके साथ केवल उसकी पत्नी सीता और एक भाई है। उसने मुनि का वेष धारण किया है, परन्तु है वह धनुर्धारी और प्रचण्ड योद्धा। उसने अकेले ही बात की बात मे हमारे चौदह हजार राक्षसो को खर-दूषण सहित मार डाला है।"

"दाशरथि राम? श्याम गात, सघन कृष्ण काकपक्ष, विशाल-वक्ष, प्रलम्बबाहु?"

"वही है, वही है, उसके कन्धे बैल के समान पुष्ट हैं, भुजाएँ गोल और घुटनो तक लम्बी हैं, सुदर्शना कमनीय कान्ति है। उसे दिव्यास्त्रो का महा ज्ञान है।"

"तो उसके साथ सीता भी वही है—सीरध्वज की अयोनिजा शुल्कवीर्या?' रावण के नेत्रो मे जनकपुरी के यज्ञ मे धनुभंग का

चित्र घूम गया। उसने कहा—"वह स्त्री चम्पकवर्णी, भीरु और अति कोमल-कान्त प्रभा है न ?"

"ऐसा ही है। क्या तू ने उसे देखा है ?"

"ऐसा ही मैं समझता हू, दाशरथी राम ही है वह, परन्तु वह राज्यभ्रष्ट—राज्यबहिष्कृत हो, कैसे दण्डकारण्य में घूम रहा है ?"

"पिता की आज्ञा से।"

"क्या एकाकी ही।"

"बस, वह स्त्री और वह भाई, तीन हैं।"

"तीनों ही ने मेरी प्रबल राक्षस-सेना को मार डाला—खर को भी, दूषण को भी ? बड़े आश्चर्य की बात है।"

"चमत्कार ही कहना चाहिए।"

"कदाचित्। उसका एक चमत्कार मैंने देखा है—ऐसा मुझे स्मरण होता है। परन्तु यह विग्रह हुआ क्यों ?"

"अकारण ही भाई, मुझे सूचना मिली कि यहां जनस्थान में एक नया तरुण तपस्वी आया है, और एक नया आश्रम बना कर रहने लगा है। तेरा आदेश था कि ऐसा न होने दिया जाय। सो मैं स्वयं ही उसे देखने गई। वहां मैंने उसे देवताओं के समान रूपवान् पाया। उसका मुख तेजस्वी, भुजाएं विशाल और नेत्र कमल के समान थे।"

"ठीक है, वही है। वही है।"

"उसे देख मैं सकामा हो गई, मैंने उससे पूछा—हे सुन्दर पुरुष, तपस्वी के वेष में सिर पर जटा धारण किए और संग में स्त्री लिए, धनुषबाण से सुशोभित तू कौन है और यहां मेरे इस जनस्थान में किस प्रयोजन से आ बसा है ?"

"इस कथन में तो कोई दोष नहीं था।"

"तब उस पुरुष ने कहा—सुन्दरी, मैं पराक्रमी महात्मा दशरथ का पुत्र राम हू, मेरे साथ मेरी पतिव्रता पत्नी सीता और

आज्ञाकारी भाई लक्ष्मण है। हमलोग माता-पिता की आज्ञा से प्रेरित हो धर्म-पालनार्थ यहां दण्डकवन में निवास करने आए हैं। अब तुम भी अपना परिचय कहो।"

"उस पुरुष के वचन सुनकर मैंने कहा—मैं विश्रवा मुनि के पुत्र रावण त्रिलोकपति की बहिन सूर्पनखा हूँ। प्रबल कुम्भकर्ण और धर्मात्मा विभीषण मेरे भाई हैं। इस दण्डकारण्य की स्वामिनी मैं ही हूं।"

"ठीक कहा।"

"तब उस पुरुष ने कहा—जान कर प्रसन्न हुआ। अब यहां आने का कारण कहो?"

"तब मैंने अपना अभिप्राय उससे कहा—कि मैं प्रतिष्ठित रक्षवंश की राजपुत्री हूँ; तुझ पर मेरा काम-भाव है, तू मुझे पत्नी-भाव से ग्रहण कर। मेरा बल अप्रमेय है, मेरा भाई त्रिलोकपति है, मुझसे सम्बन्ध करके तू सुप्रतिष्ठ होगा।"

"ठीक कहा, ठीक कहा।"

"परन्तु उस पुरुष ने कहा—मेरी पत्नी मेरे साथ मौजूद है, और तेरी जैसी सुलक्षणा और स्वाधीनभर्तृका के लिए सौत का होना दुःख का कारण हो सकता है।"

"उस पुरुष ने ठीक ही कहा।"

"परन्तु मैंने कहा—इस मानुषी स्त्री का क्या? इसे तो मैं अभी मार कर खा जाऊंगी। फिर तू और मैं साथ-साथ वन, पर्वत-शिखरों में स्वच्छन्द विचरण करेंगे।"

"इसमें अनुचित क्या था?"

"पर उस पुरुष ने कहा—इससे उत्तम तो यह होगा कि यह मेरा छोटा भाई लक्ष्मण है। इसके साथ स्त्री नहीं है, तू इसी से विवाह कर ले। इसके साथ तुझे सौत का डर भी नहीं है। मैंने देखा कि वह पुरुष भी कमनीय है। मैंने उसके निकट जाकर

चित्र घूम गया। उसने कहा—"वह स्त्री चम्पकवर्णी, भीरु और अति कोमल-कान्त प्रभा है न ?"

"ऐसा ही है। क्या तू ने उसे देखा है ?"

"ऐसा ही मैं समझता हू, दाशरथी राम ही है वह, परन्तु वह राज्यभ्रष्ट—राज्यवहिष्कृत हो, कैसे दण्डकारण्य में घूम रहा है ?"

"पिता की आज्ञा से।"

"क्या एकाकी ही।"

"बस, वह स्त्री और वह भाई, तीन हैं।"

"तीनों ही ने मेरी प्रबल राक्षस-सेना को मार डाला—खर को भी, दूषण को भी ? बडे आश्चर्य की बात है।"

"चमत्कार ही कहना चाहिए।"

"कदाचित्। उसका एक चमत्कार मैंने देखा है—ऐसा मुझे स्मरण होता है। परन्तु यह विग्रह हुआ क्यों ?"

"अकारण ही भाई, मुझे सूचना मिली कि यहां जनस्थान में एक नया तरुण तपस्वी आया है, और एक नया आश्रम बना कर रहने लगा है। तेरा आदेश था कि ऐसा न होने दिया जाय। सो मैं स्वय ही उसे देखने गई। वहां मैंने उसे देवताओं के समान रूपवान् पाया। उसका मुख तेजस्वी, भुजाए विशाल और नेत्र कमल के समान थे।"

"ठीक है, वही है। वही है।"

"उसे देख मैं सकामा हो गई, मैंने उससे पूछा—हे सुन्दर पुरुष, तपस्वी के वेष में सिर पर जटा धारण किए और संग में स्त्री लिए, धनुषबाण से सुशोभित तू कौन है और यहां मेरे इस जनस्थान में किस प्रयोजन से आ बसा है ?"

"इस कथन में तो कोई दोष नहीं था।"

"तब उस पुरुष ने कहा—सुन्दरी, मैं पराक्रमी महात्मा दशरथ का पुत्र राम हू, मेरे साथ मेरी पतिव्रता पत्नी सीता और

आज्ञाकारी भाई लक्ष्मण है। हमलोग माता-पिता की आज्ञा से प्रेरित हो धर्म-पालनार्थ यहां दण्डकवन मे निवास करने आए हैं। अब तुम भी अपना परिचय कहो।"

"उस पुरुष के वचन सुनकर मैंने कहा—मैं विश्रवा मुनि के पुत्र रावण त्रिलोकपति की बहिन सूर्पनखा हूँ। प्रबल कुम्भकर्ण और धर्मात्मा विभीषण मेरे भाई हैं। इस दण्डकारण्य की स्वामिनी मैं ही हूं।"

"ठीक कहा।"

"तब उस पुरुष ने कहा—जान कर प्रसन्न हुआ। अब यहां आने का कारण कहो ?"

"तब मैंने अपना अभिप्राय उससे कहा—कि मैं प्रतिष्ठित रक्षवंश की राजपुत्री हूँ; तुझ पर मेरा काम-भाव है, तू मुझे पत्नी-भाव से ग्रहण कर। मेरा बल अप्रमेय है, मेरा भाई त्रिलोकपति है, मुझसे सम्बन्ध करके तू सुप्रतिष्ठ होगा।"

"ठीक कहा, ठीक कहा।"

"परन्तु उस पुरुष ने कहा—मेरी पत्नी मेरे साथ मौजूद है, और तेरी जैसी सुलक्षणा और स्वाधीनभर्तृका के लिए सौत का होना दुःख का कारण हो सकता है।"

"उस पुरुष ने ठीक ही कहा।"

"परन्तु मैंने कहा—इस मानुषी स्त्री का क्या ? इसे तो मैं अभी मार कर खा जाऊंगी। फिर तू और मैं साथ-साथ वन, पर्वत-शिखरों में स्वच्छन्द विचरण करेंगे।"

"इसमें अनुचित क्या था ?"

"पर उस पुरुष ने कहा—इससे उत्तम तो यह होगा कि यह मेरा छोटा भाई लक्ष्मण है। इसके साथ स्त्री नहीं है, तू इसी से विवाह कर ले। इसके साथ तुझे सौत का डर भी नहीं है। मैंने देखा कि वह पुरुष भी कमनीय है। मैंने उसके निकट जाकर

उससे कहा—अरे पुरुष, तू भी मेरे ही समान रूपवान् है, गुण-वान् है, मुझे तेरी भार्या बनना स्वीकार है।"

"तूने उस पर अनुग्रह ही किया।"

"परन्तु उसने कहा—मैं तो दास हूँ। मेरी भार्या बनकर तो तुझे दासी ही बनना पड़ेगा।"

"तेरा अनुग्रह उसने अस्वीकार किया?"

"इस पर मुझे क्रोध आ गया और मैंने कहा—इस मानुषी स्त्री के ऊपर तुमलोग मेरा तिरस्कार करते हो? मुझसे ठट्ठा करते हो? ठहरो, मैं अभी इसे खा डालती हूँ। और जब मैं उस स्त्री पर झपटी, तो उस दाशरथि के संकेत से उसके दुष्ट भाई ने पकड़ कर निर्लज्जतापूर्वक मेरा अंगभंग कर दिया—मेरी नाक काट ली।"

"अक्षम्य है, किन्तु तू कथा शेष कर।"

"अंगभंग हो मुख से रक्त बहाती मैं खर के पास पहुंची, और तुरन्त ही मूर्छित हो गई।"

"असह्य है। मैं इसका प्रतिकार करूंगा।"

"मेरी यह दशा देख, खर ने कहा—अरे, यह क्या हुआ? किस दुष्ट ने तेरी यह दुर्दशा कर डाली। कह, किस मूर्ख को अपने प्राण भारी हैं। देवताओं का स्वामी देवराट् इन्द्र जिस रक्षेन्द्र रावण का बन्दी है, उसकी बहिन के साथ यह धृष्ट अनाचार किसने कर डाला? देव, गन्धर्व और तपस्वियों में ऐसा कौन पराक्रमी आ गया, जिसने तेरी यह दुर्दशा कर दी? आज मेरे यह प्राणान्तक बाण उस अपराधी का प्राण-हरण करेंगे। कह, कह, बहिन, किसका रुधिर आज पृथ्वी पान करेगी? आज मेरे हाथ से, उस अपराधी को देवता, गन्धर्व और राक्षस कोई नहीं बचा सकता। हमारी ही इस भूमि में किसने तुझे पराभूत किया? होश में आ और उस पापिष्ठ का नाम मुझे बता।"

"समीचीन कहा—खर ने।"

"तब रोते-कलपते उसे सब घटना आद्योपान्त मैंने बता दी। यह भी कह दिया कि मैं नहीं जानती कि वे मनुष्य हैं कि देव या गन्धर्व। परन्तु मेरी आकांक्षा है कि जिस पुरुष ने मेरी यह दशा की है मैं उसका हृदय-भक्षण करूंगी। सो वीर, तुम अभी मेरी यह इच्छा पूर्ण करो।"

"मेरी यह बात सुन कर खर ने अपने महाबली चौदह भटों को आदेश दिया, कि जाओ देखो, इस दण्डक-वन में कृष्ण मृग-चर्म धारण किए, शस्त्रसज्जित दो पुरुष आए हैं, उनके साथ एक स्त्री भी है। तुम जाकर उन दोनों पुरुषों को मार डालो और उनका हृदय निकाल लाओ। हमारी बहिन सूर्पनखा, उसका भक्षण करेगी। और उस स्त्री को जीता पकड़ लो, हम उसे रक्षराज को भेंट करेंगे।"

"सो भाई, चौदह राक्षस-भट शस्त्रसज्जित हो जब पंचवटी पहुँचे, तो शूल, कृपाण, शक्ति लेकर राम पर टूट पड़े, परन्तु उस मायावी पुरुष ने बात की बात में उन भटों को मार गिराया। यह सुनकर खर क्रुद्ध हो चौदह सहस्र राक्षसों की सम्पूर्ण सेना लेकर चला और स्त्रीसहित उन तीनों पतितों को घेर लिया। पर भाई, वे तो इस भयानक सैन्य से भी विचलित नहीं हुए। हे भाई, जब महावीर खर, अपना धनुष और बाणों का भार अपने देदीप्यमान रथ पर रख, उत्तम गधों को उसमें जोत, राक्षसवाहिनी को लेकर चला, तो दिशाओं में अंधकार छा गया। राक्षसों की गर्जना से वन-पर्वत कम्पायमान हो गए, धूल के बादलों ने सूर्य को छिपा लिया। परन्तु इस समय बड़े-बड़े अपशकुन हुए। राक्षसों पर अमंगलसूचक रक्तमिश्रित जल की वर्षा हुई। खर के रथ में जुते गधे दौड़ते-दौड़ते अकस्मात् गिर पड़े। रथ की स्वर्ण-ध्वजा पर एक गीध आ बैठा। सेना के सामने मांसाहारी पशु,पक्षी अनेक

विधि डरावने शब्द करने लगे। प्राची दिशा में शृगाल रोने लगे, सूर्य-मण्डल के चारों ओर गोलाकार घेरा दिखाई पड़ने लगा—ऐसा प्रतीत होता था, मानो बिना ही अमावस्या के आज सूर्य को केतु ने ग्रस लिया है। परन्तु इन उत्पातों को देखकर भी खर डरा नहीं। उसने कहा—चाहे जो हो, मैं अपनी प्रिय बहिन सूर्पनखा को इन शत्रुओं का हृत्पिण्ड अवश्य खाने को दूंगा। इस प्रकार खर-दूषण सहित चौदह सहस्र राक्षसों ने राम का आश्रम घेर लिया। जब उन तपस्वियों ने राक्षसों के इस दल-बादल को आते देखा, तो उन्होंने रक्षा और युद्ध की तत्काल व्यवस्था कर ली। छोटा तपस्वी तो उस स्त्री को गिरि-गुहा में बैठा कर, गुहा-द्वार पर धनुष-संधान करके बैठ गया और बड़ा राक्षसों के सम्मुख आ धनुष टंकारने लगा। खर ने जब यह देखा तो उसने सारथी से कहा—हमारा रथ इस हतायु पुरुष के सम्मुख ले चल। और जब उस पुरुष ने खर के रथ को अपनी ओर आते देखा, तो पैने बाण छोड़ कर रथ के गधों को तुरन्त मार गिराया। अब तो खर दूसरे रथ पर चढ़ कर बाण-वर्षा करने लगा। राक्षसों की सैन्य ने भी उसे चारों ओर से घेर कर उसे बाणों से पाट दिया, परन्तु वह तो अद्भुत कौशल और फुर्ती से चारों ओर घूम-घूम कर दिव्यास्त्रों से राक्षसों का हनन करने लगा। सेना के साथ मैंने स्वय रहकर उसका यह चमत्कार देखा। अब मैं तुमसे क्या कहूं—भाई, राक्षसो के छोड़े हुए शस्त्र उस पुरुष में इस प्रकार लय हो जाते थे, जिस प्रकार नदियां समुद्र मे लय हो जाती हैं। उसके शरीर से रक्त की धार बह रही थी, परन्तु उसने कालपाश की भांति जो बाणों की वर्षा की, वे सब अग्नि के समान ज्वलन्त थे। उनसे बिंध कर राक्षस रक्त में लथपथ हो भूमि में लोटते चले गए। इस प्रकार दो प्रहर के युद्ध में उस एकाकी पुरुष ने सब राक्षसो को काट डाला। बहुत से राक्षस चिल्लाते हुए भाग खड़े हुए। बहुत से

पाश, पत्थर, गोफ, मुद्गर ले उस पर पिल पड़े। पर जब उस पुरुष ने तेजस्वी गन्धर्व-अस्त्र का प्रयोग किया, तो चारों ओर आग ही आग फैल गई। इस समय युद्ध-क्षेत्र मे चारो ओर लोथ ही लोथ दीख रही थीं। खर का रथ भंग हो गया, ध्वजा टूट गई, गधे मर गए। तब पैदल खर, दूषण सब बचे हुए राक्षस-भटों को समेट दल बांध, फिर युद्ध करने लगे। इस समय परिघ उठा, दूषण ने विकट पराक्रम दिखाया।"

"यह परिघ बड़ा ही विकराल था। उससे उसने अनेक बार शत्रुओं के नगर के फाटक तोड़े थे, वह उस भयकर लोहे की कीलों-वाले परिघ को लेकर ज्योंही झपटा, तो उस पुरुष ने दश बाण उसके मुख में मारे, जो उसके हलक को चीर कर ब्रह्माण्ड के पार हो गए। फिर फुर्ती से उसने उसके दोनों हाथ काट लिए, तथा नेत्र भी फोड़ दिए। दूषण वहीं भूमि मे गिर कर छटपटाने लगा। इसके बाद महाकाल, स्थूलाक्ष, प्रमाथी, आदि महारथी भटों को लेकर खर आगे बढ़ा। किसी ने पट्टिश उठाया, किसी ने परशु, किसी ने गदा। और खर ने धनुष लिया। पर उस तेजस्वी तपस्वी ने कर्णिक बाणों से सभी को बींध डाला। वे सभी भट झूम-झूम कर प्राण त्यागने लगे। इस प्रकार भाई, देखते ही देखते सारी राक्षसो की सेना कट गई। जो शेष बचे, वे भाग खड़े हुए। केवल दो ही वीर मुर्दों से पटे रण-क्षेत्र में रह गए, त्रिशिरा और खर। परन्तु इन दोनों वीरों को भी राम ने देखते-देखते धराशायी कर दिया। उस पराक्रमी राजकुमार ने उनके हाथपैर काट डाले।"

"इस प्रकार जनस्थान राक्षसों से रहित हो गया। हमारा साम्राज्य भंग हो गया। भाई, युद्ध-क्षेत्र ही मे घावों और रक्त से भरे हुए उस तपस्वी राजकुमार का शरभंग, अगस्त्य आदि तपस्वियो ने अभिनन्दन किया। और मैं तो खोफ के मारे मर गई। मेरा

जीवन धिक्कार के योग्य हो गया। तूने जब मेरे पति का वध किया था, तब उस असह्य दु:ख को न सह कर मैंने चितारोहण करना चाहा था। उस समय तूने मुझे उस काम से रोक दिया था। परन्तु अब-यदि तू भाई, मेरा प्रिय न करेगा, अंगभग करने वाले उस राज्यभ्रष्ट राजकुमार को मारकर उसका हृत्खण्ड मुझे लाकर खाने को न देगा तो मैं अब अपना प्राण- नहीं रखूंगी। अग्नि में जल कर मर जाऊंगी।"

"अरे भाई, तू तो लोक में त्रिविक्रम प्रसिद्ध है। तूने तो तीनों लोकों को जय किया है। अरे, यम और कुबेर को तूने आक्रान्त किया, इन्द्र को बन्दी बनाया, पृथ्वी पर तेरा सामुख्य करनेवाला वीर कौन है? फिर इस दुष्ट तपस्वी वनवासी पुरुष ने मेरा अंग-भग किया है। मैं तो उससे विवाह कर उसे सुप्रतिष्ठ करना चाह रही थी। मैं त्रिलोकीपति रावण, अजेय कुम्भकर्ण की बहिन, इन्द्रजित मेघनाद की बुआ, आज ऐसी विपन्नावस्था को पहुँच गई? अरे, भाई, जब तक तू उस तपस्वी कुकर्मी को मार उसका हृत्खण्ड मुझे खाने को नहीं देता, और उसकी उस मानुषी स्त्री को हरण कर अपनी दासी नहीं बनाता, तब तक तेरा त्रिलोकीपति होने का दम्भ केवल विडम्बना है—और यह तो ध्रुव समझ, कि राक्षसों का अब अन्त ही आ गया है। आज नहीं तो कल, राक्षसों का अब पराभव ही होगा।"

बहिन सूर्पनखा के मन्त्रियों के समक्ष ऐसे मर्मान्तक वचन सुनकर रक्षेन्द्र रावण वज्र-गर्जना कर उठा। उसने कहा—"मैं अग्नि को भी भस्म कर सकता हूँ, सूर्य के प्रकाश को बुझा सकता हूँ। मृत्यु मेरे भय से कांपती है। सो मेरे रहते, उस क्षुद्र मनुष्य ने तेरी ऐसी दुर्दशा कर डाली। महाबली खर, दूषण और त्रिशिरा सहित मेरे चौदह सहस्र राक्षसों को अकेले ही मार डाला। यह तो उस चमत्कार से भी बढ़कर है, जो मैंने जनकपुर में देखा था।

जीवन धिक्कार के योग्य हो गया। तूने जब मेरे पति का वध किया था, तब उस असह्य दुःख को न सह कर मैंने चितारोहण करना चाहा था। उस समय तूने मुझे उस काम से रोक दिया था। परन्तु अब-यदि तू भाई, मेरा प्रिय न करेगा, अंगभग करने वाले उस राज्यभ्रष्ट राजकुमार को मारकर उसका हृत्खण्ड मुझे लाकर खाने को न देगा तो मैं अब अपना प्राण नहीं रखूंगी। अग्नि में जल कर मर जाऊंगी।"

"अरे भाई, तू तो लोक में त्रिविक्रम प्रसिद्ध है। तूने तो तीनों लोकों को जय किया है। अरे, यम और कुबेर को तूने आक्रान्त किया, इन्द्र को बन्दी बनाया, पृथ्वी पर तेरा सामुख्य करनेवाला वीर कौन है ? फिर इस दुष्ट तपस्वी वनवासी पुरुष ने मेरा अंग-भंग किया है। मैं तो उससे विवाह कर उसे सुप्रतिष्ठ करना चाह रही थी। मैं त्रिलोकीपति रावण, अजेय कुम्भकर्ण की बहिन, इन्द्रजित मेघनाद की बुआ, आज ऐसी विपन्नावस्था को पहुँच गई ? अरे, भाई, जब तक तू उस तपस्वी कुकर्मी को मार उसका हृत्खण्ड मुझे खाने को नहीं देता, और उसकी उस मानुषी स्त्री को हरण कर अपनी दासी नहीं बनाता, तब तक तेरा त्रिलोकीपति होने का दम्भ केवल विडम्बना है—और यह तो ध्रुव समझ, कि राक्षसों का अब अन्त ही आ गया है। आज नहीं तो कल, राक्षसों का अब पराभव ही होगा।"

बहिन सूर्पनखा के मन्त्रियों के समक्ष ऐसे मर्मान्तक वचन सुनकर रक्षेन्द्र रावण वज्र-गर्जना कर उठा। उसने कहा—"मैं अग्नि को भी भस्म कर सकता हूँ, सूर्य के प्रकाश को बुझा सकता हूँ। मृत्यु मेरे भय से कांपती है। सो मेरे रहते, उस क्षुद्र मनुष्य ने तेरी ऐसी दुर्दशा कर डाली। महाबली खर, दूषण और त्रिशिरा सहित मेरे चौदह सहस्र राक्षसों को अकेले ही मार डाला। यह तो उस चमत्कार से भी बढ़कर है, जो मैंने जनकपुर में देखा था।

सुपूजित मानते थे। प्रसिद्ध था कि वह कोई भारी राजा था। वास्तव में वह वृद्ध तपस्वी और कोई नहीं, राक्षस मारीचि था। नैमिषारण्य के अभियान के बाद रावण के जगज्जय हो जाने पर इसने सब भांति कर्म-सन्यास ले लिया था और अब वह बड़े निरीह भाव से वहां रहता था।

अकस्मात् रावण ने इस शान्त आश्रम मे प्रवेश किया। उसके स्वर्णरथ की घण्टिकाएं किंकिरित होती हुईं, दिशाओं को प्रतिध्वनित करने लगीं। रथ का घोष सुन, जटाजूट और वल्कल-वसन पहिने वृद्ध मारीचि गुहा से बाहर आया और उसने सुभद्र वट के नीचे राक्षसराज रावण की अभ्यर्थना की। मारीचि के साथ आश्रम में और भी बहुत नाग, दैत्य, राक्षस तपस्वी रहते थे। वे बहुत सूक्ष्म भोजन करते, धर्माचरण में रत रहते तथा वेदाध्ययन करते थे। वे सब भी आश्रम की स्त्रियो, तपस्विनियों सहित रक्षेन्द्र रावण की अभ्यर्थना को एकत्र हो गए।

मारीचि ने अपने साथी तपस्वी राक्षसो और वेदपाठी दैत्यों, नागकुमारों, के साथ रावण की भारी अभ्यर्थना की। अलौकिक भोग-सामग्रियों के द्वारा राजा का विधिवत् पूजन किया। अन्न-जल से सत्कार किया। फिर मारीचि ने स्वस्थ होने पर पूछा—"हे राक्षसराज, लंका मे कुशल तो है? यहां किस अभिप्राय से आना हुआ? क्या मुझ अकिंचन दास से कुछ प्रयोजन आ उपस्थित हुआ? वह सब विस्तार से कहिए।"

रावण ने चतुराई से मारीचि की प्रशंसा करते हुए कहा—"तात मारीचि, मैं तुमसे क्या कहूं? मैं इस समय अत्यन्त दुखी हूं। तुम्हें ज्ञात है, जनस्थान में खर, दूषण और त्रिशिरा के साथ सूर्पनखा हमारी बहिन रहती थी। वहां कोई बहिष्कृत मानव दाशरथिराम अपनी भार्या और भाई सहित आया है। उसने मेरे सब राक्षसों का खर-दूषण सहित बध कर डाला, तथा सूर्प-

७३

सुभद्र वट

धनुष्कोटि के निकट, समुद्र-तीर से कुछ हट कर एक रमणीय वन था, वन मे एक निर्मल सरोवर था, सरोवर के तट पर एक विराट सुभद्र वट था। इस सुभद्र वट की चार सौ शाखाए थीं, तथा इसका विस्तार सात योजन भूमि पर था। यह वट बहुत प्राचीन था। प्रसिद्ध था, कि इसी के नीचे बालखिल्य ऋषियों ने तप किया था। बहुत दिन यहा गरुड़ेन्द्र ने निवास किया था। वट के चारों ओर रम्य पर्वतश्रेणियां थीं। सम्मुख ही नील-नीरज का अनन्त विस्तार था। जिस भूमि-भाग पर यह मनोरम सरोवर और महावट था, वह बहुत दूर तक समुद्र में धंसा हुआ था। समुद्र के तट को छूती हुई अनेक पर्वत-शृखलाएं थीं। चारों ओर तमाल के पुष्प खिले थे। गोलमिर्च की लताए जहां-तहां सुशोभित थीं। पर्वत-श्रेणियों के आस-पास ढेरों मोती, सीप सूख रहे थे। मूंगों के भी वहां ढेर लगे थे। स्थान-स्थान पर स्वच्छ जल के झरने नेत्रों को आनन्द दे रहे थे। निकट ही पुर एवं नगर था। नगर बड़ा सम्पन्न था। उसके नागरिक हाथी, घोड़ों, रथों आदि पर सवार हो अपने कामों से राजपथ पर आ-जा रहे थे। सब मिला कर इस स्थान की शोभा अतुलनीय थी।

सुभद्र वट की प्रतिष्ठा तो बहुत पुरानी थी ही, परन्तु इस समय यहां एक परम ज्ञानी और वीतरागी तपस्वी तप कर रहा था। वह सब ऐषणाओ से रहित, एकान्तवासी हो, मूक-मौन सर्वभूत-दयारत निरीह भाव से रहता था। वह वूढ़ा और तेजस्वी था। दूर-दूर तक उसकी ख्याति थी और लोग उसे राजर्षि की भांति

सुपूजित मानते थे। प्रसिद्ध था कि वह कोई भारी राजा था। वास्तव में वह वृद्ध तपस्वी और कोई नहीं, राक्षस मारीचि था। नैमिषारण्य के अभियान के बाद रावण के जगज्जय हो जाने पर इसने सब भांति कर्म-सन्यास ले लिया था और अब वह बड़े निरीह भाव से वहां रहता था।

अकस्मात् रावण ने इस शान्त आश्रम में प्रवेश किया। उसके स्वर्णरथ की घण्टिकाएं किंकिरित होती हुई, दिशाओं को प्रतिध्वनित करने लगीं। रथ का घोष सुन, जटाजूट और वल्कल-वसन पहिने वृद्ध मारीचि गुहा से बाहर आया और उसने सुभद्र वट के नीचे राक्षसराज रावण की अभ्यर्थना की। मारीचि के साथ आश्रम में और भी बहुत नाग, दैत्य, राक्षस तपस्वी रहते थे। वे बहुत सूक्ष्म भोजन करते, धर्माचरण में रत रहते तथा वेदाध्ययन करते थे। वे सब भी आश्रम की स्त्रियों, तपस्विनियों सहित रक्षेन्द्र रावण की अभ्यर्थना को एकत्र हो गए।

मारीचि ने अपने साथी तपस्वी राक्षसों और वेदपाठी दैत्यों, नागकुमारों, के साथ रावण की भारी अभ्यर्थना की। अलौकिक भोग-सामग्रियों के द्वारा राजा का विधिवत् पूजन किया। अन्न-जल से सत्कार किया। फिर मारीचि ने स्वस्थ होने पर पूछा—"हे राक्षसराज, लंका में कुशल तो है? यहां किस अभिप्राय से आना हुआ? क्या मुझ अकिंचन दास से कुछ प्रयोजन आ उपस्थित हुआ? यह सब विस्तार से कहिए।"

रावण ने चतुराई से मारीचि की प्रशंसा करते हुए कहा—"तात मारीचि, मैं तुमसे क्या कहूं? मैं इस समय अत्यन्त दुखी हूं। तुम्हें ज्ञात है, जनस्थान में खर, दूषण और त्रिशिरा के साथ सूर्पनखा हमारी बहिन रहती थी। वहां कोई बहिष्कृत मानव दाशरथिराम अपनी भार्या और भाई सहित आया है। उसने मेरे सब राक्षसों का खर-दूषण सहित वध कर डाला, तथा सूर्प-

७३

सुभद्र वट

धनुष्कोटि के निकट, समुद्र-तीर से कुछ हट कर एक रमणीय वन था, वन में एक निर्मल सरोवर था, सरोवर के तट पर एक विराट सुभद्र वट था। इस सुभद्र वट की चार सौ शाखाएं थीं, तथा इसका विस्तार सात योजन भूमि पर था। यह वट बहुत प्राचीन था। प्रसिद्ध था, कि इसी के नीचे बालखिल्य ऋषियों ने तप किया था। बहुत दिन यहां गरुड़ेन्द्र ने निवास किया था। वट के चारों ओर रम्य पर्वतश्रेणियां थीं। सम्मुख ही नील-नीरज का अनन्त विस्तार था। जिस भूमि-भाग पर यह मनोरम सरोवर और महावट था, वह बहुत दूर तक समुद्र मे धसा हुआ था। समुद्र के तट को छूती हुई अनेक पर्वत-शृंखलाए थीं। चारों ओर तमाल के पुष्प खिले थे। गोलमिर्च की लताएं जहां-तहां सुशोभित थीं। पर्वत-श्रेणियों के आस-पास ढेरों मोती, सीप सूख रहे थे। मूंगों के भी वहां ढेर लगे थे। स्थान-स्थान पर स्वच्छ जल के झरने नेत्रों को आनन्द दे रहे थे। निकट ही पुर एवं नगर था। नगर बड़ा सम्पन्न था। उसके नागरिक हाथी, घोड़ों, रथों आदि पर सवार हो अपने कामों से राजपथ पर आ-जा रहे थे। सब मिला कर इस स्थान की शोभा अतुलनीय थी।

सुभद्र वट की प्रतिष्ठा तो बहुत पुरानी थी ही, परन्तु इस समय यहा एक परम ज्ञानी और वीतरागी तपस्वी तप कर रहा था। वह सब ऐषणाओ से रहित, एकान्तवासी हो, मूक-मौन सर्वभूत-दयारत निरीह भाव से रहता था। वह बूढ़ा और तेजस्वी था। दूर-दूर तक उसकी ख्याति थी और लोग उसे राजर्षि की भांति

सुपूजित मानते थे। प्रसिद्ध था कि वह कोई भारी राजा था। वास्तव में वह वृद्ध तपस्वी और कोई नहीं, राक्षस मारीचि था। नैमिषारण्य के अभियान के बाद रावण के जगज्जय हो जाने पर इसने सब भांति कर्म-सन्यास ले लिया था और अब वह बड़े निरीह भाव से वहां रहता था।

अकस्मात् रावण ने इस शान्त आश्रम में प्रवेश किया। उसके स्वर्णरथ की घण्टिकाएं किंकिरित होती हुई, दिशाओं को प्रतिध्वनित करने लगीं। रथ का घोष सुन, जटाजूट और वल्कल-वसन पहिने वृद्ध मारीचि गुहा से बाहर आया और उसने सुभद्र वट के नीचे राक्षसराज रावण की अभ्यर्थना की। मारीचि के साथ आश्रम में और भी बहुत नाग, दैत्य, राक्षस तपस्वी रहते थे। वे बहुत सूक्ष्म भोजन करते, धर्माचरण में रत रहते तथा वेदाध्ययन करते थे। वे सब भी आश्रम की स्त्रियों, तपस्विनियों सहित रक्षेन्द्र रावण की अभ्यर्थना को एकत्र हो गए।

मारीचि ने अपने साथी तपस्वी राक्षसों और वेदपाठी दैत्यों, नागकुमारों, के साथ रावण की भारी अभ्यर्थना की। अलौकिक भोग-सामग्रियों के द्वारा राजा का विधिवत् पूजन किया। अन्न-जल से सत्कार किया। फिर मारीचि ने स्वस्थ होने पर पूछा—"हे राक्षसराज, लंका में कुशल तो है? यहां किस अभिप्राय से आना हुआ? क्या मुझ अकिंचन दास से कुछ प्रयोजन आ उपस्थित हुआ? वह सब विस्तार से कहिए।"

रावण ने चतुराई से मारीचि की प्रशंसा करते हुए कहा—"तात मारीचि, मैं तुमसे क्या कहूं? मैं इस समय अत्यन्त दुखी हूं। तुम्हें ज्ञात है, जनस्थान में खर, दूषण और त्रिशिरा के साथ सूर्पनखा हमारी बहिन रहती थी। वहां कोई बहिष्कृत मानव दाशरथिराम अपनी भार्या और भाई सहित आया है। उसने मेरे सब राक्षसों का खर-दूषण सहित वध कर डाला, तथा सूर्प-

नखा का अंग-भंग कर उसे विरूप कर दिया है। यह वही दाशरथि राम प्रतीत होता है, जिसे मैंने जनकपुर में देखा था। उसी ने तुम्हें नैमिषारण्य से वंचित किया। तुम्हारा भी वह चिरशत्रु है। अब सुना है कि उसके पिता ने उसे पत्नी सहित अपने राज्य से निकाल बाहर किया है, इससे अब वह विपन्न और असहाय है। पर उसी ने मेरी सेना का संहार किया है। उसने पुरुष-मर्यादा के विपरीत कामाभिलाषिणी सूर्पनखा को अंग-भंग करके अपरूप कर दिया है। इसलिए, मैं भी बदला लेने के विचार से उसकी देवबाला-सी सुरूपा सुलक्षणा स्त्री को चुपचाप चुरा ले जाने का मनोरथ करके निकला हूँ। अब तुम मेरे इस काम में सहायता करो। पराक्रम में, विरोध मे और बदला लेने में तुम्हारे समान पृथ्वी पर कोई नहीं है। तुम्हारे अकेले के पास रहने पर मैं देव, गन्धर्व किसी को कुछ नहीं गिनता। तुम बुद्धिमान भी बहुत हो। नाना प्रकार के उपाय सोचने मे तुम्हें भला कौन पा सकता है? इसीलिए तात मारीचि, मैं तुम्हारे पास आया हू। मैंने एक उत्तम योजना बनाई है कि तुम स्वर्ण-मृग का रूप धारण कर उस हत-भाग तपस्वी की स्त्री की दृष्टि में आओ। वह जरूर ही अपने पति से मृग को पकड़ लाने को कहेगी। बस, दोनों भाई मृग का पीछा करेंगे। उन्हें तुम भटका कर जरा दूर ले जाना। इसी बीच मैं अवसर पाकर, उस स्त्री को चुरा कर चल दूगा। फिर तो राम दाशरथि, उसके वियोग में दुखी होकर दुर्बल हो जायगा। तब मैं सहज ही में उसे मार डालूँगा।"

रावण की इन बातों को सुन कर वृद्ध मारीचि भयभीत हो रावण के मुख की ओर ताकने लगा। उसका कण्ठ सूख गया, उसके मुँह से बात न निकली। फिर उसने नम्रता-पूर्वक रावण से कहा—"हे रक्षेन्द्र, अभी आपने उस राम को पहिचाना नहीं है, तभी आप ऐसा कहते हैं। ससार में प्रिय वचन बोलने वाले बहुत हैं, परन्तु अप्रिय

सत्य बोलने वाले विरले ही होते हैं। खेद है कि आप ऐसे तेजस्वी राजा होकर भी गुप्तचर नहीं रखते। आप स्वयं चंचल और अस्थिरचित्त भी हैं। इसी से राम के विक्रम से बेखबर हैं। इसी से यह दुर्बुद्धि आप को सूझी है। कहीं जनकनन्दिनी सीता आपके लिए काल होकर तो नहीं जन्मी है, जो आपने ऐसा विचार किया। निश्चय जानिए कि यदि आपने ऐसा किया, तो आपकी लंका-पुरी, जो स्वर्ण, धन और वैभव मे अमरावती से भी बढ़-चढ़ कर है, मिट्टी में मिल जायगी। सो राजन्, मैं आपके हित की कहता हूँ, कि आप आग को पल्ले मे मत बांधिए। और चुपचाप लंका लौट कर धर्मपूर्वक प्रजा का पालन कीजिए।"

"आप मेरा ही उदाहरण लीजिए। अपने बल-विक्रम का मुझे भी कभी गर्व था। तब मैं पर्वताकार शरीर धारण किए पृथ्वी पर विचरण करता था, मुझमे दस हाथियों का बल था, और मेरे ही भय से विश्वामित्र दाशरथि राम को नैमिषारण्य लाए थे। उस समय तो उसकी किशोरावस्था थी—अभी तक मैं उस एक वस्त्र-धारी, सांवले से तरुण को, जिसकी बड़ी-बड़ी आंखें थीं, नहीं भूला हूँ, जिसकी शोभा नवोदित बाल-चन्द्र के समान थी। मुझे तो यह अहंकार था ही, कि मुझे देवता भी नहीं मार सकते। फिर मैं इस दाशरथि को भला क्या समझता? मैंने इसे बड़ी ही उपेक्षा से देखा, पर इसने जो बाण मुझे मारा, तो उस बाण के वेग से अचेत होकर मैं एक योजन दूर फेंका जाकर अथाह जल में आ गिरा। उसने मुझे मारना ही नहीं चाहा, इसी से मैं मरा नहीं। इसमे मेरी आपको यह सीख है, कि इस पुरुष से वैर मत बढ़ाइए। उसका पुरुषार्थ तो आप जनकपुर में देख ही चुके हैं। और फिर जिसने खर-दूषण-जैसे राक्षसों, महारथियों के साथ चौदह सहस्र राक्षस भटों को मार डाला, उसके विक्रम में अब क्या सन्देह रहा? सो आप यदि इस पुरुष से वैर बढ़ाएँगे,

नखा का अंग-भंग कर उसे विरूप कर दिया है। यह वही दाशरथि राम-प्रतीत होता है, जिसे मैंने जनकपुर में देखा था। उसी ने तुम्हें नैमिषारण्य से वंचित किया। तुम्हारा भी वह चिरशत्रु है। अब सुना है कि उसके पिता ने उसे पत्नी सहित अपने राज्य से निकाल बाहर किया है, इससे अब वह विपन्न और असहाय है। पर उसी ने मेरी सेना का संहार किया है। उसने पुरुष-मर्यादा के विपरीत कामाभिलाषिणी सूर्पनखा को अंग-भंग करके अपरूप कर दिया है। इसलिए, मैं भी बदला लेने के विचार से उसकी देवबाला-सी सुरूपा सुलक्षणा स्त्री को चुपचाप चुरा ले जाने का मनोरथ करके निकला हूँ। अब तुम मेरे इस काम में सहायता करो। पराक्रम मे, विरोध मे और बदला लेने में तुम्हारे समान पृथ्वी पर कोई नहीं है। तुम्हारे अकेले के पास रहने पर मैं देव, गन्धर्व किसी को कुछ नहीं गिनता। तुम बुद्धिमान भी बहुत हो। नाना प्रकार के उपाय सोचने में तुम्हें भला कौन पा सकता है? इसीलिए तात मारीचि, मैं तुम्हारे पास आया हूं। मैंने एक उत्तम योजना बनाई है कि तुम स्वर्ण-मृग का रूप धारण कर उस हत-भाग तपस्वी की स्त्री की दृष्टि में आओ। वह जरूर ही अपने पति से मृग को पकड़ लाने को कहेगी। बस, दोनों भाई मृग का पीछा करेंगे। उन्हें तुम भटका कर जरा दूर ले जाना। इसी बीच मैं अवसर पाकर उस स्त्री को चुरा कर चल दूंगा। फिर तो राम दाशरथि, उसके वियोग में दुखी होकर दुर्बल हो जायगा। तब मैं सहज ही में उसे मार डालूँगा।"

रावण की इन बातों को सुन कर वृद्ध मारीचि भयभीत हो रावण के मुख की ओर ताकने लगा। उसका कण्ठ सूख गया, उसके मुँह से बात न निकली। फिर उसने नम्रता-पूर्वक रावण से कहा—"हे रक्षेन्द्र, अभी आपने उस राम को पहिचाना नहीं है, तभी आप ऐसा कहते हैं। संसार में प्रिय वचन बोलने वाले बहुत हैं, परन्तु अप्रिय

सत्य बोलने वाले विरले ही होते हैं। खेद है कि आप ऐसे तेजस्वी राजा होकर भी गुप्तचर नहीं रखते। आप स्वयं चंचल और अस्थिरचित्त भी हैं। इसी से राम के विक्रम से बेखबर हैं। इसी से यह दुर्बुद्धि आप को सूझी है। कहीं जनकनन्दिनी सीता आपके लिए काल होकर तो नहीं जन्मी है, जो आपने ऐसा विचार किया। निश्चय जानिए कि यदि आपने ऐसा किया, तो आपकी लंका-पुरी, जो स्वर्ण, धन और वैभव मे अमरावती से भी बढ़-चढ़ कर है, मिट्टी मे मिल जायगी। सो राजन्, मैं आपके हित की कहता हूँ, कि आप आग को पल्ले में मत बांधिए। और चुपचाप लंका लौट कर धर्मपूर्वक प्रजा का पालन कीजिए।"

"आप मेरा ही उदाहरण लीजिए। अपने बल-विक्रम का मुझे भी कभी गर्व था। तब मैं पर्वताकार शरीर धारण किए पृथ्वी पर विचरण करता था, मुझमें दस हाथियों का बल था, और मेरे ही भय से विश्वामित्र दाशरथि राम को नैमिषारण्य लाए थे। उस समय तो उसकी किशोरावस्था थी—अभी तक मैं उस एक वस्त्र-धारी, सांवले से तरुण को, जिसकी बड़ी-बड़ी आंखें थीं, नहीं भूला हूँ, जिसकी शोभा नवोदित बाल-चन्द्र के समान थी। मुझे तो यह अहंकार था ही, कि मुझे देवता भी नहीं मार सकते। फिर मैं इस दाशरथि को भला क्या समझता? मैंने इसे बड़ी ही उपेक्षा से देखा, पर इसने जो बाण मुझे मारा, तो उस बाण के वेग से अचेत होकर मैं एक योजन दूर फेंका जाकर अथाह जल में आ गिरा। इसने मुझे मारना ही नहीं चाहा, इसी से मैं मरा नहीं। इससे मेरी आपको यह सीख है, कि इस पुरुष से वैर मत बढ़ाइए। उसका पुरुषार्थ तो आप जनकपुर में देख ही चुके हैं। और फिर जिसने खर-दूषण-जैसे राक्षसों, महारथियों के साथ चौदह सहस्र राक्षस भटों को मार डाला, उसके विक्रम में अब क्या सन्देह रहा? सो आप यदि इस पुरुष से वैर बढ़ाएंगे,

तो बैठे-ठाले आपत्ति में ही फंसेंगे, और अंत में घोर परिश्रम से पाई प्रतिष्ठा तथा सम्भवतः प्राणों से भी हाथ धो बैठेंगे। रक्षेन्द्र, अब और पराई स्त्री का लोभ न कीजिए। आपके अवरोध में अनगिनत स्त्रियां हैं, उन्हीं पर संतोष कीजिए और राक्षसों की जिसमें श्रीवृद्धि हो तथा राक्षसों की मान-प्रतिष्ठा बढ़े, वही कीजिए। मैं आपका शुभचिन्तक हू, इससे यह भली सी सीख दे रहा हूँ।"

मारीचि के ये वचन सुन कर रावण ने क्रुद्ध होकर कहा—"अरे राक्षसकुल-कलंक, कायर, तू मुझे उस पतित एकाकी बहिष्कृत राम दाशरथि से भयभीत करता है? मैं अवश्य उसकी स्त्री को हरण करूंगा। मैंने तुझसे सम्मति नहीं मांगी—अब तू मेरा सचिव नहीं है। क्या तू इतना भी नहीं समझता कि राजा के पूछने पर ही अपना अभिप्राय प्रकट करना चाहिए? और चतुर राजपुरुष तो वह है जो राजा के सम्मुख सदा अनुकूल, मधुर, उत्तम, हितकारी भाषण करे। राजा की बात को काट कर हितकारी बात भी आक्षेपयुक्त भाषा में कही जाय, तो भी वह राजा को मान्य नहीं होती। क्या तू नहीं जानता कि राजा में अग्नि और भय का-सा तेज रहता है? इसलिए उसमें पराक्रम, सौम्य, भव, दण्ड और प्रसाद सदा विद्यमान रहते हैं। इसी से सदैव राजा का सम्मान और पूजन करना चाहिए। किन्तु तू, यह मन्त्री-धर्म भी भूल गया। मैं राजा हूं, तेरा अतिथि हूँ, यह भी विचार तूने नहीं किया; तथा ऐसी कठोर बात कह गया। अरे, मैं तुझसे अपने कर्तव्य के गुण-दोष नहीं पूछता, केवल सहायता चाहता हू। तुझे किस प्रकार मेरी सहायता करनी होगी, वह भी सुन। तू स्वर्ण का मृग बन कर राम के आश्रम में इस प्रकार विचरण कर, कि वह स्त्री तुझे देख ले, वह स्वर्ण का विचित्र मृग देख अवश्य कौतूहलवश हो, उस मृग को लाने को अपने पति से कहेगी

और जब वह आश्रम से तेरा पीछा करेगा, तब तू उसे दूर ले जाना। बस, मैं अपना काम इसी बीच बना लूंगा। इतना काम मेरा करके तू जहां चाहे चला जाना। मैं तुझे यथेष्ट पुरष्कार दूंगा। और यदि तू मेरी आज्ञा का पालन न करेगा तो मैं अवश्य तेरा वध करूंगा।"

रावण के इस प्रकार क्रोधपूर्ण वचन सुन कर मारीचि ने कहा—"मैं बूढ़ा हुआ, और अब तपस्वी का जीवन व्यतीत करता हूं। इन प्रपंचों से भला मेरा क्या सम्बन्ध है। खेद है कि आप के मन्त्री आपको अच्छी सीख नहीं देते और आपकी बुद्धि भी मोह ने कुंठित कर दी है। इस काम में मेरी तो निश्चय ही मृत्यु है, परन्तु आप यदि सीता को हरण करने में सफल भी हो गए तो न आप बचेंगे, न आपकी लंका। आपकी सारी ही सम्पदा-श्री चली जायगी। आपकी स्थापित रक्ष संस्कृति की भी समाप्ति हो जायगी। परन्तु अब इन बातों से क्या? आप यह घोर कर्म करने पर तुले ही बैठे हैं तो चलिए, मेरे द्वारा आपका कोई प्रिय कार्य हो तो मैं प्राण देकर भी करूंगा।"

मारीचि के ये वचन सुन रावण प्रसन्न हो गया। उसने कहा—"यही उचित है, अब तुम मेरे साथ इस रत्नजटित रथ पर बैठ जाओ। मेरा यह कार्य करने पर तुम स्वच्छन्द हो तपस्वी-जीवन व्यतीत करना। मैं सदैव तुम्हारी रक्षा करूंगा।" इतना कह—रावण मारीचि को रथ पर बैठा दण्डकारण्य की ओर चल दिया।

●

७४

रत्न-कूट द्वीप

सुभद्र वट-कानन में मारीचि राक्षस का मित्र शवरों का राजा पुलिंदक रहता था। पुलिंदक जल-दस्यु का धंधा करता था। उसके बहुत से सेवक धनुष-बाण लिए समुद्र में दूर-दूर तक तरणियों में बैठ आते-जाते जलयात्री को लूट लेते तथा लूटे हुए स्वर्ण-रत्न अपने स्वामी पुलिंदक के चरणों मे ला धरते थे। इस प्रकार लूटे हुए धन से वह अत्यन्त सम्पन्न और धनी हो गया था। उसका रंग एकदम काला, नेत्र लाल, तथा अग पर बडे-बड़े बाल थे। उसकी भौंह बहुत मोटी, मूछें कड़ी तथा दांत उग्र थे। वह शरीर से एक सांढ़ के समान बलवान् था। उसके सेवक शवर लोग भी बड़े क्रूर और साहसी थे। दस्यु-वृत्ति में वे परम चतुर थे, उनके भय से बड़े-बडे प्रवाह भी समुद्र में निर्विघ्न यात्रा करने का साहस नहीं कर सकते थे।

पुलिंदक का मित्र विद्याधरों का राजा उदयवर्धन था। उदयवर्धन भी बड़ा सम्पन्न और धनी था। धनुष्कोटि के निकट ही उसका नगर था, जहां वह बड़े ठाठ से अपनी सुन्दरी रमणियों के साथ आनन्द-विहार करता था। इन दोनों पुरुषों की मित्रता की कहानी भी बड़ी अद्भुत है। एक बार उदयवर्धन मृगया के लिए वन में गया था। वहां शवरों ने उसे घेर कर लूट लिया और उसे बांध कर शिश्नदेव के सम्मुख बलि देने को ले आए। पर जब उसे यूप में बांध, वे उसका वध करने लगे, तो पुलिंदक आ गया तथा राजा का कमनीय गौर वर्ण, अल्प वय देख तथा उसका परिचय पाकर उसे मुक्त कर दिया, तथा अग्नि की साक्षी में मित्रता भी

कर ली। पुलिंदक से मित्रता स्थापित कर राजा उदयवर्धन अपनी नगरी में चला आया। पुलिंदक ने उसे बहुत-से बहुमूल्य गजमुक्ता और कस्तूरी उपहारस्वरूप दिए। परन्तु संयोग की बात ऐसी हुई कि कुछ काल बाद पुलिंदक को दस्यु-वृत्ति करने के अपराध मे राजा उदयवर्धन के सेवकों ने पकड़ा। नगरपाल ने उसे शूली पर चढ़ाने की आज्ञा दे दी। परन्तु जब राजा ने यह सुना तो उसने प्रकट मे तो उस चोर को मित्र नहीं व्यक्त किया। परन्तु चुपचाप छद्म नाम से एक लाख स्वर्ण उत्कोच देकर उसे भगा दिया। पुलिंदक ने इसका बड़ा आभार माना और वह विद्याधरों के उस राजा को कृतज्ञतास्वरूप कोई मूल्यवान् उपहार देने की सोचने लगा।

उन्हीं दिनों सुभद्र वट के निकट ही एक गिरि-कन्दरा में एक विकट कृत्या रहती थी। उस कृत्या का प्रभाव और सामर्थ्य दूर-दूर तक फैला हुआ था। वह नर-मांस ही भक्षण करती तथा नित्य नर-बलि देती थी। सब लोग उसे सर्वसिद्धिदात्री समझते थे और जब वह नर-मांस की आहुति अग्नि मे डालकर 'कंदर्पयामि' 'कंदर्पयामि' का उद्घोष करती थी, तब अर्थीगण बद्धांजलि अपने-अपने अभिप्राय निवेदन करते तथा मनोरथ पूर्ण करते थे।

पुलिंदक इस कृत्या का अनन्योपासक था। प्रति मास अमावस्या के दिन वह एक सुन्दर बलि अवश्य ही कृत्या को भेजता था। इसमें उसे कुछ कष्ट और असुविधा नहीं होती थी। उसके सेवक दस्यु शबर इधर-उधर लूटमार कर बहुत पुरुषों को पकड़ लाते थे। उन्हीं मे से एक सुन्दर तरुण पुरुष को वस्त्राभूषणों से अलंकृत कर चन्दनचर्चित कर रक्तबधूक पुष्पमाल पहिना कृत्या की सेवा में भेज देता था। इस प्रकार अलभ्य बलि-पुरुष को पा कृत्या अति संतुष्ट हो प्रथम उस बलि-पुरुष के साथ मद्यपान कर रति-विलास करती, फिर उसकी बलि शिश्नदेव को दे उसका उष्ण

पान कर प्रसन्न होती तथा बलि-मांस का ही भोजन करती थी।

इस प्रकार कृत्या को पुलिंदक ने अपने वशीभूत कर रखा था। अब उदयवर्धन के अनुग्रह से प्राण-त्राण पाकर शबर पुलिंदक स्वयं कुछ उत्तम बलि-पुरुष साथ ले कृत्या की सेवा में आ उपस्थित हुआ। इस समय वह कृत्या यज्ञ-भूमि में बैठी थी। व्याघ्रचर्म पर, एकदम नग्न, बाल खोले, माथे पर बड़ा-सा सिन्दूर-तिलक, मिली हुई बहुत मोटी भृकुटी, टेढ़ी और चपटी नाक, स्थूल कपोल, भयानक ओष्ठ, बड़े-बड़े दांत, लम्बी गर्दन,नाभि तक लटकते स्तन, महाउदर, फूले हुए बड़े-बड़े पैर। वह नेत्रों को बन्द किए मन्त्रपाठ कर रही थी। सम्मुख वेदी पर ताजा कटा नर-मुण्ड रखा था। निकट ही भाण्डों में बलि-मांस पक रहा था। शबरपति पुलिंदक को देख, और नए बलि-पुरुषों का प्रसाद पा कृत्या प्रसन्न हो गई। उसने पुलिंदक को स्नान करा विवसन चक्र के भीतर बैठा, उसी से शिश्नदेव का अभिषेक करा, मन्त्रपूत जल का मार्जन कर उसे नर-मांस का प्रसाद खिलाया। फिर कहा—

"कदर्पयामि ! कंदर्पयामि ! किं ते प्रियं करोमि।"

यह कृत्या वास्तव में एक ऋषिपत्नी थी। इसका पति वेदर्षि था। बहुत नाग,रक्ष,यक्ष, दैत्य, दानव, बटुक उसके पास वेदाध्ययन करने आते थे। पीछे वह राक्षस हो गया और घर ही में शिश्न-देव की स्थापना कर वाम-विधि से सपत्नीक मण्डल बना शिश्नदेव का पूजन-यजन करने तथा नर-बलि दे नर-मांस-भक्षण करने लगा था। उसकी मृत्यु होने पर अब यह उसकी पत्नी कृत्या अपनी दैवी शक्तियों से बहुत पूजार्हा हो गई थी।

पुलिंदक ने बद्धांजलि होकर कहा—"प्रसीदतु अम्ब, मेरा मित्र विद्याधरों का स्वामी उदयवर्धन है। उसने मुझे प्राण-दान दिया है, अब मैं कृतज्ञतास्वरूप उसे कोई एक त्रैलोक्यसुन्दरी कन्या भेंट किया चाहता हूँ। उसी के लिए मैं आपकी शरण आया हू।"

पुलिंदक के ये वचन सुन कृत्या ने हँस कर कहा—

"विक्रमस्व ! विक्रमस्व ! विक्रम कर ! विक्रम कर ! तुझे सिद्धि प्राप्त होगी। सुन, यहां से दक्षिण दिशा में समुद्र के बीच मनुष्य-रहित एक द्वीप-खण्ड है। इस द्वीप का नाम रत्न-कूट द्वीप है। वह दुर्गम स्थान है। उस अगम-विजय वन में मलयकेतु दानव ने चार खण्डों का एक भव्य प्रासाद बनाया है। वह प्रासाद मणि-कांचन-संयोग से बना सब लोकोत्तर भोगों से परिपूर्ण है। उसमें उसने तुम्बुरु यक्ष की पुत्री महल्लिका को चुराकर छिपा रखा है। यक्ष-नन्दिनी महल्लिका संसार की सब स्त्रियों में श्रेष्ठ है। तिलकुसुम-सी कोमल कान्तिवती वह बाला ऐसी है कि उसके सम्मुख सब देवाङ्गनाएँ भी तुच्छ हैं। प्रासाद में एक सहस्र वयस्का परिचारिकाओं के साथ वह कुसुमकोमलकलेवरा महल्लिका रहती है। प्रत्येक चतुर्दशी को दानव मलयकेतु अपने श्वेतरश्मि गजराज पर चढ़ महल्लिका के निकट आता तथा प्रणय-याचना करता है; परन्तु वह भामिनी उसके प्रणय को नहीं स्वीकार करती है। दानव के भय से कोई पुरुष उस द्वीप में नहीं जा पाता है। वह अगम-विजन हर्म्य द्वार-रहित है। इससे वह सर्व जनवर्जित है, पर यह रहस्य मैं तुझे बताती हूँ। उसी द्वीप में एक सरोवर है। यह सरोवर उस हर्म्य की उत्तर दिशा में पर्वत की उपत्यका में ही है। उसी सरोवर के बीच जल में भूगर्भ-मार्ग का मुख है। तू अपने मित्र को ले वहां जा, तथा जलमग्न मार्ग से हर्म्य में जाकर उस यक्ष-कन्या को अपने मित्र पर अनुरक्त कर, फिर पराक्रम से दानव का वध कर यक्षकुमारी का वहां से उद्धार कर उसे अपने मित्र को देकर कृतकृत्य हो।"

यह गूढ़ संदेश देकर कृत्या खड़-खड़ करके हँस पड़ी। उसके बड़े-बड़े भयानक दांत बाहर निकल आए। कृत्या से ऐसा गूढ़ संदेश पाकर पुलिंदक शबर प्रसन्न हो गया। उसने कहा—"मातः

कैसे मैं एकाकी उस महा पराक्रमी दानव को वध कर सकता हूं। अपने मित्र को मैं उस दानव से युद्ध करने के संकट में नहीं डालूंगा। क्या मैं शवरों और विद्याधरों की सेना लेकर रत्न-कूट द्वीप पर जाऊं?"

"इससे सफलता नहीं मिलेगी। युक्ति, विक्रम और प्रपंच से कार्य-सिद्धि होगी। वह दानव बड़ा मायावी है, तेरे सब शवरों और विद्याधरों को मारकर खा जायगा। यह चूर्ण ले। यह सिद्ध चूर्ण है। इसमें सोम कल्प है। इसके खाने से वह विमोहित हो जायगा। तब तू अपना कार्य सरलता से कर सकेगा।"

इस प्रकार कृत्या से मन्त्र ले पुलिंदक अपने घर गया। उसने सब बातों को सोच-विचार कर प्रथम एकाकी ही रत्न-कूट द्वीप पर जाने का निश्चय किया और वह साहस करके वहां चला गया। उसने सारे वन को भलीभाति देखा। राह-बाट को जांचा और उस द्वाररहित अद्भुत हर्म्य को भी चारों ओर घूमकर देखा। फिर वह उस सरोवर के तट पर जा जल-क्रीड़ा करने लगा। वह बारबार जल में गोता लगा कर जल मे छिपे गुप्त गर्भ-मार्ग मुख को ढूंढ़ने लगा। अन्त में उसे वह मुख मिल गया। मुख में प्रविष्ट हो, वह शीघ्र ही एक सुरंग में पहुंच गया, जिसको पार करने पर उसने अपने को हर्म्य के भीतर पाया।

हर्म्य की शोभा और सुषमा देख, वह आश्चर्यचकित हो गया। हर्म्य की ऊची-ऊची दीवारें थीं। भीतर अनेक सौध थे। बाग थे, वाटिकाएँ थीं, जिनपर विविध रग के फूल खिल रहे थे। वृक्षों पर अनेक विहग कलरव कर रहे थे। वहीं पर स्वच्छ जल की एक पुष्करिणी थी जिसके तट पर सघन छाया में बैठी रूप और सुषमा की खान उस किशोरी यक्ष-कन्या को उसने फूलों से क्रीड़ा करते हुए देखा। उस समय वह बाला अकेली ही वहां बैठी थी। पुलिंदक साहस करके उसके सामने जा खड़ा हुआ। एकाएक उस

जनवर्जित स्थान में उस पुरुष को देख बाला कुछ भय और आश्चर्य से जड़ हो गई। उसने कहा—"कः ! कः !!"

पुलिंदक ने उसके निकट आ प्रणाम किया। फिर कहा—"मा भे, बाले ! मुझसे भय न कर। मैं शबरों का राजा पुलिंदक हूँ।"

"तो तू कैसे इस अगम क्षेत्र में आया, तुझे क्या दानव का भय नहीं है ?"

"मैं कृत्या माता का सेवक हूँ। उन्हीं की आज्ञा से तुझे यहां से मुक्त करने आया हूं। मेरा मित्र विद्याधरों का राजा उदयवर्धन अति कमनीय रूप-गुण में तेरे ही समान अद्वितीय है। तेरी ही भांति वह संसार के नेत्रों को आनन्द देनेवाला है। उस कमनीय पुरुष के साथ तेरा संभोग न हो तो कुसुमायुध का धनुष-धारण ही व्यर्थ है।"

पुलिंदक के ये वचन सुनकर वह बाला उत्सुक और कुछ लज्जित होकर बोली—"हे अतिथि, तेरा स्वागत है। पर तेरा वह मित्र कहां है, मुझे लाकर दिखा तथा तू कैसे मेरा यहां से उद्धार कर सकता है ? क्या तेरी और तेरे मित्र की ऐसी सामर्थ्य है ?"

पुलिंदक ने कहा—"तू चिन्ता न कर। चतुर्दशी के दिन दानव यहां आएगा। तभी मैं उससे निबट लूंगा। और तभी मैं तुझे अपने मित्र को लाकर तुझे दिखाऊंगा।" उसने बाला को कुछ गुप्त परामर्श भी दिए और 'मैं शीघ्र फिर आऊंगा' इतना कह, वह शबरों का राजा वहां से उसी गुप्त राह से चलकर बाहर आ गया तथा एक तपस्वी का स्वांग धारण कर उसी सरोवर के तट पर आसन जमा कर बैठ गया।

नियत काल में श्वेतरश्मि गजराज पर चढ़ वह दानव वहां आया। अपने अगम वर्जित द्वीप पर एक पुरुष को बैठा देख बड़े क्रोध और आश्चर्य से उसके निकट आकर बोला—

"तू कौन है, और मेरे इस वर्जित द्वीप में कैसे आया ?"

"मैं भगवती कृत्या का गण हूं। भगवती की आज्ञा से तेरे ही लिए यहां आया हूं।"

"मेरे लिए क्यों ?"

"भगवती कृत्या के आदेश से मैं तुझे वशीकरण दूंगा। जिससे तू कृतसंकल्प हो।"

"क्या तू ऐसा समर्थ है ?"

"मैं सिद्ध पुरुष हूँ। जा सरोवर में स्नान कर आ, मैं तुझे सिद्ध चूर्ण दूंगा।"

"उससे क्या होगा ?"

"तेरा मनोरथ पूरा होगा दानवेन्द्र, कृत्या माता का तुझ पर अनुग्रह है।"

दानव स्नान कर आया और पुलिंदक ने थोड़ा सिद्ध चूर्ण उसे दिया और कहा—"इसे भक्षण कर और मौन रह कर बाला के निकट जा।"

"क्या तू मेरा रहस्य जानता है ?"

"मैं भूत, भविष्य सब जानता हूँ।"

"स्वस्ति, तो मैं तेरी परीक्षा करूंगा, झूठा होने पर तेरा वध कर तेरा ही भक्षण करूंगा।"

पुलिंदक ने हंसकर ऋषि की भांति हाथ उठाकर कहा—"जा दानवेन्द्र, कृत मनोरथ हो।"

और जब मलयकेतु हर्म्य से बाहर आया—वह प्रसन्न था। यक्ष-बाला नें हसकर उसकी ओर साभिप्राय दृष्टि से देखा था—एकाध अनुरोध-वाक्य कहा था।

शीघ्र ही उस कपट मुनि से दानव की मित्रता हो गई। दानव ने अपने द्वीप में रहने की उसे सुविधाएं दे दीं। वह जब आता, उसके लिए उपानय लाता। अवसर पाकर पुलिदंक अपने मित्र को भी द्वीप में ले गया। गुप्त राह से हर्म्य में उसे पहुँचा दिया।

पुष्करिणी के तीर पर वह फूलों से क्रीड़ा कर रही थी। कभी वह कुछ गुनगुनाती हुई सी, किसी फूल को तोड़कर मसल फेंकती, कभी उन्हें नासारन्ध्र पर रख सूंघती। इसी समय उसकी दृष्टि तरुण विद्याधर पर पड़ी। वह तरुण न राक्षसों और दानवों की भांति कृष्णवर्णी था—न कदरूप। उसका गौर वर्ण और कान्त कलेवर देख, उसके उज्ज्वल नीलमणि के समान नेत्र देख, उसका प्रशस्त ललाट और वक्ष देख, वह उसपर मोहित हो गई। उसके कटि-प्रदेश में कौशय, कण्ठ में मणिहार और भुजाओं में मणिवलय, सिर पर सुचिक्कण का कुल लटक रहे थे। उसने धड़कते हुए वक्ष पर हाथ रख आगे बढ़कर कहा—"हे नरशार्दूल, तुम कौन हो, और इस दुर्गम द्वीप में आ कैसे इस अगम हर्म्य में आ गए। क्या तुम्हें दानवेन्द्र का भय नहीं ? यहां आकर तो कोई पुरुष जीवित नहीं लौटता है। यह दानवेन्द्र-रचित द्वीप रत्नकूट है। और यह पुरुष मात्र के लिए अगम्य है।"

परन्तु इसी क्षण ओट से निकल कर पुलिंदक ने कहा—"बाले, यही मेरा मित्र विद्याधरों का राजा उदयवर्धन है। यही तेरे योग्य वर है जिसे मैं ले आया हूं।" तब तिरछी दृष्टि से उसे देखती हुई कुछ लजाती सी वह बाला बोली—"तेरे मित्र की मैं अभ्यर्थना करती हूं। परन्तु मैं परवश हूं।"

इस पर आगे बढ़कर उदयवर्धन ने बाला का हाथ पकड़ लिया। बाला ने कहा "हे धर्मात्मा, मैं कन्या हूं और पिता के आधीन हूं।" उदयवर्धन ने कहा—"हम गन्धर्व-विधि से विवाह सम्पन्न कर लेंगे, उसकी तू चिन्ता न कर।" इतना कह अग्न्याधान कर पुलिंदक की साक्षी में दोनों ने विवाह-विधि सम्पन्न की। फिर वह तस्कर उदयवर्धन को वहीं छोड़ गर्भमार्ग से बाहर आ दानव के आगमन की ताक में बैठ गया। जब चतुर्दशी को दानव आया तो उसने बहुत सा सिद्ध चूर्ण खिलाकर उसे हर्म्य

में भेज दिया। जिस सिद्ध-चूर्ण के प्रभाव से वह मूर्छित हो गया और उदयवर्धन ने उसका सिर काट लिया। इस प्रकार दानव को मार, कुमारिका को ले वे दोनों मित्र श्वेतरश्मि गजराज पर सवार हो तुम्बरु-यक्ष की नगरी में आए। तुम्बरु ने अपनी कन्या के उद्धार-कर्त्ताओं की अच्छी अभ्यर्थना की और अग्नि के समान देदीप्यमान रत्न के खम्भों की वेदी बनाकर अपनी पुत्री महल्लिका उसे दे दी। उदयवर्धन उस रमणी-रत्न को पा कृतार्थ हो उसे ले, साथ में बहुत सा रत्न-मणि ले, श्वेतरश्मि गजराज पर सवार हो उसी रत्नकूट द्वीप के अगम हर्म्य में आ नाना-विधि विलास करने लगा। शबरपति पुलिंदक मित्र का उपकार कर कृतकृत्य हो सुभद्र वट कानन में अपने ग्राम में लौट आया।



७५

राम

जब सूर्यपुत्र मनु और उनके दामाद बुध ने अपने-अपने पैतृक राज्यवंशों की स्थापना कर ली, और सूर्यमण्डल और चन्द्रमण्डल दोनों का भलीभांति विस्तार हो गया, तब उत्तर भारत-आर्यावर्त के नाम से विख्यात हो गया, तथा इस आर्यावर्त की समृद्धि सम्पूर्ण भारत से बढ़-चढ़कर हो गई। इन आर्यों में अनेक सांस्कृतिक नवीन स्थापनाएँ हुईं। प्रथम तो यह; कि इन दोनों ही कुलों ने अबतक चली आती हुई मातृ-संज्ञक वंशपरंपरा को त्याग पितृमूलक वंशपरंपरा स्थापित की। कुल-परंपरा को पितृमूलक निश्चित करने में एक महत्त्वपूर्ण सांस्कृतिक परिवर्तन यह हुआ कि आर्यों में विवाह-मर्यादा दृढ़बद्ध-मूल हो गई और स्त्रियों के लिए पुरुष 'पति' या 'स्वामी' हो गए। उनके शरीर और जीवन की सम्पूर्ण सत्ता पर उनका अखण्ड एवं सर्वतन्त्र अधिकार हो गया। यहां तक इस मर्यादा का रूप बना कि यदि वीर्य किसी अन्य पुरुष का भी अनुदान लिया हो तो भी संतति का पिता उस स्त्री का वह 'पति' ही माना जायगा जिससे उसका विवाह हो चुका है। अविवाहिता स्त्रियों का पिता भी वही पति होगा। बहुत से ऋषियों ने तो वीर्यदान अपना एक पेशा ही बना लिया। जिनमें उल्लेखनीय वेदर्षि दीर्घतमा थे। वशिष्ठ और दूसरे वरिष्ठ ऋषियों ने भी वीर्यदान अन्य राजाओं की पत्नियों को दिया। ऐसी सभी संतान न माता की मानी गईं, न वीर्यदाता पुरुष की। प्रत्युत वे उस पुरुष की संतान और उसी कुल-गोत्र को चलाने वाली

प्रसिद्ध हुई, जो उनकी माता का विवाहित पति एवं स्वामी था। इससे आर्य जाति को यह लाभ तो अवश्य हुआ कि वह एक सगठित जाति हो गई। परन्तु इससे एक नई और महत्त्वपूर्ण बात यह उत्पन्न हो गई कि उनके राज्य-सम्पत्ति आदि सब वैयक्तिक होते गए और देखते ही देखते मानवों और एलों के महाराज्यों का विस्तार हो गया।

परन्तु इससे स्त्रियों के अधिकारों का खात्मा हो गया। पत्नी का अपना कुल-गोत्र कुछ भी न रहा। पितृमूलक वंश-परंपरा में पिता का कुल-गोत्र केवल पुत्र को ही मिलता था—पुत्री को नहीं। इसका अभिप्राय यह कि पुत्री को पिता का संतान ही नहीं गिना गया। वह पिता के कुल-गोत्र से बहिर्गत एक विच्छिन्न वस्तु मान ली गई, जो वयस्क होने पर किसी पुरुष को उसकी पत्नी बनने के लिए दे दी जाती थी। उसे न पिता का कुल-गोत्र मिलता था, न पति का। इस प्रकार से आर्यों की वंश-परंपरा में स्त्री मात्र पति के लिए संतान उत्पन्न करने की एक जीवित क्षेत्र थी। इस विवाह-मर्यादा में दाम्पत्य-प्रेम, समानता आदि के कुछ भी भाव न थे। न विवाह का उद्देश्य नर-नारी की नैसर्गिक कामैषणा की पूर्ति थी, न वह अन्य शारीरिक भौतिक ऐषणाओं पर आधारित था। उसका उद्देश्य केवल अपने 'पति' के लिए—जो वास्तव में उसका स्वामी था; साथी, मित्र या जीवन-संगी नहीं—संतान उत्पन्न करना था।[1]

दूसरी महत्त्वपूर्ण सांस्कृतिक बात जो आर्यकुलों में उत्पन्न हुई वह उत्तराधिकार था। पिता की सारी राज्य-सम्पत्ति का निश्चित रूप में पुत्रों को ही उत्तराधिकार मिलता था—पुत्रियों को नहीं। इस प्रकार जहां पुत्रियां पिता के कुल-गोत्रों से वंचित कर दी गईं वहां संपत्ति से भी वंचित कर दी गईं। संपत्ति का सर्वार्थ उत्तराधिकारी पुत्र था। इस प्रकार आर्यों का संगठन

एक प्रकार से अस्त्री संगठन था। अर्थात् आर्यों की जाति में स्त्री की कहीं भी गणना न थी। वह मात्र पुरुष की पूरक थी, पति के लिए उसकी सम्पत्ति के उत्तराधिकारी को उत्पन्न करने के लिए वह विवाही जाती थी। इसलिए विवाह में अब स्त्रियां पति का स्वेच्छा से वरण नहीं करती थीं—वे पिता द्वारा दी जाती थीं। और इस सम्बन्ध में उनकी सम्मति नहीं ली जाती थी—न उनकी रुचि और पसन्द का विचार किया जाता था। जिस प्रकार पति का विवाहोपरान्त पत्नी पर पूर्णाधिकार प्राप्त था, उसी प्रकार विवाह से पूर्व कन्या पर पिता का। परन्तु मजेदार बात यह थी कि न पिता की सम्पत्ति में—न पति की सम्पत्ति में उनका कुछ भी भाग होता था। वह कुल-गोत्र-सम्पत्ति सब अधिकारों से रहित थी। ज्यों-ज्यों आर्यों की राज्य-श्री बढ़ती गई, त्यों-त्यों विवाह के नियम रूढ़िबद्ध होते गए, जिनसे स्त्रियों की दशा एक प्रकार से दासता की सीमा को पहुंच गई। विवाह के समय उसे पति की आज्ञाकारिणी और आधीन रहने का वचन भरना पड़ता था। और वह 'दत्ता' थी। स्वयंवरों की प्रथा बड़े-बड़े आर्यकुलों में प्रचलित थी परन्तु उसमें भी कन्या को अपनी पसन्द का पुरुष चुनने का अधिकार न था। पिता ही उस चुनाव की कोई शर्त रख देता था। और उस शर्त को पूरा करने पर वह कन्या उसी को दे दी जाती थी। ऐसे स्वयंवरों में कन्या को 'वीर्यशुल्का' कहा जाता था। इसका अर्थ था—पराक्रम के मूल्य पर कन्या की खरीद। अर्थात् पराक्रम ही कन्या का मूल्य है। कुछ कुल कन्या के मूल्य में धन भी लेते थे। सीता 'वीर्य-शुल्का' थी। परन्तु गाधि राजा ने एक हजार घोड़े लेकर ऋचीक को अपनी पुत्री ब्याह दी थी। परन्तु इतना ही क्यों? राजा लोग अपनी कन्याएं पुरोहितों को यज्ञ-दक्षिणा की भांति भी दे देते थे। जैसे दशरथ ने ऋष्यशृंग को अपनी कन्या शान्ता दे दी थी।

बहुपत्नीत्व की प्रथा भी इसी कारण चली। पति को अनेक स्त्रियों से व्याह करने के अधिकार प्राप्त हो गए, पर पत्नी को नहीं। विवाह के अतिरिक्त आर्य लोग दासियां भी रखते थे। इस समय आर्य-राजाओं के अन्तःपुर में चार प्रकार की पत्नियां रहतीं थीं, एक महिषी—मुख्य महारानी—जिसे राजा के साथ यज्ञ में सम्मिलित होने का अधिकार था। दूसरी परिवृता—जिस पर पति का प्रेम कम हो जाता था—या जो बूढी हो जाती थी। तीसरी—वावाता—जो मुख्य प्रेमिका होती थी। चौथी—पालावली—जो प्राय' मन्त्री की कन्या होती थी। अपना अधिकार बनाए रखने तथा राजा के भीतरी भेद लेने के लिए प्रायः मन्त्री-गण अपनी कन्या राजा ही को देते थे। इसी प्रकार राज्यों की भी पांच श्रेणियां थीं। एक साम्राज्य—जिसमें अनेक आधीन, विजित तथा करद राज्य सम्मिलित होते थे। दूसरा भौज्य—जो सम्राट् द्वारा किसी को नियुक्ति के रूप मे प्रदान किया जाता था, तथा शासक का केवल उसकी आय पर ही अधिकार रहता था। तीसरा स्वराज्य--जो स्वतन्त्र था। चौथा वैराज्य—जो शत्रु का जय किया हुआ होता था। पांचवां राज्य—जो साम्राज्य के अन्तर्गत होता था।

दायभाग और उत्तराधिकार के सम्बन्ध में भी आर्यों में प्रथम यही विधि प्रचलित रही कि राज्य सब पुत्रों में बांट दिया जाता था। जैसे मनु ने अपने पुत्रों में समान राज्य बांट दिया था। परन्तु शशिविन्दु के कुल में दायभाग का प्रचलन हुआ। शशिविन्दु ययाति-पुत्र यदु के वंश में एक चक्रवर्ती राजा था। यह चित्ररथ का पुत्र था। शशिविन्दु विदर्भ का राजा था। इसने अनेक अश्वमेघ यज्ञ किए और बहुत स्वर्ण बांटा। स्वर्ण का इसके पास अटूट भण्डार था। प्रसिद्ध चक्रवर्ती मानव मान्धाता शशिविन्दु का दामाद था। शशिविन्दु के पिता चित्ररथ को कपियों ने यज्ञ

कराया। उसमें उसे अकेले ही को अन्नादि का अध्यक्ष बनाया। इसके बाद उसी यज्ञ में चित्ररथ ने यह घोषणा कर दी कि मेरे वंश में एक ही छत्रपति होगा। शेष उनके अनुजीवी होंगे। अर्थात् मनु ने जैसे अपने सब पुत्रों में राज्य बांटा; उस प्रकार चित्ररथ की भावी संतानों में राज्य का बँटवारा नहीं होगा। राज्य केवल ज्येष्ठ भाई का रहेगा। वही राजा कहाएगा। शेष भाई उसके अनुजीवी रहेंगे। उन्हें गुजारा मिलेगा। आगे चल कर मानवों ने भी इस नियम को मान लिया। और तब राज्यों के बँटवारे समाप्त हो गए। जो गद्दियां स्थापित हो चुकीं थीं वही संपुष्ट होती रहीं।

पीछे हम बता चुके हैं कि आर्यावर्त में इस समय सूर्य-वंश की पांच शाखाएँ स्थापित थीं। एक—उत्तरकोशल राजवंश, दूसरा—दक्षिण कोशल राज्यवंश, तीसरा—शर्यात आनर्त राज्य-वंश, चौथा—मैथिल राज्यवंश और पांचवां—वैशाली राज्यवंश। उत्तर कोशल राजवंश की ३६वीं पीढ़ी में राम का जन्म हुआ था।

इस वंश में अबतक मनु, इक्ष्वाकु, युवनाश्व, वृहदश्व, मान्धाता, त्रसदस्यु, अम्बरीष, दिलीप, रघु और दशरथ विश्रुत पुरुष हो चुके थे। इस समय उत्तर-कोशल राज्य के उत्तराधिकारी राम वनो-वास कर रहे थे, और भरत स्थानापन्न हो राज्य की देखभाल कर रहे थे। दशरथ की मृत्यु हो चुकी थी।

दशरथ महारथी योद्धा और प्रतिष्ठित राजा थे। देवराज इन्द्र से इनके मैत्री-सम्बन्ध थे। वे नीतिवान और सत्यप्रतिज्ञ थे। उनकी तीन महिषी थीं—प्रथमा कौशल्या—दक्षिण कौशला-धिपति भानुमान की पुत्री, द्वितीया सुमित्रा—मगधराज-पुत्री, तृतीया कैकेयी—उत्तर पश्चिमी आनवनरेश केकेय की पुत्री। दशरथ ने सिन्धु, सौवीर, सौराष्ट्र, मत्स्य, काशी, दक्षिण कौशल, मगध, अंग, बंग, कलिंग और द्रविड़-नरेशों को जय किया था, तथा अनेक

अश्वमेध किये थे। गिरिव्रज के प्रसिद्ध युद्ध में उत्तर पांचाली दिवोदास की सहायता की थी तथा वैजयन्ती के कुलीतर के वंशधर तिमिध्वज शम्बर असुर को मारा था। अंग-नरेश लोमपाद इसके मित्र थे।

राम के जन्म से पूर्व, इस उत्तर कौशल राज्य के भी कुछ शाखा-राज्य स्थापित हो चुके थे, जिनमें एक शाखा हरिश्चन्द्र-वंश की थी। इसकी राजधानी कान्यकुब्ज के पास थी। इस समय इस गद्दी पर संभवत. रोहिताश्व जीवित थे। मुख्य सूर्यवंश शाखा की तीसवीं पीढ़ी मे—राम से कोई ६ पीढ़ी प्रथम सिन्धुद्वीप राजा के काल में अनरण्य ने यह गद्दी स्थापित की थी। इन की पांचवीं पीढ़ी में त्रैयारुण हुए। उनके पुत्र सत्यव्रत (त्रिशंकु) और उनके पुत्र हरिश्चन्द्र, जो पीछे महा सत्यवादी प्रसिद्ध हुए। त्रैयारुण राजा वेदज्ञ और प्रतापी था, उसका पुत्र सत्यव्रत दुराचारी तथा दुराग्रही था। उसने तीन बड़े अपराध किए—एक नव विवाहिता ऋषिपत्नी को हरण कर उससे बलात्कार किया, चाण्डालों के साथ खान-पान रखा; कुलगुरु वशिष्ठ की गाय मार कर खा गया। इससे क्रुद्ध होकर पिता ने वशिष्ठ के कहने से उसे राज्यच्युत कर दिया और उसे त्रिशंकु का कुनाम दिया। यौवराज्य से च्युत होकर वह वन में रहने लगा। पिता के मरने पर भी वशिष्ठ ने उसे गद्दी नहीं सौंपी—स्वयं ही राज्यभार सम्हाला। इसी समय कान्यकुब्जपति विश्वामित्र ने राज्य पर चढ़ाई की और वशिष्ठ ने उन्हें शवरों और म्लेच्छों की मदद से पराजित किया। राज्यभ्रष्ट विश्वामित्र वन में जा छिपे, जहां त्रिशंकु ने उनकी बहुत सहायता की और उनके कुटुम्ब का पालन किया। अवसर पाकर विश्वामित्र ने त्रिशंकु को सिंहासन पर बैठाया और उसके यज्ञ में पुरोहित बने। त्रिशंकु के पुत्र महा-दानी और महाबली हरिश्चन्द्र हुए। इन्होंने दिग्विजय करके

तथा अपना महा साम्राज्य-विस्तार किया। इनकी कमान में साठ सहस्र योद्धा थे। इन्हीं के तीन पीढ़ी के नरेश—अंशुमान, दिलीप और भगीरथ चार नदियों को खोदकर और मिलाकर गंगा को मैदान में लाए थे। अंशुमान राजर्षि थे, उन्होंने अश्वमेध और राजसूय यज्ञ किया। इस समय इस गद्दी पर भगीरथ या उसका पुत्र उपस्थित था।

दक्षिण कोशल राजवंश की गद्दी पर ऋतुपर्ण के प्रपौत्र कल्माषपाद थे, जिन्होंने राक्षस-धर्म स्वीकार कर नरमांस खाना आरंभ कर दिया था। इन्होंने अपने राजगुरु वशिष्ठ के पुत्र शक्ति को तथा निन्यानवे परिजनों को विश्वामित्र के भड़काने से खा डाला था। इन्हीं कल्माषपाद की पत्नी में वीर्यदान कर वशिष्ठ ने पुत्र उत्पन्न किया था। कल्माषपाद के बाद इस राजवंश की दो शाखाएँ हो गई थीं। निषध-विदर्भ दक्षिण कोशल और देशापर्ण दोनों राज्यों की सीमाएँ परस्पर मिलती थी। सूर्यवंश की अन्य शाखाओं का उल्लेख अन्यत्र आ चुका है। अयोध्या, श्रावस्ती और साकेत सूर्यवंश की प्रधान राजधानियां थीं। संक्षेप में इस समय उत्तर कोशल राज्य पर राम के स्थानापन्न भरत, हरिश्चन्द्र-शाखा पर रोहिताश्व, सगर-शाखा पर भगीरथ, दक्षिण कोशल गद्दी पर कल्माषपाद, विदेह मैथिल में सीरध्वज, मैथिल सकाश्य-शाखा पर धर्मध्वज, वैशाली में प्रमति और शर्याति राज्य पर मधु राक्षस राज्य करता था। सूर्यवंश की इन गद्दियों के अतिरिक्त जो राजवंश थे उनमें चन्द्रवंश प्रमुख था। इसकी मुख्य गद्दी प्रतिष्ठान में सारभौम, विदर्भ में धृतिमन्त, उत्तर पांचाल—सुदासवंश में सोमक, दक्षिण पांचाल में रुचिराश्व, मगध में सुधन्वा, कान्यकुब्ज में ऋतुध्वज, मालव में दुर्जय, वैदर्भ में सुबाहु और उत्तरी विहार में मरुत के वंशधर राज्य करते थे। अंग में लोमपाद और उत्तर पच्छिम में केकेय थे।

दैत्यों, राक्षसों और असुरों में—रावण, बाण और मधु। ऋषियों में वशिष्ट, विश्वामित्र, नामदेव-नारद, ऋष्यशृंग, भिक्षुकाश्यप, सायकाश्व, देवराट, मधुच्छन्दस, प्रतिदर्श, गृत्समद, अगसा, अलर्क, भरद्वाज आदि प्रमुख थे।

दशरथ को वृद्धावस्था तक कोई संतान नहीं हुई, वार्धक्य में चार पुत्र हुए। दशरथ की तीनों पत्नियों में बड़ी कौशल्या तो कोशल-वंश की ही कन्या थी। वह दक्षिण कौशलाधिपति भानुमान की पुत्री थी। इसलिए यह वंश आर्य भी था, मानव भी था, सूर्यवंश भी था। इसके सब आचार-विचार अनुकूल थे। दूसरी मगध के राजा की पुत्री थी—जो कदाचित् दशरथ का करद राजा था। परन्तु कैकेयी की बात इन सब से पृथक् थी। वह उत्तरी-पच्छिमी आनवनरेश की लड़की थी। पाठकों को स्मरण होगा कि सम्राट् ययाति के बटवारे में अनु को गंगा-यमुना द्वाब का उत्तरी भाग मिला था। इस वंश की इक्कीसवीं पीढ़ी में महामानस चक्रवर्ती हुए और उन्होंने सारे पंजाब को जीत लिया। उन्हें सप्तद्वीपपति तथा सप्तसागरों का स्वामी कहते थे। इनके पितामह जन्मेजय को मान्धाता ने हराया था। उस समय यह वंश दो खण्ड में होकर कुछ पच्छिम को और कुछ पूर्व को चला गया था। महामानस पच्छिम की ओर जाने वालों में थे। इनके वंश ने सिन्धु, सौवीर, केकेय, भद्रबाल्हीक, शिवि और अम्बष्ट राज्य स्थापित किए। इनमें केकेय प्रमुख थे। महामानस के पुत्र उशीनर और तितिक्षु थे। उशीनर ने पूर्व अवनीरस अपनी राजधानी बनाई थी। इनके राज्य-मण्डल में यौधेय, अम्बष्ट, नवराष्ट्र और कृमिला की रियासतें भी सम्मिलित थीं। उशीनर के पुत्र शिवि थे जिन्होंने कपोतों को शरण दी थी। इनके चार पुत्रों ने फिर पच्छिम की ओर बढ़कर वृषदर्भ, केकेय, मद्र, और सौवीर राज्यों की स्थापना की थी। पंजाब इस

समय सम्पूर्ण इन्हीं के अधिकार में था। आनव केकेय-नरेश दशरथ की टक्कर के प्रबल स्वतन्त्र नरेश थे। इनकी पुत्री कैकेयी तथा पुत्र युधाजित् थे। कैकेयी मानवती, सुन्दरी, गरिमावती और ठसकदार रानी थी। बड़े राजा की बेटी होने के कारण उसका मान भी बहुत था। सब से छोटी, सुन्दरी और गुणवती होने के कारण वार्धक्य में राजा उसे प्यार भी बहुत करते थे। उसका अपना अलग महल, नौकर-चाकर दास-दासी थे। वह स्वतन्त्र प्रवृत्ति की स्त्री थी। युद्ध और आखेट में राजा के साथ जाती थी। यह वास्तव में कुछ तो पितृकुल का प्रभाव था—और कुछ 'वृद्धस्य तरुणी भार्या' का मामला था।

परन्तु, सब से महत्त्वपूर्ण और कठिनाई की एक बात थी। जब वार्धक्य अवस्था होने पर भी दोनों रानियों से दशरथ को कोई सतान नहीं हुई। तब उन्होंने केकेय राजा की पुत्री मांगी। केकेय राजा ने इस शर्त पर पुत्री देना स्वीकार किया कि दशरथ से उत्पन्न कैकेयी का ही पुत्र कोशल राज्य का उत्तराधिकारी होगा। हम बता चुके हैं कि आर्यों की परिपाटी पितृकुल की थी, तथा वहां स्त्री का कोई महत्त्व न था, पति ही पुत्र का स्वामी होता था, परन्तु संभवत. आनव-कुल आर्यों की इस मर्यादा को नहीं मानता था। इससे उसने यह प्रण रखा कि यदि दशरथ उसकी पुत्री के पुत्र को ही उत्तराधिकार दें तो ही वह अपनी पुत्री दशरथ को देगा, नहीं तो नहीं। दशरथ ने उस समय केकेय महाराज की बात स्वीकार कर ली। कुछ तो इस विचार से कि पूर्व पत्नियों से सतान न होने ही से तो यह विवाह किया जा रहा है। इसलिए यह तो होगा ही कि उसी का पुत्र उत्तराधिकारी होगा। कुछ कैकेयी का रूप-वैभव, उसके पिता का वरिष्ट कुल भी काम कर गया। दशरथ ऐसी ही प्रतिज्ञा करके कैकेयी को व्याह लाए।

परन्तु दैव-प्रभाव से संतान जब हुई तो तीनों रानियों को

हुई, और उनमें ज्येष्ठ राम थे—जो ज्येष्ठ रानी के पेट से पैदा हुए थे। बड़े होने पर राम रूप-गुण-शील और शौर्य में भी सब भाइयों से श्रेष्ठ रहे। धीरे-धीरे सब से अधिक मोह दशरथ का राम पर ही रहा। और अब दशरथ को केकेय से की हुई वह प्रतिज्ञा खलने लगी। वह राम ही को राज्य का उत्तराधिकार देने की मन ही मन सोचने लगे। राम के ऊपर विशेष प्रीति तो इसका कारण थी ही—और भी बातें थीं। राजा बाहरी वंश की लड़की के लड़के को कोशल का राज्य देना नहीं चाहते थे। राम का मातृ-कुल भी कोशल ही था—मानव था—आर्य था—इससे उन्हें राम ही यौवराज्य के योग्य जँचे। यद्यपि राम जन्मतः ही सब भाइयों में बड़े थे, ज्येष्ठा महिषी के पुत्र थे। यह भी बात राम के पक्ष में आती थी, परन्तु कदाचित् उस काल तक ज्येष्ठ पुत्र को ही राज्य मिले—यह नियम दृढ़बद्ध नहीं हुआ था। कोई भी पुत्र राज्य का अधिकार योग्यता के आधार पर पा सकता था। यदि आप पुराणों में वर्णित वंशावलि को ध्यान से देखें तो आपको ज्ञात होगा कि वंशावलियों के सम्बन्ध में पुराणों में सर्वत्र ही पिता के बाद पुत्र का स्थान नहीं दिया है, किन्तु वह नाम दिया है जो पिछले व्यक्ति के बाद उत्तराधिकारी होता था। वह व्यक्ति भी सदैव ही पिछले व्यक्ति का पुत्र नहीं होता था—किन्तु, भाई, भतीजा, पौत्र तथा अन्य सम्बन्धी भी हो सकता था।

जब जनकपुर में धनुष-यज्ञ के बाद चारों भाइयों के विवाह सम्पन्न हो गए तब ताडकावध, धनुर्भङ्ग और भार्गव परशुराम के पराभव के वृत्तान्त ने राम के महत्त्व और गौरव को बहुत बढ़ा दिया। अब दशरथ ने यह दृढ़ धारणा बना ली कि जैसे बने, राम को उत्तराधिकार दिया जाय। विवाह के कुछ दिन बाद राम सीता सहित जनकपुर अपनी ससुराल चले गए और कई वर्ष

वहीं रहे। इसके बाद जब राम अयोध्या को लौटे तो भरत के मामा युधाजित् भरत, शत्रुघ्न और उनकी वधुओं को लेकर कैकेय उनकी ननिहाल ले गए, तथा वे वहीं बहुत दिन तक रहे। यही अवसर दशरथ ने अपनी मनोकामना पूरी करने का ठीक समझा। उन्होंने सब अधीन राजा, रईस, छत्रधारी नरपतियों को अयोध्या में निमन्त्रित किया। अनेक ऋषिगणों को बुलाया, केवल भरत के मामा-नाना को यह खबर नहीं भेजी। न जनक ही को सूचना दी। जब राजा और राजवर्गी पुरुष—ऋषि और विद्वान एकत्र हो गए तो दशरथ ने उनके समक्ष अपना प्रस्ताव रखा। उन्होंने कहा—"रघु से लेकर हमारे सभी पूर्वजों ने प्रजा का पुत्रवत् पालन किया है, उन्होंने सदैव प्रजा के हित का ध्यान रखा। मैंने भी यथासामर्थ्य प्रजा को सब प्रकार की सुविधाएं दीं। उनके दु:ख को अपना दु:ख और उनके सुख को अपना सुख समझा। मेरी इच्छा है कि भविष्य में प्रजा इससे भी अधिक सुखी और समृद्ध हो। किन्तु, मैं अब वृद्ध हो चला हूं। मेरे शरीर के अवयव शिथिल हो गए हैं, मुझे अब शांति चाहिए। मैं अपने ज्येष्ठ पुत्र राम को अपने स्थान पर नियुक्त कर अब विश्राम चाहता हूं। राम राजोचित सभी गुणों से परिपूर्ण हैं। वह धीर है, वीर है, उदार है, और धर्मात्मा है। वह पराक्रमी, साहसी, बलवान, तेजस्वी और प्रभावशाली है। अब यदि आप ठीक समझें तो मैं कल प्रातःकाल पुण्य नक्षत्र के शुभ योग में आपकी साक्षी में राम को यौवराज्य दूं। आप मेरे इस प्रस्ताव पर भलीभांति विचार कर लें तथा अपने स्वतन्त्र विचार प्रगट करें।"

पाठक देख सकते हैं कि दशरथ ने अपना प्रस्ताव कैसी युक्ति और गम्भीरता से उपस्थित किया था। राम के सर्वश्रेष्ठ गुणों का बखान करने के साथ ही उनके ज्येष्ठ होने की ओर भी

संकेत किया था। फिर इस सम्बन्ध में वशिष्ठ, वामदेव और विश्वामित्र जैसों की स्वीकृति तथा संकेत था। इस कारण सभी राजाओं ने राम-राज्याभिषेक का सोल्लास समर्थन किया। निस्संदेह राम के विरोध का कोई कारण भी न था। दशरथ की प्रतिज्ञा तो सब पर विदित न थी। परन्तु राजनीति-विचक्षण दशरथ ने सबका समर्थन पाकर फिर पूछा—"आप लोग केवल मेरी प्रसन्नता के निमित्त ही यह प्रस्ताव स्वीकार करते हैं या कि आपने भी राम के उदार गुणों पर विचार किया है।"

तब राजाओं के प्रतिनिधि ने सर्वसम्मति से कहा—"राम वास्तव में सत्यवादी, एक सफल व्यक्ति के सब गुणों से परिपूर्ण, धर्मात्मा, धीर, वीर, पराक्रमी, तेजस्वी, साहसी, शक्तिमान्, उत्साही, उदार, मृदुभाषी, बुद्धिमान्, सच्चरित्र, प्रजापालक और जन-रक्षक हैं। वे सर्वगुणसम्पन्न हैं। वे संसार के सभी जीवों को प्रिय हैं। शत्रु का मानमर्दन करने तथा उसे विजय करने की उनमें अदम्य सामर्थ्य है। वे अद्भुत पराक्रमी हैं। उनके समान देव, नाग, गन्धर्व, किन्नर, दैत्य, दानव, आर्य आदि वंशों में कोई नहीं है। हम सभी हृदय से यही चाहते हैं कि राम को शीघ्रातिशीघ्र यौवराज्य अभिषेक कर दिया जाय। हमारे कल्याण के निमित्त आप राम को यौवराज्य-पद शीघ्र दे दें।

राजपुरुषों के यह वचन सुनकर दशरथ ने कहा—"आप धन्य हैं। आपके विचार स्तुत्य हैं। मैं आपसे सहमत हूं। वर्तमान चैत्र मास है, वसन्त का आगमन हो चुका है। चारों ओर वन-उपवन-वाटिका पूर्ण पल्लवित और पुष्पित हैं। वृक्ष-पादप-लताएँ सभी हरी-भरी फल-फूलों से लदी हुई हैं। खेत हरे-भरे और धान्यों से परिपूर्ण हैं। कल पुष्य नक्षत्र है। आप की अनुमति ही से राज्याभिषेक की सामग्री प्रस्तुत की जाय।"

इसका सभी ने अनुमोदन किया। तब दशरथ ने अपने गुरु

और मन्त्री वशिष्ठ से करबद्ध कहा—"अब आप सब सामग्री प्रस्तुत कर यह अनुष्ठान कल ही पूरा कर दीजिए।" इसके बाद दशरथ ने सब मन्त्रियों को सब नगर-निवासियों तथा समागत जनों का भव्य स्वागत और आतिथ्य करने का आदेश दिया। सुमन्त्र दशरथ के मित्र, मन्त्री और राज्य के परम हितैषी थे। अब तक भी सभी राजकुमारों की देख-रेख, शिक्षा-दीक्षा उन्हीं के अधीन थी। अब सुमन्त्र के द्वारा राम को बुलाकर महाराज दशरथ ने कहा—"रामचन्द्र, तुम मेरे तथा अपनी माता के प्रिय हो, समस्त प्रजा के प्राणाधार हो। कल पुण्य नक्षत्र में मैं तुम्हें यौवराज्य-विभूषित करना चाहता हू। सभी राजा-राजवर्गी इसमें सहमत हैं। मै तुम्हें तुम्हारे हित की सीख देता हू। तुम सदैव जितेन्द्रिय रहना, बुरे व्यसनों से दूर रहना, समुचित रीति से प्रजा का न्याय करना, सेना को सतुष्ट रखना, कोष में सदैव स्वर्ण-रत्न भरपूर रखना, अपने कर्मचारियो, भृत्यो, दासों, सेवकों और दासियों को सुखी रखना।"

इतना कह कर राजा प्रेमाश्रु बहाने लगे। फिर पुत्र को छाती से लगाकर बोले—"पुत्र, मैंने इस दीर्घायु से बहुत अनुभव पाया। संसार का मुझे यथावत् ज्ञान है। प्रत्येक बात का मुझे पूरा अनुभव है। मैं अब एक क्षण का भी विलम्ब इस कार्य में नहीं करूंगा। कल ही मैं यह शुभकार्य पूरा करूंगा। मनुष्य के विचार सदैव एक से नहीं रहते, उनमें परिवर्तन होता ही रहता है। इससे मैं अब अधिक सोच-विचार में समय नष्ट करना नहीं चाहता। इसी से मैं निश्चय ही कल यह काम पूरा करूंगा। आज रात तुम और वधू सीता उपवास करो, तथा शैया पर कुश बिछाकर शयन करो। रक्षकगण पूर्ण सतर्क और सचेत रहें, तथा सुमन्त्र स्वय रात भर जग कर स्वयं तुम्हारी रक्षा करें। मैं जानता हू, शुभ कार्यों में बहुत विघ्न आते रहते हैं। तुम्हारे

भाई ननसाल गए हैं। उनके आने से पूर्व ही मेरी इच्छा है कि तुम्हें युवराज बना दूँ। यद्यपि भरत तुम्हारा अनुयायी है, फिर भी मनुष्य-स्वभाव चंचल है।"

पिता की यह सीख सिरधार, राम उनके चरणों में सिर झुका अपने आवास को चल दिए।

७६

मन्थरा का कूट तर्क

देखते ही देखते यह समाचार अयोध्या में व्याप गया। नगर-जन हर्षोन्मत्त हो गए। अयोध्या में मंगल-वाद्य बजने लगे। राज-मार्ग सज गए। नगर-भवनों पर वदनवार-कलश-पताकाएं सुशोभित हो गईं, पुष्पमालाओं-तोरणों से समस्त गृह सम्पन्न हो गए। मंगल-गान, वेणुवाद्य, शख आदि वजने लगे। राज-मार्ग दर्शकों से भर गया। वीरांगनाएँ नृत्य करने लगीं। विविध होम-पूजा और बाल-अनुष्ठान होने लगे। सुरभित-सुगन्धित पदार्थों की गन्ध से दिशाएँ महक उठीं। हर मुंह में राम के राज्या-भिषेक की चर्चा थी। नगर-नागर राम की धीरता-वीरता धर्म-भीरुता, उत्साह, उदारता, सहृदयता, पितृभक्ति, विद्या-निपुणता आदि की चर्चा करने लगे।

भोर में राज्याभिषेक की तैयारी और उत्सव की शोभा को कैकेयी के सतखण्डे हर्म्य की छत से दासी मन्थरा ने देखा। उसने देखा—पुरवासी आनन्द-कोलाहल कर रहे हैं। द्वार-द्वार पर ध्वजा-पताकाएँ, पुष्प-मालाएँ सुशोभित हैं, दर्शकों की भीड़ और चहलपहल राजद्वार तक बढ़ गई है। राजद्वार पर विविध वाद्य वज रहे हैं। 'उसने नीचे आ राम की धाय से, जो पीले वस्त्रों से सुशोभित थी, पूछा—अरी, आज अयोध्या में यह कैसा उत्सव है? बड़ी रानी कौशल्या आज क्यों अन्न, वस्त्र, स्वर्ण, रत्न लुटा रही हैं। राजद्वार पर यह भीड़-भब्भड कैसा है? तब राम की धाय ने बताया—अरी मूर्खे, तू इतना भी नहीं जानती? सुना नहीं तूने, आज राम का राज्याभिषेक हो रहा है।

दासी से यह सूचना सुन विकलांगी दासी मंथरा क्रोध से थर-थर कांपने लगी। वह कैकेयी की पित्रालय की पुरानी दासी थी। कैकेयी को उसने गोद खिलाया था, दूध पिलाया था। शुल्क की बात वह जानती थी। आनव जाति की स्त्री-स्वाधीनता से वह परिज्ञात थी। मानवों की कुल-मर्यादा, पुरुप-प्रधानता, स्त्री-दासत्व, इन सब से उसे घृणा थी। वह बड़ी बुद्धिमती और तीखे स्वभाव की वृद्धा थी। रानी के मुंह लगी थी। वह दशरथ के विश्वासघात और वचन-भंग को देख अग्नि के समान भभक गई। उसने मन में कहा—भरत-शत्रुघ्न को ननिहार भेज कर राजा ने यह अच्छी युक्ति निकाली है। वह अब अपने वचन को पूरा निवाहना नहीं चाहता। वह तीव्र गति से रानी कैकेयी के शयनागार में पहुँची, रानी कैकेयी अभी सो ही रही थी। वहां जाकर उसने रानी से कहा—"अरी रानी, क्या आज तेरी निद्रा भंग न होगी? क्या तू नहीं जानती कि तेरा भविष्य आज अन्धकार में डूब रहा है? तेरे ऊपर घोर संकट आनेवाला है। तेरे पाप का उदय हुआ है। उसका फल तुझे शीघ्र ही मिलने वाला है। राजा मीठी-मीठी बातें बना जाता है, तुझे पुष्पहार, आभूपण, रत्न मिल जाते हैं, तो तू समझती है—राजा तेरा ही है। पर मैं कहती हूँ अरी. अज्ञानी, तेरे साथ छल हो रहा है। कोरी प्रवंचना,—धोखा, अरी रानी, तू धोखा खायगी।"

मथरा दासी की ऐसी कटु व्यंगोक्ति सुन कर रानी कैकेयी हँस दी। उसने हँसकर कहा—"अम्ब, आज क्या बात है, भोर ही में तू बक-झक कर रही है, किसने तुझे क्रुद्ध किया है, बोल। तेरा मुंह क्यों सूख रहा है, क्या कोई अमंगल हुआ है?"

कैकेयी की ऐसी मीठी वाणी सुनकर उसने कहा—"अमंगल और कैसा होता है भला। आज राम को यौवराज्य अभिपेक हो रहा है, और तू बेखबर सो रही है। तू समझती है. राजा तुझे बहुत

प्यार करता है, पर आज तो वह कौशल्या को राज्यलक्ष्मी प्रदान कर रहा है। अब समझी मैं, इसीलिए उसने भरत को ननिहाल भेज दिया था। सोच तो, यदि राम राजा बन गया तो तेरा क्या हाल होगा ? हाय, हाय, मैं तो इसी सोच में मरी जाती हूं। पर तू भी तो कुछ अपना बुराभला सोच, अपने पुत्र के हित के लिए अब भी सचेत हो—समय रहते सचेत हो।"

धात्री के ये वचन सुन कर कैकेयी ने कहा—"अम्ब, राम को यौवराज्य मिल रहा है, तो तू दुःख क्यों करती है ? इसमें दुःख और शोक की क्या बात है भला, मैं तो राम और भरत में भेद नहीं समझती। राम और भरत मेरे दो नेत्र हैं। राम का राज्याभिषेक हो रहा है तो मैं प्रसन्न हूं—यह तो शुभ समाचार है। ले, यह रत्नहार, ये सब आभूषण, मै तुझे पुरस्कार में देती हूं।" यह कहकर उसने प्रसन्नता से अपने सब रत्नाभरण उतार कर मंथरा पर फेंक दिए। परन्तु कैकेयी के इस व्यवहार से मन्थरा और भी जलभुन गई। उसने वे गहने पटक दिए, और तमक कर बोली—"अरी मूढ़, तेरी यह कुबुद्धि मुझे तनिक भी नहीं सुहाती। तू दुःख के स्थान पर सुख मना रही है, सौत का पुत्र राजा बने और तेरा पुत्र दास। इसकी तू खुशी मनाए, ऐसी तेरी बुद्धि है। अरी, यह राम-राज्य की सूचना नहीं है, हमलोगों की मृत्यु की सूचना है। आज राम राजा बनेगा और कौशल्या राजमाता बनेगी। तब तुम, दासी की भांति हाथ बांध उसके सम्मुख जाओगी। भरत राम का दास होगा। सीता रानी बनेगी और भरत की स्त्री माण्डवी उसकी दासी। यह सब तू अपनी आंखों से देख सकेगी ? तुझे छोड़ और कौन बुद्धिमती स्त्री ऐसे अवसर पर प्रसन्न हो सकती है।"

वास्तव में कैकेयी राम को पुत्रवत् प्यार करती थी, उसके मन में तुच्छता का भान भी न था। वह अपनी शुल्क की बात भी

भूल गई थी। राजा का प्यार तथा अयोध्या का वैभव उसे प्रिय था। उसने बूढ़ी धाय मन्थरा के ऐसे वचन सुन नर्मी से कहा—"धातृमातः, तू स्नेह से ऐसा कहती है। परन्तु राम तो सर्वथा यौवराज्य के योग्य है। वह धर्मात्मा है, उदार, सत्यवादी और प्रजापालक है। वह तो मुझे ही अपनी माता समझता है, फिर भला भरत और राम में अंतर क्या है? राम को राज्य मिलना भरत ही को राज्य मिलने जैसा है।"

रानी के ये वचन सुनकर मन्थरा ने कहा—"ठीक ही है। अभी तू नहीं समझेगी। पर जब राम का पुत्र गद्दी का अधिकारी होगा और भरत और उसके पुत्रों को कोई स्थान न मिलेगा तब सब कुछ तेरी समझ में आ जायगा। अभी तो तुझे मेरी बातें बुरी लग रही हैं, और सौत की उन्नति देखकर तू मुझे पुरस्कार दे रही है, पर यह भी तो तू सोच, कि भरत को क्यों मामा के यहां भेज दिया गया। देश-देश के राजाओं को तो न्योता गया—पर तेरे पिता, भाई और पुत्रों को नहीं बुलाया गया। पर जब यह सब अपने और अपने पुत्र के सर्वनाश का षड्यन्त्र देख कर भी तेरी आंखें नहीं खुलतीं तो मुझे क्या? जब राम राजा हो जायगा और तू भरत को ले एक कोने में दासी की भांति पड़ी रहेगी अथवा जब सौत कौशल्या के सम्मुख तुझे हाथ बांध कर खड़ा होना पड़ेगा, तब तुझे पता लगेगा कि मैंने तेरे हित की ही बात कही थी।"

मन्थरा के इस विष-वमन से कैकेयी का मन पलट गया। धीरे-धीरे उसे उसकी सभी बातें ठीक प्रतीत होने लगीं। उसने धीरे से कहा—"तो अम्ब, तू क्या कहती है, कि भरत का हित किस बात में है। मैं क्या करूं?"

"बस, राम वन को जाय और भरत सिंहासन पर बैठे, यही तू कर। इसी में तेरा और भरत का तथा उसकी संतान का हित है।

अरी, इन आर्यों के परिवारों में माताओं की क्या मर्यादा है। ये तो पितृमूलक परिवार हैं। राम के राजा होते ही तेरा और तेरे पुत्र भरत के वंश का तो कहीं पता ही नहीं लगेगा। क्या इसी लिए तेरे पिता ने इस बूढ़े कामुक राजा को दो सौतों पर तुझे दिया था ? क्या तेरे प्रतापी पिता की कुछ मर्यादा ही नहीं है ? क्या तू नहीं जानती कि समूचा ही पच्छिमी उत्तरी पंजाब और सुदूर पूर्व प्रदेशों में तेरे पिता और उनके सम्बंधियों के राज्य फैले हैं ? आर्यावर्त का यह कंटक ही तेरे पिता के सार्वभौम होने में बाधा है। ज्यों ही कौशल की मुख्य गद्दी पर तेरा पुत्र बैठेगा, तो आर्यावर्त में फिर तेरे ही पिता के और पुत्र के वंश का डंका बजेगा। तेरे पुत्र का कुल कितना समृद्ध और लोकविश्रुत होगा, यह तो तनिक विचार।"

"तो अम्ब, अब तू ही उपाय कर। जिसमें मेरे पुत्र भरत को कौशल का राज्य मिले और राम बन जाय। बता, अब कैसे हम सफल-मनोरथ होंगे।"

मन्थरा ने कहा—"इसमें क्या है। राजा ने यही वचन देकर तुझे ब्याहा था कि तेरा ही पुत्र राज्य का उत्तराधिकारी होगा। सो राजा को यदि अपने वचन की चिन्ता नहीं है, तो युधाजित् तेरा भाई आनव-नरेश खड्गहस्त है। इन मानवों को हम समझ लेंगे। किसकी सामर्थ्य है जो तेरे वीर भाई से लोहा ले सके। फिर अभी तो राजा का वचन और तेरा प्यार है। सो तू वस्त्राभरण अलंकार त्याग, कोप-भवन में जा, मौन हो भूमि में पड़ी रह। इस बूढ़े कामुक राजा की क्या मजाल जो वह तेरे कोप को सहन करे। फिर तू खुल्लमखुल्ला उसके वचन-भंग का भण्डाफोड़ कर दे। राजा अपने को सत्यप्रतिज्ञ समझता है। वचन-भंग का लांच्छन सहन नहीं करेगा। यदि करेगा तो उसके सिर पर युधाजित् का खड्ग है ही। दशरथ की प्रतिज्ञा और तेरी विवाह-शुल्क की बात जब

लोग जान जाएंगे तो किसी का भी साहस तेरे विरोध करने का न होगा।"

"राजा तेरी बहुत लल्लोपत्तो करेगा, तुझे रत्नाभरण देगा, तू सभी को ठुकरा देना। बस, यही मांगना—भरत को राज्य और राम को वनोवास। भरत के राज्य करने पर प्रजा भरत से प्रेम कर उठेगी और सब को भूल जायगी। भरत निश्चल होकर राज्य करेंगे, और तू भविष्य में कौशल-राज्यमाता कह कर पूजित होगी। तेरी सौतें और उनके पुत्र तेरे सेवक होंगे, फिर उन पर तू चाहे जितना अनुग्रह करना।"

"ठीक है धात्रृमातः, अब मैं तेरी ही बात मानूंगी—कह, मैं क्या करूं?"

"बस, विलम्ब न कर। जैसे मैंने कहा—वही कर। पर सचेत रह, मतलब से मतलब रख। राजा की बातों में न भूल।

सुन्दरी रानी कैकेयी ने यही किया। मलिन वस्त्र पहिन, बाल बिखेर, निराभरण हो, जाकर कोप-भवन में भूमि पर लेट गई।

राजा दशरथ प्रसन्न थे। क्षण-क्षण पर वे आदेश दे रहे थे। वशिष्ठ, वामदेव, विश्वामित्र आदि ऋषि अभिषेक-सामग्री जुटा रहे थे। राज-प्रासाद की पौर पर दुन्दुभी बज रही थी। रनवास में अन्न-वस्त्र धन-रत्न दान किया जा रहा था। अभ्यागतों, अतिथियों तथा ऋषियों से राजद्वार पटा पड़ा था। सुमन्त्र सब का यथोचित सत्कार कर रहे थे। इसी समय राजा को सदेश मिला कि देवी कैकेयी कोप-भवन में चली गई हैं।

देवी कैकेयी का राज महालय अति भव्य था। उसमें सभी प्रकार के सुख-साधन उपस्थित थे, वह भवन स्वर्ग के समान प्रकाशवान् था। सब ऋतुओं के अनुकूल सभी भांति की सुख-सामग्री उस विलास-कक्ष में थी। परन्तु राजा ने आकर देखा, महल सूना पड़ा है। पुष्पाधार भूमि पर लुढ़क रहे हैं। गन्ध-द्रव्य धूपदानों में नहीं जल रहे हैं, मगल-कलश इधर-उधर लुढ़क रहे हैं। वस्त्रसज्जा सब अस्तव्यस्त छितराई पड़ी है। वह स्वर्गीय भवन नरक-तुल्य हो रहा है। दासियों ने भयभीत मुद्रा से सकेत द्वारा राजा को बताया कि देवी कोप-भवन में पड़ी हैं।

राजा ने वहां जा कोप-भवन में पड़ी रानी को देखा और दुखी होकर कहा—"प्रिये, किसने तेरा अहित किया, तुझे क्य दु:ख है? क्या मैं तेरा कुछ प्रिय कर तुझे प्रसन्न कर सकता हूं' तूने यह अपनी ऐसी दुर्दशा क्यों कर रखी है? कह—मैं तुझे प्रसन्न

करने के लिए क्या करूं ?" इतना कह राजा उंगलियों से उसके केशपाश सम्भालने लगा।

फिर उसने कहा—"तू तो मेरी सर्वस्व है। मैं तुझे ऐसे दीन वेश में इस प्रकार भूमि पर लोटते नहीं देख सकता हूँ। मैंने तो दा तेरा हित किया—सदा तेरी प्रसन्नता का ध्यान रखा। अब भी रे लिए मैं सब कुछ करने को तैयार हूं। तू कथनीय कह।"

तब रानी कैकेयी ने कहा—"देव, मुझे किसी ने न क्रोधित कया है, न अपमानित। मैं आपसे केवल अपना प्रासव्य मांगना ाहती हूं। मेरे हृदय में कुछ मनोरथ है, संकल्प है। मेरी कुछ ाभिलाषा है, मैं चाहती हूं कि वह पूर्ण हो। पर मैं इस प्रकार हीं कह सकती। मैं चाहती हूँ, आप वचन दें—प्रतिज्ञा करें। मैं भी अपने मनोरथ आपसे कहूं।"

रानी के ये वचन सुन, राजा ने हँस कर उसके बाल सहलाते ए कहा—"तू तो जानती ही है कि तू मुझे कितनी प्रिय है। राम के ाद यदि कोई मेरा प्रिय हो सकता है तो वह तू ही है, अतः मैं ाम की शपथ खाकर कहता हूं कि तू अपना मनोरथ कह, मैं से अवश्य पूर्ण करूंगा। मेरी इस प्रतिज्ञा के साक्षी सूर्य, चन्द्र, व, ऋषि, पितृगण है। रघुवंशी कभी अपनी प्रतिज्ञा से नहीं लते है, सो तू जान।"

कैकेयी राजा के ये वचन सुन कर बोली—"आप प्रतापी स्वाकु वंश के शिरोमणि नरपति हैं, और आपका वचन अभंग । ऐसा ही आपने कहा है, तो मैं आपको स्मरण दिलाती हूँ कि आपने मेरे साथ यह शर्त करके विवाह किया था कि मेरा ही पुत्र आपकी गद्दी का उत्तराधिकारी होगा। इसके अतिरिक्त देवासुर संग्राम में आपने जो मुझे वचन दिए थे, वे भी आपके पास धरो- हर हैं। अतः अब इस प्रकार आप अपने वचन से उऋण हो जाएँ कि मेरा पुत्र भरत राजा हो और राम आज ही वन जायँ, और

वहां चौदह वर्ष बनवासियों का जीवन व्यतीत करें।"

राजा दशरथ कैकेयी के ये वचन सुनते ही मूर्छित होकर धरती पर गिर गए। फिर चेतना आने पर भी धिक्कार-धिक्कार उच्चारण करते हुए फिर मूर्छित हो गए। परन्तु चैतन्य होकर फिर बोले—"अरी कुलनाशिनी, तूने यह क्या किया ? तू मेरे मनोरथों को फूलते-फलते देख उसे समूल नष्ट कर रही है। अरी, राम ने तो अपनी माता से भी अधिक सदा तेरी सेवा की है। मैंने तेरे वचन पर विश्वास किया, यह मेरा ही दोष है। देख—मैं दीन की भांति तेरे चरण पर गिरकर तुझसे भीख मांगता हूँ, कि तू इस भयानक निश्चय को बदल दे।"

राजा की ऐसी कातरोक्ति सुन कर रानी ने प्रचण्ड क्रोध करके कहा—"महाराज, आपको यदि वचन देकर उनका पालन करने में दुख होता है, तो जाने दीजिए। पर अब तुम पृथ्वी पर धर्मात्मा और सत्यवादी नहीं कहलाओगे। अब तुम्हीं सोच लो कि कैसे इस लज्जा के भार को सहन करोगे ? अरे, इससे तो तुम्हारा पवित्र रघुकुल ही कलंकित हो जायगा। तुम्हारे ही कुल में ऐसे बहुत राजा हुए हैं जिन्होंने प्राण देकर भी वचन का पालन किया है। सो राजन्, यदि तुम्हें यश प्रिय नहीं है और तुम अपने वचन से मुकरना ही चाहते हो तो तुम ऐसा ही करो। परन्तु मैं और मेरे पुत्र तुम्हारे दास बन कर नहीं रहेंगे। मैं तो आज ही विषपान कर प्राण दूंगी और मेरा समर्थ भाई तुमसे मेरा भरपूर शुल्क लेगा। मैं भरत की शपथ करके कहती हूं कि मैं किसी भांति और दूसरे उपाय से संतुष्ट नहीं हो सकती। सो तुम समझ लो।"

ऐसे कठोर और निर्मम वचन सुन राजा दशरथ अनेक विधि विलाप करने लगे। उन्होंने कहा—"दूर देश से जो राजा आए हैं, वे क्या कहेंगे। अब मैं कैसे उन्हें मुंह दिखा सकता हूँ। अरी कुछ तो सोच, कुल की प्रतिष्ठा और राम की ओर देख। राम पर तेरा

इतना विराग क्यों है ?"

परन्तु जैसे सूखा कास मोड़ा नहीं जा सकता, उसी प्रकार कैकेयी पर इन बातों का कोई प्रभाव नहीं पड़ा। उसने कहा—"महाराज, आप धर्मात्मा और दृढ़प्रतिज्ञ हैं। सारा संसार आज तक आपको सत्यप्रतिज्ञ समझता है, सो आप आज उस प्रतिज्ञा को भंग करके कलंकित होना चाहते हैं।"

यह सुन राजा घायल हाथी की भांति भूमि पर गिर गए। वे अनुनय करके कहने लगे—"लोग कहेंगे, स्त्री के कहने से पुत्र को वन भेज दिया। हाय, मैं पुत्र-रहित ही क्या बुरा था। अरी रानी, कुछ तो विचार कर, अयोध्या की ओर देख, इस वंश की ओर देख, तू राम ही को राजा होने दे। वशिष्ठ, वामदेव सभी की यही सम्मति है, और प्रजा भी यही चाहती है। भरत भी यही पसंद करेगा, तू हठ न कर।"

परन्तु रानी ने नहीं माना। महल के बाहर बन्दी-भाट यशोगान कर रहे थे, वाद्य बज रहे थे, गली और सड़कों पर चन्दन, केसर छिड़का जा रहा था। ध्वजा-पताकाएँ फहरा रही थीं, और भूमि में पड़े कराहते हुए राजा से रानी कह रही थी—"राजन्, तुम्हारा गौरव, यश, प्रतिष्ठा, मान, बड़ाई सब इसी में है कि सत्य का पालन करो। राम को आज ही वन भेजो और भरत को अभी राज्य दो।"

७८

वन-गमन

अन्तत. पूर्वदत्त वचनो के बल पर कैकेयी ने चौदह वर्ष के लिए राम-वनवास और भरत के लिए राज्य-भोग लिया। राम को वन जाना पड़ा। सीता और लक्ष्मण प्रेम-वश उनके साथ गए। दुःख-क्षोभ और ग्लानि से दशरथ ने प्राण त्यागा। भरत ने राम को लौटाने के बहुत प्रयत्न किए, पर सफल न हुए। तब वे राम के प्रतिनिधि-रूप हो राज्य करने लगे। राम दस मास चित्रकूट में रहकर दण्डकारण्य चले गए, तथा वहा बारह वर्ष पंचवटी में रहे। यहां जन-स्थान में अगस्त से उनकी भेंट हुई। यही उन्हें राक्षसो का विकट सामुख्य करना पड़ा। अगस्त का इस समय दक्षिणारण्य में भारी प्रताप था। उन्होंने अनेक राक्षसों को मारा था। राक्षसों से उनके आए दिन झगड़े होते रहते थे। वे बड़े प्रतापी ऋषि थे। इनकी पत्नी वैदर्भी लोपामुद्रा थी, तथा इनका आश्रम सब अगेडुओं का—आर्यों का आश्रय-स्थल था। ये दोनों ही पति-पत्नी वेदर्षि थे। इन्होने अरब सागर के जल-दस्युओं को मार कर जल-व्यापार निष्कटक किया था। राम को अगस्त से तथा अगस्त से राम को बहुत सहायता मिली।

दण्डकारण्य में रहते हुए राम को सर्वप्रथम विराध राक्षस का विकट सामुख्य करना पड़ा। ऋषियों ने उन्हें इस तेजस्वी राक्षस से सावधान कर दिया था। यह विराध पहिले गन्धर्व था और इसका नाम तुम्बुरु था। यह लंका मे कुवेर का कोई सेनानायक था—पीछे कुवेर से विगड़ कर यह रावण के प्रभाव

में आ राक्षस हो गया था तथा रावण के एक सेनानायक के समान दण्डकवन में रहता था। यह तपस्वियों, ऋषियों, आर्यों तथा उनकी यज्ञ-विधियों का घोर शत्रु था। यह महाबली, अजेय योद्धा था। इसके शरीर मे दश हाथियों का बल था। एक बार वन में मृगया करते हुए अचानक हो राम की भेंट इस राक्षस से हो गई। यह राक्षस उस समय व्याघ्रचर्म कमर मे लपेटे, अपना आखेट कर, एक शूल में व्याघ्र, हरिण और एक सिंह का सिर लटकाए लौट रहा था। उसके आतंक और गर्जन से वन आतंकित हो रहा था। ज्योंही इसने राम, सीता और लक्ष्मण को सम्मुख आते देखा तो सहसा रुक कर कहा—"अरे, तुम कौन नवागन्तुक यहां दण्डक में निर्भय घूम रहे हो? तुम्हें तो मैं यहां प्रथम बार ही देख रहा हूं। यह क्या बात है—तुम्हारे सिर पर तो तपस्वियों के समान जटाजूट है—पर कन्धे पर धनुष और साथ मे स्त्री क्यों है? स्त्री सहित तपस्वियों का इस प्रकार घूमना बड़े कलंक की बात है। मुझे तो तुम लोग कोई कपटी तपस्वी प्रतीत होते हो। मैं विराध राक्षस हू और तुम्हारे जैसे पाखण्डी तपस्वियों का आखेट करना ही मेरा कार्य है। आज मैं तुम दोनों पापिष्ठों का रक्तपान करूंगा और यह सुन्दरी स्त्री मेरी स्त्री बनेगी।"

यह कह कर उसने लपक कर सीता को अपनी बगल में दबोच लिया और अपना शूल हवा मे घुमाता हुआ तथा चीत्कार करता हुआ वन की ओर चल दिया। सीता उसके अंक में जाते ही भय से मूर्छित हो गई। यह देख राम एकदम व्याकुल और किंकर्त्तव्यविमूढ़ हो गए। वे विलाप करके कहने लगे—"हे भाई, जिस अभिप्राय से कैकेयी ने मुझे यहां वन में भेजा था, वह आज पूरा हो गया। देखो, मेरे ही देखते यह दुरात्मा मेरी पत्नी को हरण किए लिए जा रहा है।"

परन्तु लक्ष्मण ने वीर दर्प से कहा—"आर्ये, कातर न हो, मैं अभी इस दुरात्मा को मार गिराता हू।" इतना कह उन्होंने तीखे बाणो से विराध पर निरन्तर प्रहार करने आरम्भ किए। लक्ष्मण के बाणों से विद्ध हो वेदना से व्याकुल वह राक्षस क्रोध से सीता को भूमि में पटक लक्ष्मण की ओर झपटा। इस पर राम ने बाणों की वर्षा करके उसका अंग छलनी कर दिया। तब वह अपना तेजोमय शूल लेकर इन दोनों भाइयों पर टूट पड़ा और दोनो भाइयों को कमर से पकड़ कर कांख में दबा चल दिया। यह देख सीता जोर-जोर से आर्त्तनाद करने लगी और कहने लगी—"अरे राक्षस, तू उन्हें छोड दे और मुझे ले चल।" उधर लक्ष्मण ने बल करके उसकी बांई भुजा उखाड ली। भुजा टूटते ही लक्ष्मण उसकी पकड़ से छूट गए, और तलवार से उस पर वार करने लगे। इसी समय अवसर पाकर राम ने भी अपना छुटकारा कर उसे एक गढ़े मे ढकेल दिया तथा उसके कण्ठ पर पैर रख कर खड़े हो गए। लक्ष्मण जल्दी-जल्दी गढ़े को पत्थर और मिट्टी से भरने लगे और उन्होंने उस दुर्दान्त राक्षस को जीवित ही धरती मे गाढ़ दिया।

इस स्थान के निकट ही शरभंग ऋषि का उपनिवेश था। आवाज सुन कर शरभंग ऋषि बहुत से तपसियों को लेकर आ गए तथा राम-सीता को अपने आश्रम में ले गए।

इसी वन में एक और तेजस्वी ऋषि सुतीक्ष्ण रहते थे। उनका आश्रम मन्दाकिनी नदी के तट पर था। सुतीक्ष्ण का आश्रम बहुत बड़ा था। वे बड़े प्रभावशाली भी थे। वहां से वे राम को अपने आश्रम में ले गए। राम को उनसे बहुत सहायता मिली। उन्होंने उन्हें कुछ अच्छे शस्त्र भी दिए, तथा पंचवटी में आश्रम बना कर रहने की सम्मति दी और वहीं सब तपस्वियों-ऋषियों ने मिलकर दण्डकारण्य से राक्षसों के उन्मूलन-

की योजना बनाई।

इस प्रकार राम कभी इस ऋषि के आश्रम में कुछ दिन रहते—कभी उस ऋषि के आश्रम में। कभी पंचवटी में अपने आश्रम में आ रहते। इस तरह रहते हुए उन्हें दस वर्ष व्यतीत हो गए। इसी समय उन्हें सूर्पनखा से उनकी भेंट हुई और खर-दूषण से विग्रह हुआ। यों तो अगस्त्य के कारण राक्षस बहुत कुछ दबे हुए रहते थे तथा अवसर पाने से अगस्त्य उन पर आक्रमण करते ही रहते थे। अगस्त्य का राक्षसों पर आतंक भी बहुत था। अगस्त्य का आश्रम एक अच्छा खासा सैनिक सन्निवेश था। बहुत देव-गन्धर्व-मुनि-ऋषि अगस्त्य की सेवा में उनके उपनिवेश में रहते, उनकी पूजा करते और उनकी आज्ञा मानते थे। राम के आने से उन्हें अपूर्व बल मिला। अब, जब सूर्पनखा से उनका विग्रह हुआ और खर-दूषण से युद्ध हुआ तो अगस्त और सुतीक्ष्ण ऋषि के नेतृत्त्व में जन-स्थान के सारे ही ऋषियों ने राम के सहातार्थ युद्ध किया था। राम ने उनकी सहायता ही से जन-स्थान को राक्षसों से रहित कर दिया था। उन्हीं के भय से रावण ने राम पर आक्रमण करने का साहस नहीं किया—चोर की भांति सीता को हर ले जाने की योजना बनाई।

वास्तव में ये सभी ऋषिगण सशस्त्र रहते तथा युद्ध में धीरता-पूर्वक लड़ते थे। आत्म-रक्षा में बिना समर्थ हुए जन-स्थान तथा दण्डकारण्य में वे रह भी नहीं सकते थे। उनके उपनिवेश भी एक प्रकार के छोटे-से जनपद ही थे, जहां प्रमुख ऋषि का शासन-राजा ही की भांति माना जाता था—और उन्हें कुलपति समझा जाता था।

पंचवटी के निकट ही विनिता के पुत्र—गरुड़ के भाई जटायु

का छोटा-सा उपनिवेश था। जटायु दशरथ के मित्र थे। जब उन्होंने सुना कि राम दशरथ के पुत्र हैं तो उन्हें बड़ा स्नेह हुआ और उन्होंने राम की बहुत सेवा-सहायता की। उनका आश्रम अतिशय मनोरम था। वह एक सुन्दर समथल पर सुरुचिपूर्ण ढंग पर बसाया गया था। पास ही एक जल-कुण्ड था तथा कुछ ही अंतर पर पल्लवित और पुष्पित वृक्षों से सुशोभित गोदावरी थी। चारों ओर ऊंचे-ऊंचे पर्वत थे जिन में अनेक गुफाएँ थीं। इन पर्वतों में साल, ताल, तमाल, खजूर, कटहल, आम, अशोक, तिलक, केवड़ा, चम्पा, चन्दन, कदम्ब, लकुच, धर्व, अश्वकर्ण, खैर, शमी, पलाश और गुलाब के रमणीय वृक्ष-पादप सुशोभित थे। सीता ने अपने श्रम-सीकर से सींच कर इस आश्रम को अत्यन्त मृदु-मनोहर बनाया था। कुञ्ज में हर समय सारस, चकोर, हंस, जलकुकुट क्रीड़ा करते थे। वृक्षों पर पक्षी चहचहाते हुए कलरव करते; मोर कूकते, तथा मृग-शावक छलांगें भरते थे। राम-लक्ष्मण ने मिट्टी की दीवार और लकड़ी के खम्भे खड़े करके, ऊपर बड़े-बड़े बांस तिरछे डाल तथा उन पर शमी की शाखाएँ फैला तथा उन्हें मजबूत रस्सियों से बांध कर इनके ऊपर कांस, सरकण्डे और पत्ते बिछा कर उत्तम छायादार घर बनाया था, तथा चारों ओर की भूमि को समतल कर वहां विविध प्रकार के फल-फूलों के वृक्ष रोपे थे। राम लक्ष्मण, गोदावरी में स्नान करते, मृगया आखेट करते—बलि-हवि-विधि करते—परस्पर कथा-वार्ता करते—तापसी जनों, ऋषियों एवं जन-स्थल-वासियों की सब भांति सहायता करते—सब के साथ कौटुम्बिक की भांति रह रहे थे। सभी उन्हें उच्च, कुलीन, धीर-वीर, सज्जन और हितैषी मान कर उनका सत्कार करते थे। सीता पत्र-पुष्प फल-मूल से आगत-समागत सभी जनों का सत्कार-अभ्यर्थना करती—तपस्वियों की स्त्रियों के साथ हिलमिल कर

रहती थी। सीता बड़ी भावुक, कोमल और मृदुल स्वभाव की स्त्री थी। सभी तापसियां उससे प्रसन्न और संतुष्ट रहती थीं।

७६

हरण

एक तापसी के साथ सीता आश्रम के पौधों में जल सींच रही थी। जल सींचते-सींचते वह तापसी से कह रही थी—"आर्ये, ये देव निर्माल्य पुष्प-वृन्त ही हमारे इस आश्रम की सम्पदा हैं। इसी से, जब तक आर्यपुत्र वन से नहीं लौट आते—मैं इन बाल वृक्षों को सींचती रहूंगी।"

तापसी ने कहा—"भगवती ने ठीक ही कहा है। जो मैं सरोवर से जल लाती हूँ—तुम इन वृक्षों के मूल में सींचो।"

तापसी कलश उठाकर चली—तो सामने फलमूल और आखेट लिए राम को आते देख कर बोली—"अहा, रामभद्र आ गए।"

राम ने सीता को जल से भरा घड़ा उठाए पौदों को सींचते देखा तो उनका मन खिन्न हो गया। उन्होंने मन ही मन कहा—"धिक्कष्ट, यह राज्य-भार भी कैसा गर्हित है; जिसने हमें वन में वास करने को विवश किया। यह वैदेही—जो हाथ में दर्पण लेने से भी थक जाती थी—जलपूर्ण घट लिए कब से पौधों को सींच रही है। परन्तु यह प्रिया वैदेही तो कष्ट में भी विनोद की रचना करती है। देखो, ये प्यासे विहग उसकी छोड़ी हुई जल-धार में चोंच डुबो कर पानी पीते हुए कितने भले लगते हैं। परन्तु यह वन तो स्त्री-सौकुमार्य को भी वन-लताओं की भांति सुखा कर कठोर कर देता है। धन्य है वैदेही की यह श्रम-तपस्या।" उन्होंने आगे बढ़कर कहा—"मैथिली, तेरी तपस्या अभी पूरी हुई या नहीं?"

"अहा! आर्यपुत्र हैं, जयत्वार्य पुत्र.।"

"परिश्रम से श्रान्त-क्लान्त श्रमसीकर से सम्पन्न तेरा मुख सद्यस्नात कमल सा दीख रहा है। सो अब तेरी तपस्या में विघ्न न हो तो आ, यहां शीतल छाया में बैठें।"

"जैसी आर्यपुत्र की आज्ञा।"

"सीते, यह कैसा सुहावना समय है। शीत के कारण शरीर में स्फूर्ति का अनुभव हो रहा है, अब शरीर अधिक जल का प्रयोग नहीं सह सकता, सहसा भूमि शस्य-श्यामला हो रही है। शरीर को अग्नि और धूप सुहाने लगी है। इन्हीं दिनों राजा लोग विजय-कामना से निकलते हैं, तथा सूर्य दक्षिणायन आ जाते हैं। हिमवान् भी अपने वास्तविक रूप को प्रकट करता है, अब तो दोपहर को भी बाहर आने मे कष्ट नहीं होता। वृक्षों की छाया और शीतल जल अब अच्छा नहीं लगता। हिम के कारण रात्रि अधिक अंधेरी हो जाती है। शीत के कारण घर से बाहर कोई आदमी नहीं निकलता। पूर्णिमा की रात्रि भी अब धूमिल होती है, वायु भी अति शीतल हो गई है। शस्य-श्यामला भूमि कुहरे मे आच्छादित कान्तिहीन प्रतीत हो रही है। सूर्य के उदय होते ही सारा वन-प्रदेश प्रदीप्त-सा हो उठता है। प्रात.कालीन सूर्य का प्रकाश तो मन्द रहता है, पर वह मध्याह्न में भी अब सुखकर प्रतीत होता है। जल शीतल हो जाने से गजराज अपनी सूंड जल में डालते ही बाहर निकाल लेते है। जल के पक्षी जल मे बैठे हुए भी जल मे चोंच डालने का साहस नहीं कर सकते।"

राम के मुख से यह वर्णन सुनकर सीता ने कहा—"आर्य-पुत्र, धर्मात्मा भरत का इस समय क्या हाल होगा? वे तो आप ही के कारण अपनी ही राजधानी में सब राज-भोग त्याग तापस-जीवन व्यतीत कर रहे हैं। राज्य-मान और मात्र-भोगों को उन्होंने त्याग दिया है। वे फल-फूल का नियमित आहार करने

के कारण अति कृश हो गए होंगे। इस शीतकाल में भी वह ब्रह्मचारी कठिन भूमि में सोते होंगे। वे निश्चय ही ब्रह्मवेला में सब आमात्य-जनों सहित सरयू-तट पर जाते होंगे, उन सत्य-वादी भरत ने तो सब कुछ त्याग आप ही का आश्रय लिया है। लोग कहते हैं कि मनुष्य अपनी माता के गुणों का अनुकरण करता है, परन्तु महात्मा भरत ने तो अपने वर्ताव से इस लोकोक्ति को मिथ्या ही कर दिया है। उन्होंने माता के गुणों को ग्रहण नहीं किया, पिता के ही गुणों को अपनाया है। हे आर्यपुत्र! धर्मात्मा दशरथ जैसे जिसके पति और भरत जैसे जिसके साधु पुत्र हों—वह कैकेयी माता कैसे ऐसी निष्ठुर हो गई।"

इसी समय किसी ने बाहर से पुकारा—"अहमतिथिः। कोऽत्र भो.।"

राम ने सुन कर कहा—"स्वागतमतिथये।"

उन्होंने द्वार पर जाकर देखा—एक तपस्वी मृगचर्म धारण किए, दण्ड हाथ में लिए खड़ा है। दृष्टि उसकी सतेज है, सिर पर जटाजूट है।

राम ने कहा—"अये भगवान्। अभिवादये।"

"स्वस्ति। मेरा काश्यप गोत्र है। मैंने सांगोपांग वेद पढ़ा है। मैं धर्मशास्त्र, अर्थशास्त्र और योगशास्त्र का भी ज्ञाता हूँ।"

"भगवन्, यह आसन है बैठिए।"

अतिथि के बैठने पर राम ने कहा—"मैथिलि, पाद्य लाओ, अर्घ्य लाओ, अतिथि का सत्कार करो।"

रावण ने बैठते हुए कहा—"सत्कृतोस्मि। पूजितोस्मि। अहा, हिमालय के सप्तम शृंग पर जो काचन-पार्श्व मृग मैंने देखा, उसकी शोभा अकथनीय थी।"

"क्या वैसे मृग अन्यत्र नहीं होते?"—सीता ने उत्सुकता से पूछा।

"वहीं ही हैं। वह मन्दाकिनी का गंगाजल पान करते हैं, वैडूर्य-मणि-सी उनकी श्याम पृष्ठ है। सुनहरा पार्श्व है, पवन के समान वेग है । वह नीलग्रीव, रक्तशीर्ष, कृष्णपाद श्वेतच्छद स्वरूप हैं।"

सीता ने चमत्कृत होकर कहा—"भाग्यवन्त हिमशैलपार्श्ववर्ती देव ही उस रम्य हरिण को देख सकते हैं । आर्यपुत्र, क्यों न हमलोग भी चल कर वहीं रहें।"

राम ने हँस कर कहा—"प्रिये, तूने यहां जिन मृग-शावकों तथा गुल्मो को अपना पुत्र बनाया है, और जिन लताओ को तू सखी के समान प्यार करती है, उनसे पूछ ले।"

रावण ने कहा—"अहा, हिमवंत शैल के उस अंचल में जो ज्योतिर्लतारण्य है—वह तो वहां कभी रात्रि का भान ही नहीं होने देती।"

"क्या भगवान् वहीं हिम शैल-शिखर पर ही रहते हैं?"

"नहीं तो क्या? किन्तु अरे, यह क्या चमत्कार है! यह विद्युत की सी चमक कैसी हुई। अरे! यह देखो—कांचन-पार्श्व मृग है।"

"क्या सचमुच?"

"देखो देखो, वह भागा, वह मुड़ा।"

"सचमुच। सचमुच। प्रिये, लक्ष्मण से कह—उसे पकड़े।"

"सौमित्र तो तीर्थयात्रा से लौटे हुए कुलपति की अभ्यर्थना करने आपकी आज्ञा से गए हैं।"

"तो मैं ही जाता हूं—मेरा धनुष ला—बाण दे।"

"आर्यपुत्र, मैं क्या करूं?"

"इन महात्मा का सत्कार कर।"

इतना कह राम धनुष पर बाण संधान कर उस कांचन-मृग के पीछे दौड़ चले। उन्हें दृष्टि से ओझल हुआ देख सीता ने

कहा—"अरे, बिना आर्यपुत्र के यहां अकेली को तो मुझे बड़ा भय लगने लगा, मैं तो कुटी में जाकर बैठती हूं।"

उसे उठकर जाते देख रावण ने कठोर स्वर से कहा—"सीते, ठहर! ठहर!"

"अरे! तुम कौन हो?"

"सुन्दरी, तेरी कान्ति स्वर्ण के समान है, यह पीताम्बर तेरे स्वर्ण गात पर खूब खिल रहा है। तू गोरी है, स्त्री है, कान्ति है, कीर्ति है, अप्सरा है, अथवा स्वच्छन्द विहारिणी रति है। तेरे नेत्र अति सुन्दर हैं, और तेरी धवल दन्तावली मेरे मन को भा गई है। तेरे सौन्दर्य पर मैं मोहित हूं। तेरी यह पतली कमर तो गजब ढा रही है, तेरे स्तन भी कैसे चुस्त हैं। तेरी जैसी नारी तो मैंने आज तक देखी ही नहीं। कहां तो तेरा यह देवदुर्लभ रूप, उभार और कोमल मृदुल गात्र, और कहां यह दुर्गम-वन। जहां पद-पद पर भय है। अरी, तुझे तो मणि-प्रासादों में, पुष्पों से सुरभित वाटिकाओं में, समृद्ध नगरों में रहना चाहिए। तू यहां हिंसक जन्तुओं से परिपूर्ण वन में कहां आ फंसी है।"

छद्मवेशी अतिथि से ऐसे अश्रुत वचन सुन भयभीत होकर सीता ने कहा—"यह तो अतिथियों का सदाचार नहीं है, तुम कोई छद्मवेशी दुराचारी तस्कर तो नहीं हो?"

"अरी, क्या तू नहीं जानती? जिसने देवराट् सहित सब देव-यम-कुवेर और पृथ्वी के नृपतियों को जय करके त्रिविक्रम पद प्राप्त किया है, जिसके भय से सब देव-दैत्य-असुर-नाग थर-थर कांपते हैं, मैं वही जगज्जयी रक्षेन्द्र रावण हूं—जिसकी बहिन सूर्पनखा का तेरे इस वनवासी पति ने अंगभंग किया है तथा जिसके चौदह सहस्र भटों को मार डाला है।"

"क्या रावण?"

"हूं, अब तू मेरे हाथ से बचकर कहां जाती है।"

वह उसे पकड़ने को आगे बढ़ा। सीता ने चीत्कार करके कहा—"आर्यपुत्र, रक्षा करो—सौमित्र, रक्षा करो, रक्षा करो।"

"अरी सुन, अब तू उस बहिष्कृत राज्यभ्रष्ट भिखारी राम का ध्यान छोड़ और मुझीको आर्यपुत्र समझ। मैं तुझे अपनी रानियों में सर्वोपरि स्थान दूंगा। मेरी स्वर्णलंका में—जो समुद्र के मध्य में बसी है तथा जिसकी अतुलनीय शोभा त्रिलोक-विश्रुत है—चल कर मेरे स्वर्णिम प्रासादों मे तू रह। वहां मेरे अन्तःपुर की सैकड़ो दासियां तेरी सेवा करेंगी और तू यथेष्ट सुख-भोग करेगी।"

सीता ने यह सुनकर क्रोध से कहा—"अरे पतित, कुटिल चोर, तेरा सर्वनाश उपस्थित है, जब तक आर्यपुत्र नहीं आते हैं, तू यहां से भाग जा।"

"तो अब तो तुझे लेकर ही जाऊंगा।" इतना कह उसने आगे बढ़ कर सीता को बाहुओ मे उठा लिया, और कुकरी की भांति विलाप करती हुई तथा "आर्यपुत्र, रक्षा करो, सौमित्र रक्षा करो", पुकारती हुई सीता को रथ में डाल रावण भाग चला। चलते-चलते उसने पुकार कर कहा—"अरे, जन-स्थान में रहने वाले तपस्वियो सुनो, यह मैं रक्षपति रावण लंका का अधिपति इस दाशरथि राम की भार्या सीता को हरण करता हूं। राम की यदि क्षात्रधर्म में रुचि हो तो इसकी रक्षा करें।"

इतना कह कर उसने वेग से रथ हांक दिया। रथ के खच्चर वायुवेग से उड़ चले। सीता पुकार रही थी—"आर्यपुत्र, रक्षा करो, सौमित्र रक्षा करो, रक्षा करो।" सीता का आर्त्तनाद सुनकर तपस्वी चिल्लाने लगे—"अरे, बचाओ, बचाओ। धर्मात्मा राम की पत्नी भगवती सीता को यह कोई चोर चुराए लिए जा रहा है।"

जटायु का आत्मयज्ञ

इसी समय किसी ने वज्र-गर्जना की भांति कहा—

"ठहर रे पापिष्ठ, तू पराई स्त्री को चुराकर कहां भाग रहा है।"

रावण ने देखा—जटायु क्रोध में भरा दौड़ा चला आ रहा है। आकर उसने रावण के रथ के अश्वतरी की वल्गु एक झटके के साथ पकड़ ली। अश्वतरी हठात् रुक गईं।

रावण ने क्रोध करके कहा—

"तू कौन है रे हतायु, जो मेरे बीच आता है।"

"मैं गरुड़ानुज जटायु हूं। और यह निन्दित कर्म करनेवाला चोर तू कौन है?"

"इस बात से तेरा क्या प्रयोजन है? तू यदि प्राणों से मोह रखता है तो मेरी राह से दूर हो जा।"

"यह कैसे? अरे, मैं वृद्ध हूं इसी से ऐसा कहता है। पर क्या मेरे देखते तू चोर पराई स्त्री का यों अपहरण कर ले जायगा?"

"तू निश्चय ही मरना चाहता है।"

"मैं अभी तुझे रथ से नीचे पटकता हूं, ले सम्हल!"

इतना कह कर जटायु ने टांग पकड़ रावण को रथ से नीचे खींच लिया। रथ से नीचे गिरकर क्रोध से लाल होकर रावण धनुष ले जटायु पर बाणों की वर्षा करने लगा। बाणों से घायल होने पर भी जटायु ने साहस नहीं छोड़ा। उसने निहत्था होने पर भी रावण को पकड़ कर भूमि पर धर पटका। बहुत देर तक दोनों में घोर युद्ध होता रहा। वीरवर जटायु ने रावण का कवच फाड़

८१

अशोक वन में

सीता के केश बिखर गए। वस्त्र फट गए। उनके जूड़े में लगे फूल झड़-झड़ कर पृथ्वी में बिखर गए। सीता—"हा सौमित्र, हा आर्यपुत्र" कहती जा रही थी। वह अपने अंग के आभूषण उतार उतार कर पृथ्वी पर फेंकती जाती थी, जिससे कदाचित् राम उन्हें देख उसके हरण की दिशा को पहचान लें। जब सीता का नूपुर उनके पैर से खसक कर गिरा, तो ऐसा प्रतीत हुआ, जैसे आकाश से पृथ्वी पर बिजली गिरी। जब आभूषण गिरते थे, तो ऐसा प्रतीत होता था कि आकाश से तारे टूट-टूट कर गिर रहे हैं। ऐसा प्रतीत होता था कि सीता के दुख से सूर्य भी निश्चल हो गए, वन-देवता भी जैसे थर-थर कांपने लगे। वन के मृग, सिंह, बाघ भी शोकद्रवित हो गए। पर्वत शोकमग्न हो झरने के बहाने अपने आंसू बहाने लगे। सीता, राम और लक्ष्मण कहीं आते दीख जायँ, इस आशा से बारबार चारों ओर देखती जाती थीं। वह रावण से विलाप के बीच-बीच कह रही थी—"अरे अधम-तस्कर-दुरात्मा, तुझे यह नीच कार्य करने में लज्जा नहीं आती? अरे छली—कायर, तेरे इस कुत्सित कर्म को तो ससार के मनुष्य क्रूर और अधर्म ही कहेंगे, तेरे पराक्रम पर धिक्कार देंगे। अरे, तुझ पापी पर धिक्कार है। तूने तो अपने इस आचरण से अपने कुल को भी कलंकित किया। अरे, तू तो अपने को वीर बताता था। अरे, जो कहीं वे दोनों महात्मा दशरथकुमार राह में मिल गए, तो तू अपनी मृत्यु ही हुई जान। और मुझे हरण करके तेरा कुछ भी उद्देश्य पूरा न होगा। मैं तो तत्काल प्राण दे दूंगी"

इस प्रकार विलाप करती हुई सीता ने जाते-जाते राह में एक पर्वत-कूट पर पांच वानरों को बैठे देख अपना पीत उत्तरीय उतार कर फेंक दिया। उसमें कुछ गहने भी बांध दिए। वे वानर उस विलाप करती हुई सीता को एकटक देखते रहे।

अन्ततः वह दुर्धर्ष रावण सीता को लेकर निर्विघ्न लंका में जा पहुंचा। वह सीता को अन्तःपुर के द्वार के भीतर ले गया। यह द्वार स्वर्ण का था। इसकी खिड़कियां हाथी-दांत की थीं, तथा गवाक्ष चांदी के थे। वहां दिव्य दुन्दुभी बज रही थी। राक्षस-राज रावण बलपूर्वक सीता का हाथ पकड़े महल की स्वर्णमयी सीढ़ियों पर चढ़ने लगा। हाथीदांत और चांदी की खिड़कियों में सोने की जालियां लगी थीं। रावण अपना महल सीता को दिखाने लगा। अनेक भवन, तालाब और बारहदरियां दिखाईं। फिर कहा—"हे सीते, मेरे आधीन असंख्य राक्षस हैं। अब मैं और मेरा यह सारा राज-पाट वैभव तेरे आधीन है। तू मुझे प्राणों से भी अधिक प्रिय है। मेरे मणिमहल में हजारों सुन्दरियां हैं, उन सब के ऊपर मैं तुझे महारानी बनाना चाहता हूं। समुद्र से घिरी इस लंका का विस्तार सौ योजन का है, इसे इन्द्र सहित सब देवता भी विनष्ट नहीं कर सकते। वह देख, उस गगनस्पर्शी महल में देवराट् इन्द्र बन्दी है। अब तू उस भिक्षुक राम के साथ रह कर भला क्या करेगी? सो उसका तू ध्यान छोड़ दे। यह देख; मेरा पुष्पक-विमान सूर्य के समान देदीप्यमान है; जिसे मैंने अपने भाई कुबेर से छीना है, यह अति रमणीय विमान मन के समान गति-वान् है। इस पर बैठ कर तू मेरे साथ स्वच्छन्द विहार कर। मैं तेरी आज्ञा के आधीन रहनेवाला रावण तेरा दास हूं।"

सीता ने तब तिनके की ओट करके कहा—"हे रक्षेन्द्र, आपका यह सब कथन, और कार्य आपके लिए शोभनीय नहीं है। कैसे आश्चर्य की बात है कि आप प्रजापति के वंश के पुत्र तथा महा-

वीर होकर ऐसा कायर कुकर्म कर बैठे। मेरे पति रघुकुल-तिलक श्री राम हैं, वे सत्यप्रतिज्ञ जगत में विख्यात हैं। आप यदि जन-स्थान में उनके सामने पड़ जाते तो अवश्य ही मारे जाते। आप चाहे मेरे इस अवश शरीर को बाँधे या नष्ट कर दें, पर मैं आर्य-पुत्र दाशरथि को छोड़ किसी अन्य पुरुष को नहीं छू सकती।"

तब रावण ने कहा—"मैथिलि, मैं आज से बारह मास की अवधि तक तेरी स्वीकृति की प्रतीक्षा करूंगा। यदि इतने दिनों में भी तू मुझे स्वीकार न करेगी, तो मैं तुझे वध करके भक्षण करूंगा, यह तू भली भांति सोच ले।"

इतना कह—उसने सीता को अशोक वन में ले जाकर रहने की व्यवस्था कर दी जहां उसके लिए सब सुख-साधन उपस्थित कर दिए गए।

वारवेश्म

लंका की प्रसिद्ध कुटनी यमजिह्वा ने जब दूती से यह सुना कि वह मूर्ख अज्ञकुमार मदालसा के प्रेम में भलीभांति सुलग रहा है; और यहां आने के लिए उत्सुक है; तो वह बड़ी प्रसन्न हुई। उसने उसे आने का संदेश भेज दिया। फिर पुत्री को उसने वेश्याधर्म की दीक्षा देते हुए कहा—"ले अब तू भी तैयार हो जा। वेश्या के लिए ऐसा नागर नायक होना चाहिए जो गुरुजनों की बाधाओं से रहित हो, अपने मन का स्वयं मालिक हो, जिसका बाप राजधानी से दूर युद्धोद्योगों में निरन्तर व्यस्त हो, पुत्र की चेष्टाओं पर ध्यान ही न दे सके, तथा वह तन-मन से स्नेहाक्रान्त हो। ऐसा ही नागर यह मूर्ख राजकुमार है। वेश्या के लिए ऐसा ही नायक सर्वाभिलापितार्थपूरक होता है। तू अब इसे अपने आधीन कर विपुल संपत्ति इससे हरण करने की चेष्टा कर।"

कुछ ही समय में राजपुत्र ने मदालसा के निवेश में प्रवेश किया, नट-विट-दूती और परिभ्रष्टकों के सहित। उसकी चेष्टा गंवारू और वेश अद्‌भुत था। सिर पर खूब मोटी लम्बी चोटी, पांच-पांच अंगुल के केश, लम्बे कानों में बड़े-बड़े सीस-पत्र, नुकीले छीदे दांत। उंगली की पोर-पोर में अंगुली-त्राण, कण्ठ में स्वर्ण का कण्ठ-सूत्र, सर्वांग पर कुंकुम-कस्तूरी का लेप, रंगीन वस्त्र, नाभि तक लटकती हुई पुष्पमाल, मोम से नर्म किए और शिलारस से रंगे हुए उपानत। ठौर-ठौर पर नाना रंगों के टोटका सूत्र केशों में बंधे हुए। पान का बीड़ा ठूंसने से फूला हुआ एक

गाल। सुनहरे तारों के काम की किनारी वाली शाटिका और उत्तरीय, रक्त पुनर्नवा के रस से रंगे हुए नख। किसी की नजर न लग जाय—इसके भय से सूत्रो में बांधे हुए शंख-चक्र, व्याघ्रनख, शूकरदन्त स्वर्ण-मण्डित। आगे ताम्बूल करङ लिए एक दास। अगल-बगल श्रेष्ठि-वणिक्-विट-कितव-प्रधान संग। हाथ में खड्ग। मदालसा ने देखा तो उसे हंसी आ गई, परन्तु वह लीला-विलास से अंगड़ाई-सी लेती, बाहुमूल और उपांगो की झलक दिखाती वहां से भाग गई।

यमजिह्वा ने बैठने को उसे पीठिका दी, ताम्बूल दिया, पृष्ठतूल दिया। राजकुमार ठाठ से पृष्ठतूल पर शरीर का भार रख बैठ गया। संगी-साथी भी बैठे और अप्रासंगिक गप्पें उड़ाने लगे। वे झूठी चापलूसी करने और भौंड़ी गप्पें उड़ाने लगे।

मन की विरक्ति को छिपा कर कुटनी यमजिह्वा ने कहा—"अहा, आज तो हमारे सहस्र जन्म का ही पुण्योदय हुआ। जो राजपुत्र के दर्शनों से नयन सफल हुए।"

और इसके बाद तो वेश्यावृत्ति के सारे ही भावास्त्र यथाक्रम प्रयुक्त हुए। प्रथम चापलूसी, फिर अनुराग, प्रणय, रूठना, मान-मनोवल, विरह-शोकोच्छ्वास आदि हाव-भावों मे मदालसा ने माता की सिखाई हुई समूची विद्या का सदुपयोग किया। जिसमें यह मूर्ख राजकुमार फसकर धन-रत्न-मणि लुटाते रहे। वेश्या और ब्रह्मज्ञानी समचित्त होते है। वे निस्पृह रहकर रस ग्रहण करते हैं। वेश्या को चाहे धन देते-देते नायक कंगाल ही क्यो न हो जाय—परन्तु उसकी दृष्टि उसके वस्त्रो के उतार लेने में ही रहती है। इस प्रकार बड़े-बड़े दृढ़चित्त पुरुषों के सम्मुख भी वेश्म-विलासिनी वेश्या कामाधीन होने का अभिनय करती हुई—पुरुष को असंयत कर देती है। कभी वह संजातपुलका होकर, कभी उत्वणा बनकर, कभी जातोत्कम्पा और कभी स्वेदार्द्रवपुः होकर,

बारंबार हास्य-लास्य करके, रोकर-गाकर, मौन कोप करके, कभी वह पलंग पर आधी गिर कर, कभी प्रिय नायक की गोद में पछाड़ खा; अपनी उद्वेगावस्था का अभिनय कर नायक को पागल बना देती है।

कभी तो वह काम-संताप को दूर करने के लिए कुंकुम-कर्पूर-चन्दनादि शीतल पदार्थों का लेप करती, कभी संताप-व्यथा प्रकट करने धूलि-धूसरित रहती। कभी वह ऐसी विरह-व्याकुल व्यथा दर्शाती कि सखियां, चेटियां, चन्दन-पंक और नीहार, घनसार, कदली-दल, चन्द्रकांत मणि से भी उसकी दाह शान्त नहीं कर सकती थीं। वह प्रलाप-सा करती हुई कहती—"अरे, हटाओ इस घनसार को, दूर करो मणिहार को, इन कमल-दलों से क्या? अरी सखियो बस करो—ये मृणाल मेरे दग्ध हृदय को शीतल नहीं कर सकते।" और जब नागर निकट आते तो वह उसका दृढालिंगन करके रागातिशय प्रकट करती। कभी अपनी भुजाओं को मरोड़ती। कभी कहती—"हाय यह कूकने वाली कोयल, ये गूंजनेवाले भौंरे, यह कुसुमारोही पवन विधाता ने मेरे नाश के लिए ही रचा है।" फिर नायक पर कोप कर वक्र नयनों से उसे घूरती हुई कहती—"अरे निर्दय-निर्मम मुझे अबला समझ कर यह बली मकरकेतु मुझे आक्रान्त कर रहा है—इससे मेरी रक्षा कर। अरे, पूर्व जन्म के सुकृत से ही मैंने तुझे पाया है।"

इस पर यमजिह्वा कुटनी रंग चढ़ाती। वह कहती—"अहा, यह मदालसा। अरे, जब अतनु ने शिव पर कुसुम-शर संधान किया था, तब जो कुसुम झड़ कर गिरे उसी से मेरी यह बेटी सुगात्री मदालसा विधाता ने बनाई है। गौरी के लावण्य का तो यह उपहास-सा करती है। भला लांछित शशधर से इसके मुख-छवि की क्या तुलना? अरे, कमल की शोभा तो क्षणिक है,

और चन्द्रद्युति विभ्रम रहित है—फिर भला मेरी मदालसा के मुख की उपमा क्या है ? इसके नेत्रों को कमल का भ्रम करके भौंरे घेर लेते हैं। और यह जो स्वाभाविक अरुण अधरों को बन्धुजीव पुष्परज से रंजित करती है, तथा लाल-लाल चरणों को अलक्तक देती है, सो केवल राग-वृद्धि के ही लिए नहीं, वह तो उसका केवल विन्यास-विलास है। विधाता का चमत्कार तो देख—कि उसके संपुष्ट उत्तमांग को उसकी क्षीण कटि कैसे धारण किए हुए है। तिस पर उसका मुरज-वशीवादन—नृत्य-गीत-कौशल तो भोगीन्द्र शेष भी वर्णन नहीं कर सकता। ऐसी मेरी मदालसा है, जो न तो कुलीनों की आन मानती है, न वेदवादी ही को कुछ समझती है—पर तेरे लिए वह सूखकर कांटा हो गई है। इस अनुराग की भी भला कुछ हद है ?" इस प्रकार विविध भांति उत्तेजित करके राजपुत्र को भरमाया गया और बारबार उससे धन-ग्रहण किया गया। उसके आने पर मदालसा दूर ही से अभ्युत्थान देती, तिरछी नजर से देख मन्द-मन्द मुस्काती, आंचल में लपेट कर उंगलियों को ऐंठती। और फिर झट अपने उपांगों की छटा दिखाती वहां से भाग जाती। इसके बाद दीपोज्ज्वल-कुसुमधूप गन्धाढ्य वासकागार, कोमल पर्यंक, विततवितान, अभिनन्दनीय मृदुभाषण और सस्नेह-सव्रीड़-ससाध्वस, अविरल परिहास, पेशलालाप-परिपूर्ण-पुलकदन्तुर शरीरास्विद्यत्सकलावयवा-नायिका।

यों कुछ काल रस-कस ग्रहण होने पर अब कुट्टनी और नायिका में इस तरह मिथ्यावचन कलह आरम्भ हुई कि जिसे राजपुत्र उसे अज्ञात में किसी तरह सुन ले—"अरी अभागिनी, तूने इस राजकुमार के पीछे अपरिमित धनवान, विनयी और प्रेमी मन्त्री-पुत्र को भी कुछ न गिना, और मन्दारक रत्न-पारखी प्रभूत धनदाता को भी तूने मेरे कहने पर भी दुत्कार दिया। अरी

मूढ़, तूने अनेक राजवर्गीजनों की ओर, जो बात की बात में मेरा घर भर दे सकते थे—आंख उठाकर भी न देखा। ऐसी तू इस राजकुमार पर अन्धी हो अनुरक्त हो गई। तुझ विपरीत-बुद्धि ने महाधनदाता शौल्किकाध्यक्ष को भी अपमानित करके लौटा दिया। और उस रोगी मृतः प्राय बूढ़े का अति समृद्ध पुत्र भी तूने हाथ मे खो दिया—जो अपना सर्वस्व तुझ पर वार रहा था। इस प्रकार तूने घर में आई लक्ष्मी को लात मारी। अरी पापिनी, यह सब तेरी ही मूर्खता के परिणाम हैं कि हम इस राजपुत्र के पीछे लुट बैठे। देख उस दन्तवक्र के पुत्र ने मालिनी को कैसे जड़ाऊ अलंकार दिए हैं—तुझे उन्हें देख कर भी लाज नहीं आती। उस धवल गृह को ही देख, जो अनंगदा के लिए उस आपणिक ने बनवा दिया है। क्या तू इतना भी नहीं समझती कि गणिका के लिए यही आयु कमाई करने की है। अब यदि इसी धनार्जन-अनुकूल समय मे वेश्या की बेटी एक पुरुप को लेकर उसके प्रेम के वशीभूत हो बैठे, तो वृद्धावस्था में उसे भिक्षा ही मांगनी होगी। क्या तूने वह नीति-वाक्य नहीं सुना—द्वितीये नार्जित धनं चतुर्थे किं करिष्यति। क्या तू नहीं जानती—सद्भावजाऽनुरक्तिर्नहिपथ्यं पण्यनारीणाम्। सो मैंने अपना देह बेचकर जो कमाया है, वह द्रव्यभाण्ड ला मुझे दे, मैं तो अब तीर्थयात्रा को जाती हूँ। तू अपने यार को लेकर रह।"

बुड्ढी कुटनी का इस प्रकार मिथ्या कलह का उपसंहार होने पर मदालसा ने रोषभरे स्वर में कहा—"अरी मातः, धनलाभ ही संसार में बड़ा लाभ नहीं है, प्रिय-संयोग ही बड़ा लाभ है। धन तो आता-जाता रहता ही है। उससे क्या मन की तृप्ति होती है? अनुराग से सिक्त तारुण्य को भला विभवार्जन की क्या चिन्ता हो सकती है। प्रिय-सहवास में ताम्बूलयाचन ही सबसे

बड़ा लाभ है? प्रिय-सहवास के समान तो सकल वसुन्धरा का भी मूल्य नहीं है। और राजकुमार ने तो सब गणिकाओं में मुझे ही वार-मुख्या बना दिया है। मात. तू भोली है। इसी से तेरा यह उपदेश व्यर्थ है। अब तो भला हो या बुरा, सुगति हो या दुर्गति, महल में रहूं या वन में, स्वर्ग में या नरक में, अब तो उसी के साथ मेरा रहना, मरना, जीना है। व्यर्थ बकवाद से क्या प्रयोजन है। और तू जो अपने आभूषणों की बात कहती है सो यह ले—मैं तो अपने राजपुत्र ही से सुभूषित हूँ। मैं तेरे समान लोभ के वशीभूत नहीं हूं। मैं तेरे इस घर में भी न रहूंगी।"

इतना कहकर उसने सब गहने उतार कर कुटनी के ऊपर फेंक दिए और गुस्से में ऐंठती हुई वहां से चली गई।

परोक्ष में मूर्ख राजकुमार ने जो यह कपट-कलह सुना तो वह रागान्ध हो सोचने लगा—"अहा, धन्य है यह वार-वनिता प्रिया मदालसा, जो मेरे लिए जननी, जन्मस्थान, बान्धव, वस्त्रालंकार सभी को तृण के समान समझती है। सच है—'मरणमपि तृण समर्थयेत मनसिज पौरुष वासितास्तरुण्य.'। अब, जब इस मदालसा ने माता का मोह त्याग दिया और अलकार त्याग घर में रहना भी अस्वीकार कर दिया है तो फिर इससे अधिक प्रिय मेरे लिए क्या है। मैं भी अपना सर्वस्व देकर इसे ही तृप्त करूंगा। घर-घार, बन्धु-परिवार, ससार—जो कुछ भी मेरा है, वह मदालसा ही है। अहा, यह मदालसा चन्द्रमा की किरणों की भांति स्पर्श ही से मन को शीतल कर देती है। यह कितनी सुन्दर, कितनी कोमल, मृदुल और प्राणों को आनन्द देने वाली है। इसका ललित अगहार कितना मनोहर है। मृदु-मुस्कान कितनी आकर्षक है। इसका सविलास तरलाक्षि-विक्षेप पुष्प-बाण का दोहद दान ही समझना चाहिए। न तो इसे धन का ही लोभ है न किसी पर नेत्रासक्ति है। यह मुग्धा सीधी भी

है और शिष्ट भी। कभी किसी पुरुष की ओर यह नजर उठाकर भी नहीं देखती। न मेरे अतिरिक्त किसी की प्रशंसा करती है। कालोचित और देशोचित इसका वेश-विन्यास होता है। यह गजगामिनी मेरी प्रिया इस पृथ्वी पर अद्वितीय है। इसमें चक्रवाक, हंस, नकुल, पारावत के सभी गुणों का समावेश है। इसका हास्य मनोहारी है। ऐसी यह दुर्लभ अनुकूल, मनोहारि और सुन्दरी स्त्री संसार में और कौन है भला ? भार्या तो केवल अन्न-वस्त्र द्वारा भरणीया ही होती है, स्नेह-समागम के योग्य तो यह वारवनिता ही है। अजी, परिणीता में अनेक दुर्गुण हैं। वह भाइयों से अलग कर देती है, कटुभाषण करती है, सदा घर के दुखड़े रोती रहती है और सदैव मातृकुल की ही प्रशंसा करती है। पति के सदा दोष निकालती रहती है। फिर भी मूर्खजन उसी पत्नी के वश में रहते हैं। पर इस मदालसा को देखो—जैसा मृदुल इसका तन है, वैसा ही मन है।"

और वह दिन भी आ गया—जब मदालसा मां को छोड़ राजकुमार के नवनिर्मित आवास में आकर रहने लगी। उसे बहुमूल्य अलंकार राजकुमार ने भेंट किए। परन्तु एक दिन राजकुमार के पास से जाती हुई मदालसा को चोरों ने लूट लिया। इसके दो चार दिन बाद एक ऋण-दाता ने मदालसा की देहरी पर धरना दिया। राजकुमार को ऋण चुकाना पड़ा। दो चार दिन बाद राजकुमार की स्वस्ति-कामना के लिए बलि-पूजन का आयोजन हुआ। इस प्रकार विविध भांति से धनहरण करने पर राजकुमार का भांति-भांति तिरस्कार कर—अन्त में यह समझा-बुझाकर कि माता बहुत गुस्से में है, अतः कुछ दिन आना-जाना बन्द रखो—उसे दूर कर, दूसरे ग्राहक से व्यापार आरम्भ किया।

८३

इन्द्र-मोचन

अब यहां हम फिर प्राचीन घटनाओं की चर्चा करेंगे। पाठक जानते हैं कि दैत्य, आदित्य, देव, दानव और नाग सब परस्पर दायाद बान्धव थे। एक पिता से भिन्न-भिन्न माताओं की संतान थे। वे माताएँ भी परस्पर सगी बहिनें थीं। तब मातृ-गोत्र प्रचलित था। इसलिए माता ही के नाम पर संतानों का वंश-वृक्ष चलता था। इसी से इन सब देव, दैत्य, दानव, नाग आदि की—जो वास्तव में भाई और कौटुम्बिक थे—भिन्न-भिन्न जातियां बन गई थीं। फिर जब उनका विस्तार हुआ—भू-सम्पत्ति और राज्यों के बंटवारे का प्रश्न सम्मुख आया, तो आपस में लड़ाई-झगड़े और युद्ध-उत्पात हुए। इस भाई-चारे के बंटवारे के ही प्रश्न को लेकर इन दायाद-बान्धवों में बारह देवासुर-संग्राम हुए, जो बड़े ही दारुण थे। ज्येष्ठ और श्रेष्ठ होने के नाते दैत्य प्रमुख थे। पर आदित्यो का नेता सूर्य—विष्णु आदित्यों को प्रमुख बनाना चाहता था। पीछे इन्द्र ने अपने काल में विष्णु की इस अभिलाषा को काफी उद्दीप्त किया। उसने सब आदित्यों की एक नई सम्मिलित जाति देवसंज्ञक बना ली, और स्वय देवराट् का पद ग्रहण किया तथा प्राचीन सुषा नगरी को अमरावती नाम दे, आस-पास के इलाके को देव-भूमि कहकर उस पर शासन करने लगा। इन्द्र ने भी निरन्तर दैत्यों और दानवों से युद्ध किए, परन्तु विजय उसकी कभी नहीं हुई। कारण कि देवों के साधन परिमित ही थे। दैत्यों और दानवों का भारी विस्तार और प्रबल बल था। उधर मनु और बुध के इलावर्त

त्यागने तथा भारतवर्ष में नवीन आर्यजाति स्थापित करने एवं आर्यावर्त की स्थापना करने से इन्द्र का ध्यान भी इसी ओर गया। सूर्य-विष्णु अब वृद्ध हो चुके थे तथा उनका पुत्र मनु आर्यावर्त में आ बसा था। अतः अब उनकी विशेष प्रवृत्ति इलावर्त में नहीं रह गई थी। वारुणेय सब ऋषि-याजक हो गए थे। अतः वे लड़ाई-झगड़े से दूर ही रहते थे। वे देवों के भी मित्र थे और दैत्य-दानवों के भी। दैत्य-दानव के याजक और कुलगुरु होने से वारुणेयों का खास प्रभाव था। फिर भी वे दोनों की यथासंभव सहायता करते ही रहते थे।

'दायाद-बान्धव' उसे कहते थे जो राज्य में हिस्सा प्राप्त करने का अधिकारी हो। दायाद का अर्थ—पुत्र, कुटुम्बी और सपिण्ड था। देवों के दायाद के हक को दैत्य-दानव अस्वीकार नहीं करते थे। पर देवता अपना विस्तार चाहते थे—प्रभुत्व चाहते थे। यही झगड़े की जड़ थी। जब हिरण्याक्ष और हिरण्यकशिपु को मार दिया गया और प्रह्लाद से वरुणदेव के सान्निध्य में देवों के कौल-करार हो गए, और प्रह्लाद को इन्द्रपद देना भी तय हो गया, तब एक बार देव-भूमि की राज्य-सीमाएँ बंध गई थी। परन्तु महत्वाकांक्षी इन्द्र इससे संतुष्ट न था, और इसी से उसने सिन्धु नद पार करके पंचसिन्धु प्रदेश पर आक्रमण किया तथा वार्तघ्न महा संग्राम हुआ। इन्द्र को पंचसिन्धु का सम्राट् मान लिया गया। परन्तु इन्द्र पंचसिन्धु में बसा नहीं, इलावर्त लौट गया, पंचसिन्धु में अपना प्रतिनिधि ही छोड़ गया। पर इलावर्त से त्रिशिरा का वध करने के कारण उसे भागना पड़ा। सारा देवलोक ही उसका विरोधी हो उठा। उसके बाद नहुष और रजि ने देवलोक में जो उत्पात मचाए, उससे देवों की शक्ति क्षीण हो गई। पीछे रजि को जो बृहस्पति ने चार्वाक-सिद्धान्तों का उपदेश दिया तो रजि का वंश ही वैदिक

आर्य परिवार से पृथक हो गया। इस प्रकार नहुषों से देवों का पिण्ड छूटा। पर देवराट्-पद्धति चल गई। देव चुनकर अपना इन्द्र नियत करते और वह देवों का अनुशासन करता था।

तारकामय-संग्राम में जब प्रह्लाद-पुत्र विरोचन का वध हुआ और विजयी होकर दैत्यों ने विरोचन-पुत्र बलि को दैत्येन्द्रपद पर अभिषिक्त किया, तब दैत्येन्द्र बलि की आज्ञा से दैत्यों ने बैल के चमड़े का तस्मा लेकर सारी भूमि को आपस में बांटना प्रारम्भ किया। इससे देवों में बड़ी घबराहट फैल गई। इन्द्र इस समय बड़ी ही विपन्नावस्था में था। देवों का सारा बल ही बिखर गया था। परन्तु इन्द्र विष्णु को साथ लेकर अनेक प्रमुख देवों के साथ बलि की सेवा में पहुँचा और कहा कि 'पृथ्वी में हमारा भी भाग है। हमलोग आप ही के दायाद-बान्धव हैं। इसलिए हमारी जो देवभूमि आपने जय की है, वह हमें लौटा दीजिए। यह हम आपसे याचना करते हैं।'

उन दिनों सूर्य ने आर्यों के लिए नवीन यज्ञ-विधि की सृष्टि की थी। वही यज्ञ-विधि आदित्यों, देवों और आर्यों में प्रचलित हो गई थी। यह यज्ञ-विधि एक प्रकार से देवों का सांस्कृतिक चिन्ह सी हो गई थी, तथा सूर्य का नाम इसी यज्ञ-विधि को प्रचलित करने से विष्णु प्रसिद्ध हो गया था। 'यज्ञोवैविष्णु' यह देवों का एक घोषणा-वाक्य उन दिनों हो गया था।

बलि ने देवों की बात पर विचार किया। अपने कुलगुरु शुक्र और मन्त्रियों से परामर्श किया। परन्तु शुक्र-काव्य देवों का तथा विष्णु का सारा ही षड्यन्त्र जानते थे। उन्होंने बलि को परामर्श दिया—'इस भूमि में से देवों को कुछ भी भाग नहीं मिलेगा। देव हमारी दैत्यभूमि से निकल जाएँ—आर्यावर्त में या जहां चाहे चले जाएँ। वे खटपटी, कुटिल और झगड़ालू हैं। उनके रहने से दैत्य भूमि निरन्तर युद्ध-स्थली ही बनी रहेगी।'

काव्य-शुक्राचार्य बड़े प्रभावशाली और तेजस्वी पुरुष थे। उनका विरोध साधारण न था। परन्तु इन्द्र भी एक ही कुटिल धूर्त पुरुष था। उसने अपनी कन्या जयन्ती को शुक्र के पास भेज दिया। जयन्ती बड़ी चपला और सुन्दरी तरुणी थी। उसने अपने रूप के मायाजाल मे बूढ़े शुक्र को फांस लिया। बहुत वाद-विवाद और परामर्श के बाद यह तय हुआ कि जहां-जहां यज्ञ-विधि है—अग्न्याधान है—अग्निहोत्र है—अग्नि-स्थापन है, वहां-वहां की भूमि देवों को दे दी जाय। शुक्र यद्यपि जयन्ती के रूप-जाल मे फंसे थे, फिर भी उन्होंने बलि के इस निर्णय को मूर्खता-पूर्ण कहा और उसका प्रबल विरोध किया। परन्तु बलि ने दैत्य-गुरु का अनुरोध नहीं माना। इससे गुस्सा होकर काव्य-उशना-शुक्र दैत्यभूमि को छोड़—नाभि-भूमि शंकुद्वीप में चले आए। बलि को उन्होंने त्याग दिया।

प्राचीन काल में जिसे 'नाभि' या 'भूमि' कहते थे, उसी को आज अरब देश कहते हैं। उन दिनों इस भूमि पर वाशिष्ठों का खानदान रहता था तथा उन्हीं का यहां प्रभुत्त्व भी था। आजकल जिस नगर को 'अदन' कहते हैं यही नगर उन दिनों वशिष्ठों का प्रमुख नगर था, तथा उसका नाम 'आदित्य-नगर' था। संस्कृत में 'आदित्य' सूर्य को कहते हैं और अरबी भाषा में 'आद' सूर्य को कहते हैं। यारव, एदम, एरीअस, आद—ये सब सूर्य ही के पर्यायवाची शब्द हैं। लाल सागर का नाम भी सूर्य के ही नाम पर था। सिरियन, अरबी सूर्य-उपासक थे। वास्तव में वे वशिष्ठ के वंशधर थे। अदन या आद नगर में उन्होंने आद, आदित्य का एक मन्दिर बनवाया था जो सोने चांदी की ईंटों से बना था। इसकी छत मोती तथा हीरों से बनी थी। उन दिनों यह देश पूर्व और पच्छिम के बीच व्यापार का माध्यम था।

वाणिज्य की बाहुल्यता के कारण तब यह देश मालामाल रहता

था। उस काल के यहां के निवासी 'असुर' और 'फरीश' बड़े प्रसिद्ध नाविक थे। मिस्र, अरब और भारत को उन दिनों एक व्यापार-शृंखला ने जोड़ रखा था। यही कारण है कि भारत से अरब या मिस्र के जो जल-थल-मार्ग थे—वहीं इस भूमि पर विशेष आबादी हुई। शेष भाग जन-शून्य रहा। उन दिनों के बाद भी अरब बहुत काल तक सांसारिक व्यापार-भण्डार रहा। अरब की इस व्यापार श्री की स्तुति बहुत ख्यातनामा ऐतिहासज्ञोंने की है। इस देश में चन्दन और अगरु आदि के सुगन्धित ईंधनों से खाना पकता था, तथा धन खर्च करने और शान-शौकत में अरब के धनी जन ससार के राजा-महाराजाओं को मात करते थे। उनके प्रासादों के किवाड़ हाथीदांत, सुवर्ण व मणि-जड़ित होते थे। अरब में उन दिनों स्वर्ण की इतनी बहुतायत थी कि उसका मूल्य लोहे से केवल दूना और पीतल से तिगुना था। वशिष्ठों ने अपनी यज्ञ-विधि से सारे प्रदेश को व्याप्त कर रखा था। प्रसिद्ध है कि अरब के साबा आदि धर्मक्षेत्रों की यज्ञ-होम की सुगन्धित वायु मिस्र देश तक पहुँचती थी। इसी लिए एलग्जेण्डर ने बेबिलोनियां में अपनी राजधानी स्थापित करनी चाही थी, तथा मिल्टन ने अपने काव्य में अरब की सुगधित वायु से सागरों के महकने का उल्लेख किया है। वाणिज्य और राजनीति का केन्द्रस्थल होने से यहां भी कई बड़े देवासुर-संग्राम हुए। वशिष्ठों ने इसे महिदेवों का उपनिवेश बना दिया था। अरब में प्राचीन किम्वदन्ती है कि लाहसा एव बहरियन प्रान्तों में प्रथम दानव वीर वास करते थे। इस प्रान्त को अरब लोग अब भी 'रोबा-उल-खेत' कहते हैं। आज भी अरब-प्रसिद्ध शह-सवार और वीर प्रसिद्ध हैं।

पाठकों को स्मरण होगा कि वशिष्ठ भी सूर्य ही के पुत्र थे। इससे वे आगे चलकर सूर्यवशियों के अथच सभी आदित्यों

में कुलगुरु और राजमन्त्री बन गए थे। यहां आद में जो उन्होंने सूर्य-मंदिर की स्थापना की थी, उसके पुजारी भी वाशिष्ठ लोग ही थे। वशिष्ठ स्वयं यहां थोड़े ही दिन रहे, नारद से विग्रह कर वे देवलोक से चले आए—फिर यहां शुक्राचार्य के आ बसने पर भारत में सुदास के यहां आ गए। परन्तु उनके वंशधर और जायदाद—भूमि-सम्पत्ति सब अरब ही में रही। 'रब' 'रू' सूर्य ही के नाम थे और उसके पुरोहित, मग, वाशिष्ठ थे। योम-आह, रविवार, रबि-आह एक, व रबि-आह दो, सूर्य ही के दिन व मास हैं। रमजान मास का नाम पहिले 'रमादान' था। यह मुसलमानों का बनाया महीना है। मग, मिहिर, मूक, मौनी, मुनि ये वशिष्ठ ही के वंशधर थे। मूक, मोखा, महरा, मक्का, मकरनियत, मैरवा आदि अरब के प्रदेशों और नगरों के नाम भी उसी आधार पर हैं। वशिष्ठ को कामधेनुपति भी कहा जाता है। कामधेनु की भूमि इनकी जन्मभूमि और पैतृक-सम्पत्ति थी। मग भारी याज्ञिक थे। उन्हीं के यज्ञों की सुगन्ध से समुद्र की वायु सुगन्धित रहती थी। अरब के यमन प्रदेश में मुनियों के अनगिनत आश्रम, जनपद और उपनिवेश थे। और वहां के हामा-हामियारी सूर्य-उपासक थे।

परन्तु दैत्य-भूमि छोड़कर जब शुक्र—काव्य-उशनस अरब में आए तो उन्होंने कुरिशि प्रान्त में अपना निवास बनाया। कुरिशी, कुरैशी, संभवतः, शुक्र-काव्य के ही वंशधर हैं। कुरैशी भाषा ही कुरान की भाषा है। यह भाषा हामियारी भाषा से भिन्न है। शुक्र का नाम काव्य था ही। अरब में शुक्र का नाम पूज्य देवों की भांति 'अलउज्जा' प्रसिद्ध है। कुरैशीदेश में मक्का में पीछे शुक्र का मन्दिर स्थापित हुआ, जो 'काव्य' के नाम से प्रसिद्ध हुआ। आजकल का मक्का का प्रसिद्ध 'काबा' यही काव्य-शुक्र का मन्दिर है।

उस काल में बृहस्पति, मंगल आदि अनेक ग्रह और देवों की पूजा भी अरब के लोग करते थे—उनकी मूर्त्तियां भी 'काव्य-मन्दिर' में रखी गई थीं तथा एक प्राचीन शिवलिंग भी वहां था जिसकी पूजा होती थी, और जिसका नाम 'मुन्नाह' था। यह एक काले पत्थर का चार फुट ऊचा और दो फुट चौड़ा था जो सोने की जलहरि पर रखा रहता था। इनके अतिरिक्त सूर्य के मित्र गरुड़ की, उच्चैश्रवा घोड़े या सूर्यपुत्र अश्विनीकुमारों की, मनुपुत्र नृसिंह की मूर्तियां भी वहा थीं। सूर्य की भी एक मूर्ति रखी गई थी जिसका एक हाथ सोने का था। इसके अतिरिक्त और भी मूर्तियां थीं। मन्नाह के उपासक खोजा थे। अल उज्जाह कुरेशियों की प्रधान देवी थीं। इन सब मूर्तियों को पीछे मुसलमानों के पैगम्बर मुहम्मद ने दूर कर केवल प्राचीन शिवलिङ्ग ही की पूजा कायम रखी थी। 'काव्य' के नाम पर मन्दिर का नाम 'काबा' प्रसिद्ध है, तथा शुक्रवार को सभी अरब निवासी जुम्मा, महान और पवित्र दिन मानते हैं तथा काव्य-कविता में अरब के लोग ससार के सभी देशों के प्रमुख प्रमाणित हैं।

पुराणों से ऐसा भी प्रमाणित है कि दैत्येन्द्र बलि ने कश्यप सागरतट से अपनी राजधानी हटाकर अरब के निकट एक नया नगर—'बलासुरा' नाम का बसा कर उसे अपनी राजधानी बनाया था, तथा यहीं पर उसका ऐन्द्राभिषेक हुआ था और यहीं पर विष्णु और इन्द्र उसके पास भूमि-याचना करने आए थे तथा यहीं से बलि की नीति से असन्तुष्ट होकर शुक्र अरब प्रदेश में चले गए थे। बलि की यही प्राचीन राजधानी—बलासुरा आजकल का विख्यात 'बसरा' नगर है। यहीं बलि को बन्दी किया गया था। दमिश्क—वाशिष्ठ—दमी लोगो का प्राचीन नगर है। शाका, मकना, शोमार आदि भी प्राचीन वशिष्ठों के नगर हैं।

वर्तमान बसरा नगर अति प्राचीन बलि के बलासुरा नगर के ध्वंस पर मुसलमानों के खलीफा उमर ने ई० स० ६४० के लगभग बसाया था। बहुत सम्भव है कि तब वह कोई साधारण उजाड़ बस्ती के रूप में रहा हो। वर्तमान बसरा मेसोपोटामिया या ईराक राज्य का एक खास नगर तथा बड़ा बन्दरगाह है। यह नगर समुद्रतट मे काफी दूर 'शत्तुल-अरब' नामक नदी के निकट 'अल-अशार' के तट पर बसा है। शत्तुल-अरब इतनी गहरी नदी है कि समुद्र में चलने वाले छोटे-बड़े सभी जहाज उसमें आ-जा सकते हैं। आरम्भ में खलीफा उमर की आज्ञा से यहां केवल मुसलमानी सेनाओं की छावनी 'अतबा' नामक सरदार ने—जब वह ईरानियों से लड़ रहा था—डाली थी। यह स्थान तब दजला नदी से दस मील के अन्तर पर वर्तमान नगर से उत्तर-पच्छिम दिशा मे था। कहते हैं, कभी इस नगर की आबादी बहुत घनी थी तथा नगर में बीस हजार नहरें थीं, जिनमें नौकाएँ चलती थीं। यहां एक प्रसिद्ध पुस्तकालय भी था, तथा प्राचीन काल में यह नगर विद्या और व्यापार का केन्द्र था। मुस्लिम-काल मे यह नगर राजनीति का भी वैसा ही केन्द्र बन गया जैसा विद्या का था तथा यहां बड़े-बड़े प्रसिद्ध विद्वान् रहते थे।

कालचक्र अनेक रूप प्रकट करता है। यह बलासुरा नगर भी अनेक वैभव देख चुका। जो हो, जब विश्व के नृवंश के पुरखा और नेता—यहां के बड़े दैत्य-सम्राट् की सेवा में एकत्र हुए थे, तथा पृथ्वी-विभाजन किया गया था—जिसे सहस्रों वर्षों से उनके वंशधर उपभोग कर रहे हैं—तब से अब तक न जाने कितने महापुरुषों ने अपने इस प्राचीन अधिकार की रक्षा के लिए कहां-कहां रक्त बहाया है। इसका ठीक-ठीक हिसाब तो इतिहास के पुराने पृष्ठ भी सही-सही नहीं बता सकते।

अस्तु, अब हम फिर उसी मूल घटना-चक्र पर आते हैं। जब देवराट् इन्द्र और विष्णु प्रमुख देवगणों को संग ले बलि की राजधानी बलासुरा में पहुँचे तो नगर की सम्पन्नता देख दंग रह गए। सारा नगर परकोटे के घेरे में बसा था। सब प्रकार के रत्नों से सजे हुए ऊंचे-ऊंचे महल उस पुरी की शोभा को बढ़ा रहे थे। नगर के राजपथ बड़े ही प्रशस्त थे। वहां अनेक प्रकार के शिल्पी अपना-अपना कौशल दिखा रहे थे। अपनी इस बलासुरा नाम की नवीन राजधानी में बैठ दैत्यराट् बलि अपने समूचे दैत्य-साम्राज्य का शासन करता था। इस समय उसने त्रिलोकीपति की उपाधि धारण की थी, क्योंकि पृथ्वी पर कोई दूसरा राजा इस काल उसकी समता का न था। वह धर्म का ज्ञाता, कृतज्ञ, सत्यवादी और जितेन्द्रिय था। सब कोई उससे मिल सकते थे। वह न्याय का बहुत विचार रखता था। वह शरणागतों का रक्षक और दुष्टों का दमन करता था। वह मन्त्रशक्ति, प्रभुशक्ति और उत्साहशक्ति तीनों से सम्पन्न था। संधि-विग्रह, यान-आसन, द्वैधी-भाव और समाश्रय इन छै प्रकार की राजनीतियों को वह भलीभांति जानता था। वेद उसने पढ़ा था। वह उदार, सुशील, संयमी, अहिंसक, शुद्धहृदय, पूज्यों का पूजन करनेवाला, सब विषयों में पारंगत, दुर्दमनीय, भाग्यवान् और अत्यन्त कमनीय था। अन्न, रत्न, स्वर्ण का उसका भण्डार अटूट था। धर्म-अर्थ-काम की वह साधना करता था। वह महादानी था। संयम में दैत्येन्द्र बलि त्रिलोकी में सर्वश्रेष्ठ पुरुष था। उसके राज्य में न कहीं अधर्म होता था—न कोई दीन, दुखी, रोगी, अल्पायु, मूर्ख और कुरूप पुरुष था।

जब उसने सुना कि देवराट् इन्द्र और विष्णु—जो उसके पितामह प्रह्लाद का मित्र था—देव-पुरुषों के सहित उसके नगर में उसकी सेवा में आए हैं तो उसने अपने मन्त्रियों को आदेश

दिया कि देवराज और भगवान विष्णु हमारे पूजनीय अतिथि हैं। उन्हें आदर के साथ ले आओ। इस प्रकार मन्त्रियों और प्रमुख दैत्य-सरदारों को भेज कर बलि स्वयं अपने हर्म्य से अकेला ही निकल पड़ा और अपने समृद्ध नगर की सातवीं ड्योढ़ी पर जा पहुंचा। उसने विष्णु का सांगोपाङ्ग पूजन किया और इन्द्र तथा देवों की अभ्यर्थना कर कहा—"आपकी अभ्यर्थना करके मैं कृतार्थ हुआ।" उसने बारबार इन्द्र को आलिङ्गन किया और अपने राजभवन के भीतर ले जाकर अर्घ्यपाद्य से विधिवत् पूजन किया। फिर कहा—"इन्द्र, आज मैं आपको अपने घर पर आया देखता हूँ, इससे मेरा जन्म सफल हो गया। मेरे सभी मनोरथ पूर्ण हो गए। आपके साथ मेरे पितामह के श्रद्धेय मित्र विष्णु भी हैं जो मेरे लिए पितृचरण से भी बढ़कर पूज्य हैं। अब कहें, किस प्रयोजन से आना हुआ है। मुझे सारी बात बताइए। आपलोगों ने इन सब देवों के साथ यहां आने का कष्ट उठाया है, इससे मुझे अत्यन्त आश्चर्य हो रहा है।"

देवराट् इन्द्र ने कहा—"दैत्यराज, आप आज त्रिलोकीपति हैं और आप से श्रेष्ठ पुरुष विश्व में दूसरा नहीं है। आपके दान और महत्ता की चर्चा सर्वत्र है, आपके सम्मुख आकर कोई याचक निराश नहीं लौटता। आप याचकों के कल्पवृक्ष हैं। आपके समान दाता पृथ्वी में कौन है? आपने मेरा त्रिलोकी का राज्य छीन लिया है। अब मैं निराधार और निर्धन हूँ। इसलिए हमारे और आप के पूज्य पुरुष ये विष्णु तथा देव-प्रमुखों के सहित मैं आपके पास याचक-रूप में आया हूँ कि अधिक नहीं तो यज्ञभूमि ही—वेदिका ही—हमलोगों को दे दीजिए। जिसमें हम देवों का भी कोई ठौर-ठिकाना हो तथा हमारी यज्ञ-विधि कायम रहे।"

इस पर बलि ने प्रसन्न होकर कहा—"देवेन्द्र आप भले पधारे,

आपका कल्याण हो। मेरे समान धन्य दूसरा कौन है कि मैं त्रिभुवन की राज्यलक्ष्मी से सम्पन्न होकर देवराट् इन्द्र और भगवान् विष्णु को याचक के रूप में अपने घर आया देखता हूं। घर पर आए हुए इन्द्र को तो मैं अपनी स्त्री, पुत्र, महल तथा अपने को भी दे डालूंगा। आप धर्म और न्याय से जो मांगें—मैं दूंगा।"

इस पर इन्द्र ने विनयावनत होकर कहा—"हे दैत्यपति, इस समय तो आप ही देवों की रक्षा और पोषण कर सकते हैं। अंततः वे भी तो आपके दायाद-बांधव ही हैं। बारह आदित्य, ग्यारह रुद्र, आठ वसु, अश्विनीकुमार और पितृजन सभी आपके बाहुबल का आश्रय चाह रहे हैं। आप सर्वसमर्थ हैं—सो जैसे दैत्यों-दानवों का आप धर्मपूर्वक शासन करते हैं वैसे ही देवों का भी कीजिए। केवल जितने स्थान में हमारी यज्ञ-भूमि है, जहां-जहां हम अग्निस्थापन करें—वही भूमि हमें दे दें। आप इतना ही अनुग्रह हम पर कीजिए जिससे सब लोग कहें कि घर पर आए हुए देवराट् इन्द्र और पितामह के मित्र विष्णु का आपने सत्कार कर लिया।" तब दैत्येन्द्र ने उसी क्षण अंजलि में जल लेकर कहा—"जहां-जहां यज्ञ-वेदी है, जहां-जहां अग्निस्थापन है, जहां-जहां यज्ञ होता है, वह भूमि मैंने देवों को दी।" दैत्येन्द्र का यह वचन सुनकर दैत्यगुरु शुक्र उशनस ने क्रुद्ध होकर कहा—"महाराज यह अनुचित है। बिना मन्त्रियों से भलीभांति विचार-विमर्श करके युक्तायुक्त का विचार किए आप वचन मत दीजिए। ये देव दैत्यवंश के उच्छेदकर्ता हैं।" इस पर दैत्येन्द्र ने कहा—"मैंने धर्म के विचार से, न्याय के विचार से देवों को वचन दे दिया। मेरे दान से देव समृद्ध हों—तो मैं धन्य हूं। मेरा वचन सत्य हो।" इस पर क्रुद्ध हो दैत्यगुरु शुक्र ने तत्क्षण दैत्यलोक त्याग दिया। और देवराट् तथा देवगण

दैत्येन्द्र से वचन ले, विष्णु को आगे कर वन, नगर, जनपद में आग लगाने, तथा यही हमारी यज्ञ-भूमि है, यह कहकर आगे बढ़ने लगे। वे दल बांधकर आग लगाते जाते और—"विष्णुस्त्वा वसतामिति, यज्ञोवै विष्णुः, स देवेभ्य. इमां विक्रांति विनिक्रमे। येपामि य विक्रांति रिदमेव प्रथमेन पदेन यस्याराथदमन्तरिक्षं द्वितीयेन दिव्रमुत्तमे नैताम्वेवैष एतस्मै विष्णुयमो त्रिक्रान्ति विक्मते।"

इस प्रकार मन्त्रपाठ करते जाते थे। देवों के इस कार्य से दैत्य परेशान और भयभीत हो गए। विष्णु ने बलि से यह याचना की थी कि—'अग्नि रक्षायाम्' अर्थात् अग्निगृहों की रक्षा के लिए भूमि चाहिए। इसलिए उन्होंने समस्त वनों को, नगरों को और जनपदों को भी जलाकर खाक करना आरंभ कर दिया। ज्यों-ज्यों अग्नि बढ़ती जाती थी दैत्य पीछे हटते जाते थे और देव उस भूमि पर अपना अधिकार जमाते जाते थे, और उस भूमि पर कृषि करते तथा बस्ती बसाते जाते थे। शुक्र के दैत्यलोक त्याग देने तथा देवों का ऐसा उत्पात मचाने से वचन-बद्ध बलि भारी धर्म-संकट में पड़ा। अन्त में देवों ने उसे बन्दी कर लिया और दैत्यों का साम्राज्य छिन्न-भिन्न कर डाला। बलि के वंशज ही संभवतः बाल्हीक सोरिया-बलख के राजा थे। इसी वंश में मद्रपति शल्य अतिरथी हुए—जो महाभारत युद्ध के प्रसिद्ध योद्धा हैं तथा जिन्हें पाश्चात्य-जन सोलोमन या सुलेमान के नाम से जानते हैं। यह भूमि, जिसे जलाकर देवों ने प्राप्त की वही भूमि है जिसे पर्शिया के नक्शे में 'पर्शियन-साल्ट-डेजर्ट' कहते हैं। इसी प्रदेश का नाम लट, लूट या कवीर है। पर्शिया के प्राचीन इतिहास में लिखा है कि वहां प्रथम बड़े-बड़े नगर थे, जिन्हें देवों ने जला दिया। पुराणों में इसी स्थान का नाम 'नन्दन-वन' है. आजकल जो जाति वहां रहती

है, वह दाहे कहाती है, तथा उस प्रान्त को दाहिस्तान भी कहते हैं। यह स्थान काश्यप-सागर व ओक्सस व आधुनिक पारदिया के ऊपर है।

अस्तु। जब बलि को बन्दी कर लिया गया और दैत्यलोक पर फिर देवों ने अधिकार कर लिया, तो देवों ने जहां-जहां दैत्यों का बल देखा, वहीं उनका विनाश कर दिया। इस प्रकार बहुत दैत्य दैत्यलोक से पलायन कर गए। पीछे जब बाण महातेज ने होश सम्हाला तो उसने फिर दैत्यों का सगठन किया। बाण महातेजवान् पुरुष था। देवलोक में उसके साम्मुख्य की किसी में सामर्थ्य न थी। उसने प्रारम्भ में छोटे-छोटे युद्ध करके अपने दैत्य-साम्राज्य को फिर से व्यवस्थित किया। देवों ने भी उसे नहीं छेड़ा। इस प्रकार देव, दानव, दैत्य, नाग, वरुण एक प्रकार से मिल-जुल कर ही उस भूमि पर रहने लगे। इस बीच चार दिग्पाल नियुक्त कर देवों ने अपनी स्थिति और दृढ़ कर ली। अब देवों का सगठन दैत्यों की अपेक्षा कहीं उत्कृष्ट था।

परन्तु रावण के अभियान ने इस बार देवों के सगठन को ध्वस्त कर दिया। वरुण की मृत्यु के बाद देवलोक में इन्द्र ही की सत्ता सार्वभौम हो गई थी। ऋषि, आर्य और देव तथा इनकी उपजातियां, जो भी सिन्धु और सतलज की घाटियों में फैल गई थीं, सभी इन्द्र के प्रभाव मे थीं। प्रत्येक आर्य सम्राट् को इन्द्र और देवों को यज्ञभाग की बलि देने पर ही सम्राट् या महाराज की पदवी मिल सकती थी। यह वास्तव में एक भारी टैक्स था जो इस पदवी के लिए दिया जाता था। उन दिनों विवाह तथा विशेष यज्ञों में गाय-बैलों का वध होता था। यह परिपाटी आर्यों और देवों में समान भाव मे थी। इस समय आर्यों की अनेक शाखाएं भारत, आर्यावर्त तथा उसके बाहरी कोणों मे फैली हुई थीं। जिनमें सबसे

अधिक प्रमुखता ययाति के पांचों पुत्र यदु, तुर्वश, अनु, द्रुह्य और पुरु की थी। इनके अतिरिक्त अन्य जातियों में गान्धार मूजवन्त, मत्स्य, भरत, भृगु, उशीनर, चेदि, क्रिवि, पांचाल, कुरु, सृंजय, पारावत आदि शाखाएँ भी प्रधान थीं। तृत्सु रावी के पूर्वी किनारे पर थे। भरत मध्य भारत में थे। पुरु-वंशी दुष्यन्त के वंशज भारत तथा स्वायंभुव भरत के वंशज मनुर्भरत कहाते थे। आगे भारतों को कौरव भी कहा गया। उशीनर, चेदि, मत्स्य, सृंजय का वंश बहुत पीछे तक चलता रहा। मत्स्य वंश अत्यन्त प्राचीन है। इसका संकेत हमें मत्स्य पुराण से मिलता है। इस बात के अत्यन्त पुष्ट प्रमाण हैं कि अत्यन्त प्राचीन काल में बैबिलोन में मत्स्य नाम की एक जाति रहती थी, जिसने जल-प्रलय के समय मनु के परिवार की रक्षा की थी। भारत में मत्स्य लोग पूर्वी राजपूताना में आ बसे थे। उशीनर उत्तरीय भारत में रहते थे। बलि-बन्धन के बाद आर्यों के राज्य मगध तक फैल गए थे।

जिस समय रावण ने देवराट् इन्द्र पर अभियान किया, उस समय फारस से उत्तर-पूर्व से अफ़गानिस्तान और पामीर तक इन्द्र का राज्य था तथा सम्पूर्ण आर्यावर्त उन्हें देव कह कर पूजा करता तथा यज्ञ-भाग देता था। उन दिनों यज्ञ कोरे धर्मानुष्ठान न होते थे। वे बड़े भारी राजनीतिक महत्त्व रखते थे। यज्ञ तभी किए जाते थे जब कोई बड़ी विजय होती थी या कोई बड़ी घटना होती थी। उस यज्ञ में सब समागत समर्थकों एवं मित्रों तथा आप्तजनों को विजय में प्राप्त धन बांटा जाता था। इसी को यज्ञभाग कहते थे।

सुदास इन्द्र के गहरे मित्र थे। दाशराज-संग्राम में सुदास की जय इन्द्र की सहायता से हुई थी तथा वृत्रघ्न संग्राम में विजय का सेहरा इन्द्र के सिर सुदास की सहायता से बंधा था। ये

तृत्सु वंश के थे तथा इनका राज्य रावी नदी के दोनों तटों पर था। इनके पिता त्रिजवन महान् युद्धकर्त्ता तो थे, पर राजा न थे। सुदास इन्द्र ही की कृपा से राजा हुए थे। पीछे दश राजाओं के युद्ध में जय प्राप्त कर भारी कीर्ति पाई। प्रसिद्ध नरपति त्रसदस्यु को भी सुदास ने पराजित किया था। वशिष्ठ और उनके पुत्र पराशर तथा सत्ययात उनके आश्रित ऋषि थे। वशिष्ठ ही की सहायता से सुदास ने माथुर-यादव, आनव-शिवि, गान्धार-द्रुह्यु, शूरसेन के मत्स्य, रीवा के तुर्वश, अनार्य-वर्चिन, वैकर्ण-भेद आदि सम्मिलित दस राजाओं को युद्ध में पराजित किया था। पीछे वशिष्ठ ही के षड्यन्त्र से कुरुपति सम्वर्त्त ने सुदास को पराजित करके मार डाला। इस प्रकार सुदास के मरने पर भारत में इन्द्र का प्रभाव बहुत कम हो गया, तथा सुदास का राज्य और वश ही नष्ट हो गया। दिवोदास, जिन्होंने सुदास को गोद लिया था, सभवत इस समय तक मर चुके थे। वे दशरथ के मित्र और सहायक थे और संभवतः उन्हीं के कारण दशरथ की इन्द्र से भी मैत्री हुई थी। इन्हीं दिवोदास की वहिन अहल्या थी जो गौतम के पुत्र शरद्वत को व्याही थी, तथा जिसे इन्द्र से व्यभिचार करने के अपराध में गौतम शरद्वत ने त्याग दिया था, तथा राम ने जिसका उद्धार किया था। इसी अहल्या के पुत्र शतानन्द थे जो जनक सीरध्वज के पुरोहित थे। काशी में इस समय प्रतर्दन राज्य कर रहा था जिसके आश्रित भरद्वाज रहे थे, तथा जिसने हैहय वीतिहव्य को पराजित किया था। पीछे पराजित होने पर वीतिहव्य भरद्वाज ही के आश्रम में प्रयाग में रहने लगे थे। प्रतर्दन काशीपति राम के अभिषेक मे भी आए थे। प्रतर्दन के पौत्र अलर्क पर अगस्त्य की पत्नी लोपामुद्रा की कृपा थी।

इस प्रकार जिस समय रावण ने देवलोक पर आक्रमण कर

के देवराट् को पराजित कर वन्दी किया, उस समय इन्द्र का राज्य-विस्तार तो अवश्य ही वहुत था, परन्तु उसकी शक्ति खोखली हो गई थी। यही कारण था कि इन्द्र को पराभूत होना पड़ा और इन्द्रजित मेघनाद उसे बांधकर लंका ले गया। इससे देवलोक में बड़ी गड़बड़ी फैल गई। उस समय सब प्रमुख वारुणेय और आदित्य, वसु, रुद्र मिलकर लंका में पहुँचे और रावण से इन्द्र की मुक्ति-याचना की। रावण ने देवों के साथ यह शर्त रखी कि देवलोग राक्षसों को भी देवता समझें, उन्हें अमरत्त्व दें, तथा रक्ष-संस्कृति स्वीकार करें, जिस से सब देव, दैत्य, दानव, राक्षस, आर्यों से मिलकर एक ही महा-जाति हो जायँ और उनके विग्रह शान्त हो जायँ। परन्तु वहुत वाद-विवाद के वाद भी यह सभव नहीं हुआ। अन्त में यह तय हुआ कि राक्षस भी यज्ञ के अधिकारी मान लिए जाएँ। और जब इन्द्रजित मेघनाद युद्ध में जाय तो देवराट् उसको अपना रथ भेजकर उसकी अभ्यर्थना करें; तथा कभी भी राक्षसों के विरुद्ध शस्त्र न उठाएँ। निरुपाय देवों ने रावण की शर्तें स्वीकार कर लीं। शर्तों की स्वीकृति की साक्षी के लिए लका में देव-दैत्य-दानवों और नागों के प्रतिनिधियों को वुलाया गया और इन्द्रमोचन की तैयारियां होने लगीं।

जिस समय लंका में यह सब घटनाएँ घटित हो रही थीं, देव, दैत्य, दानव, यक्ष, रक्ष लंका में आ-जा रहे थे और इन्द्र-मोचन की तैयारी हो रही थी, तभी रक्षपति रावण के आदेश से इन्द्रजयी मेघनाद ने अत्यन्त गुप्त रूप से कैलाशी का सान्निध्य प्राप्त कर लिया। कैलाशी अपने इन्द्रजयी शिष्य को देखकर प्रसन्न हो गए। उन्होंने अपना वरद-हस्त मेघनाद के मस्तक पर रख, गंगा का पवित्र जल उसके मस्तक पर छिड़क कर कहा—"वत्स मेघनाद, तूने इन्द्र को बन्दी करके महत्कर्म किया है। इससे रावण का उत्कर्ष बहुत बढ़ गया है। अब मैं तेरा एन्द्राभिषेक गंगा के इस पवित्र जल से करता हूँ और इस अवसर पर तुझे कुछ दिव्य विभूतियां भी देता हूँ। उन विभूतियों से सम्पन्न होकर तू प्रहृष्ट-मन लंका को जा और रावण से कह—कि अब वह इन्द्र को छोड़ दे—यही युक्तियुक्त भी है। अब सौम्य रावण सर्वजयी हो चुका। लोकपूजित देव आज उसके शरणापन्न हैं—अब और विग्रह से उसे क्या प्रयोजन है। परन्तु, यह जो मैंने तेरा यहां कैलाश में एन्द्राभिषेक किया है, सो यह तो औपचारिक मात्र ही है। तू रावण से कह—कि लंका में वह इन्द्र-मोचन से प्रथम तेरे एन्द्राभिषेक का महत् आयोजन करे। जिसमें सब देव, दैत्य, असुर, नर-नर-पतिगण, इन्द्रसहित सेवक की भांति सेवा-कर्म करें। बस इतना ही यथेष्ठ होगा।"

इतना संकेत करके देवाधिदेव महादेव रुद्र ने हँस कर देवजयी मेघनाद की ओर देखा। मेघनाद ने बद्धांजलि विकार-रहित हो

कहा—"मेरा यह शरीर देवाधिदेव के आधीन है।"

"मैं तुझपर प्रसन्न हूँ"—कहकर रुद्र ने साभिप्राय दृष्टि से अपने चिरकिंकर नन्दी की ओर देखकर कहा—"अरे जा, सुमेरु पर इसे ले जा, और सब दिव्य विभूतियां इसे दे दे।"

इस प्रकार रुद्रदेव का संकेत पाकर गण नन्दी ने तत्क्षण भूतासन पर आरूढ़ हो सुमेरु-यात्रा की। सुमेरुपति चक्रदण्ड विद्याधर ने नन्दी के मुख से रुद्र का आदेश सुन तथा मेघनाद का परिचय पाकर कहा—"वत्स, मैं मोहिनी विद्या का अधिष्ठाता हूं। जिसके पास यह विद्या होती है, वह अजेय हो जाता है। इस विद्या का प्रभाव बड़ा दुराधर्ष है। संक्षेप में, तू इतना ही जान—कि अव्यक्त से सम्पूर्ण शक्ति और अणुशक्ति उत्पन्न होती है। उनमें से प्राणशक्ति से उत्पन्न हुआ नाद विन्दु-मार्ग में जाकर तट-तत्त्व और कला समेत विद्या आदिक मन्त्रता को प्राप्त होता है। ज्ञान और तप से सिद्ध इस विद्या का प्रभाव दुर्लंघ्य है। सो पुत्र, तुझे मैं यह मोहिनी और परिवर्तिनी विद्या देवाधिदेव रुद्र के आदेश से दूंगा। अब तू सात दिन तक सर्पों की बाम्बी में सर्पों के साथ रह।"

यह सुन कर मेघनाद उस विद्याधर को प्रणाम कर सर्पों की बाम्बी में चला गया। अनेक सर्पों ने उसे दंश किया पर विद्याधर के विषहरा प्रयोग से उस पर विष का प्रभाव नहीं हुआ। जब वह विष को सह गया तो विद्याधर ने दिव्य संमोहिनी विद्या मन्त्रसहित उसे दे दी। फिर कहा—"अब तू तीन दिन अग्निवास कर,तब मैं तुझे परिवर्तिनी विद्या दूंगा।" इस पर मेघनाद ने तीन दिन अग्निवास किया। जब वह अग्नि को सह गया तो विद्याधर ने उस पर कालान्त सिद्धि का प्रयोग किया। उसने काकिनी स्त्री का सहवास रख कर गगनतत्त्व बनाया, काकिन्युत्पन्न पुत्र का सद्योविट् वायु, काकिनी पुष्प तेज, तथा तत्पुत्र शोणित जल-

तत्व बनाया। काकिनी पुत्र का सर्वाङ्ग पृथ्वी तत्व निश्चित किया। फिर रससिद्ध पुरुष-बीज को जीव संज्ञा दी। अब उसने पुरुष की ऊंचाई के बराबर एक छै अंगुल मोटे ताम्र कटाह को चतुर्मुख कोष्ट पर रख उसे गोघृत और नरतैल से भर दिया। तदनन्तर सिद्ध चक्र रच, कुमारी, गुरु-देव का पूजन कर, बलिमांस अर्पण कर चारों ओर से वंकनाल द्वारा खदिराङ्गार प्रज्वलित कर उसे सुतप्त किया। जब निर्धूम हो, फेननिर्मुक्ति हुई, तब इस मेघनाद का शरीर उसमें निक्षेप कर, पूर्व वर्णित पृथ्वी-जल-आकाश-वायु-अग्नि इन पांचो तत्वों तथा बीज-जीव का निक्षेप किया। जल-तत्व डालते ही वह द्रव रक्त वर्ण हो गया। वायु-तत्व से शुभ्र वर्ण, तेज से घनीभूत, तथा आकाश-तत्व से स्वर्ण सदृश हो गया और ज्यों ही उसमें जीव प्रक्षेप हुआ, तत्काल हुंकार ध्वनि करता हुआ मेघनाद का तेजवान् शरीर उसमें से इस प्रकार उठ खड़ा हुआ जैसे पूर्वाह्न में भास्कर का उदय होता है। वह दिव्य तेज, महाकाय, महाबल पराक्रम, नौ हजार हाथियों का बल धारण करने वाला वज्रदेह, दिव्य रूपवान् क्षुत्पिपासा निर्मुक्त, सब भोगों को भोगने में समर्थ, इच्छासिद्ध मेघनाद नव-रूप में विकसित हो गया।

उसे इस अद्भुत और नवीन परिवर्तित रूप में देख, और परिवर्तनीय विद्या दे, विद्याधर चक्रदण्ड ने उसे कामचारी महापद्म विमान में बैठाकर त्रिकूटाचल पर्वत पर स्थित त्रिकूट पताका नाम पुरी में अपने ज्येष्ठ बन्धु विक्रमशक्ति के पास भेज दिया। विक्रमशक्ति विद्याधर ने उसे सिद्धपुरुषों की भांति दिव्य प्रभा से व्याप्त देखकर कहा—"जब तुझे मेरे भाई चक्रदण्ड ने कामचारी बना ही दिया, तो अब मैं भी तुझे कामचूड़ामणि सिद्धि से सम्पन्न करूंगा। तू अभी चन्द्रपाद पर्वत की गुहा में जाकर सात दिव्यौषधि सिद्ध कर ला। परन्तु, यह जान, कि वह

सुकर नहीं है। उस अगम गुहा पर महादैत्य नमुचि का अधिकार है। वह जरामरणरहित कामचारी सिद्ध पुरुष है। वह किसी शस्त्रास्त्र से न मारा जा सकता है, न जय किया जा सकता है। परन्तु वह महादानी है। विनय से उसके लिए शत्रुओं को भी कोई पदार्थ अदेय नहीं है। वह निर्वृत्तवैर है। उसने तीन बार देवासुर-संग्राम में देवेन्द्र इन्द्र को जय किया है। उस गुहा के तल में नमुचि का हर्म्य है, जो देव-दानव सभी के लिए अगम है। वहां अकथ रत्न-मणि हैं, तथा वहां नमुचि दैत्य की बारह पत्नियां दिव्यौषध के प्रभाव से नमुचि ही के समान जरामरणरहित हो उसकी सेवा करती हैं, तथा नमुचि के दस सहस्र धनुर्धर और इतने ही अश्व हैं। तू अपने विनय से उसे प्रसन्न कर, और वहां से सात दिव्यौषध लेकर मेरे पास आ।"

यह सुन मेघनाद एकाकी ही उस दुरूह दुरारोह कामचूड़ामणि गिरिशृंग पर चढ़ने लगा। मार्ग में उसे देख अनेक गुह्यक, यक्ष, दैत्य तथा कूष्माण्डक दिव्य शस्त्र ले लेकर उससे युद्ध करने आए, परन्तु मेघनाद ने अपने दिव्यास्त्रों से बहुतों को मार भगाया, बहुतों को माया-बल से संमोहित कर दिया। अन्त में वह गिरिगुहा के द्वार पर आ पहुंचा। उसकी अवाई सुन नमुचि दैत्य खड्ग-हस्त हो उसके सम्मुख आकर बोला—"अरे दुराचार, तू कैसे मेरे रक्षकों को मार कर यहां—अगम्य मेरी दुरारोह कामचूड़ामणि गुहा पर आया है। अब तू मर।" यह सुन कर विकार-रहित हो मेघनाद ने विनम्र वाणी से कहा—"हे दैत्यवर, मेरा यह शरीर आपके आधीन है। मुझ अपराधी को आप शिक्षा दीजिए।" मेघनाद के ये विनीत वचन सुन नमुचि ने हँस कर कहा—"अरे रावणि, मैं तुझ भगवान् रुद्र के किंकर को जानता हूँ। मैंने देख लिया, तुझमें अभिमान का लेश भी नहीं है। मैं तुझ पर प्रसन्न हूँ। मेरे पास से कोई याचक विमुख नहीं जाता। तू मांग,

शेष जन भय-भीत हो इधर-उधर जा छिपे। महानाग सब वेदियों के मध्य बैठ यज्ञ-शाकल्य और वलि भक्षण करने लगा।

अब नन्दी का संकेत पा, मेघनाद सर्प के निकट गया। सब देव, दैत्य, दानव-राज यह देख धड़कते हृदय से इसका परिणाम देखने को आकुल हो उठे। पर मेघनाद ने देखते ही देखते 'एक बन्धकर्ण' विद्या के द्वारा महानाग को पाश में बांध लिया। नाग बहुत छटपटाया परन्तु उसकी मुक्ति न हुई। वह जितना बल लगाता, जकड़ता ही जाता था। अन्त में नाग का मुख बन्द हो गया और वह बारंबार शिलापर सिर पटकने लगा। तब नन्दी का संकेत पा मेघनाद ने नाग का पेट चीर डाला, जिसमें से उसे दिव्य तूणीर की उपलब्धि हुई। यह देव-दानव-दैत्य दुर्लभ अक्षय तूणीर पाकर मेघनाद अत्यन्त प्रसन्न हुआ। और उसके विक्रम से प्रसन्न हो, सब देव, दैत्य, दानवों ने उस पर पुष्पवर्षा की। परन्तु कालचक्र-दैत्यों के अधिपति ने दूत भेजकर कहलाया—कि प्राण बचाना चाहता है तो वह तूणीर हमें दे दे। इस पर मेघनाद ने हँस कर दूत से कहा—"अरे दूत, अपने स्वामी से कह, कि मेरे बाणों से उसका शरीर ही तूणीर हो जायगा।"

तूणीर सिद्ध होने पर नन्दी ने कहा—"अब चल, धनुष भी सिद्ध करें।" यह कह, वे दोनो हेमकूट को उल्लंघन कर उसके उत्तर में मानसरोवर-तट पर जा पहुंचे। वहां कालचक्र दैत्य प्रथम ही से आ वेदी रच घृत और स्वर्ण-कमलों से हवन कर रहा था। मेघनाद ने भी वेदी रच घृत और स्वर्ण-कमलों से वेद-पाठ कर हवन करना आरंभ कर दिया। तब नन्दी ने कहा—"हे वीर, यहां से उत्तर में कीचक नाम वांसों का वन है। उसमें भयानक सर्प रहते हैं जिनके कारण कोई वहां पहुँच नहीं सकता है। जो पहुँचता है—पीछे लौटता नहीं है। तू साहस करे तो जा और धनुष के उपयुक्त बांस काट ला। बांस काट कर इस सरोवर में छोड़ दे तो वे दिव्य

धनुष बन जायँगे।"

मेघनाद ने साहस करके कीचक-वन मे प्रवेश किया और सात दिन तक सर्पों का संहार करता रहा। अन्त मे उपयुक्त बांस काट मानसरोवर मे छोड़ दिया। यथासमय उसे एक दिव्य धनुष प्राप्त हो गया, जिसे ले वह कालचक्र दैत्य के सम्मुख आया और कहा—"हे दैत्येन्द्र, तुमने मुझसे युद्ध-याचना की थी और मैंने भी युद्ध-वचन दिया था। आओ अब दोनो के मनोरथ पूर्ण हो जाएँ।" यह सुन कालचक्र दैत्य ने क्रुद्ध हो बाणों की वर्षा से मेघनाद को छा लिया। दोनो वीरो मे विकट युद्ध हुआ और भांति-भांति के शस्त्रास्त्रो का प्रयोग संहार हुआ। अन्त मे कालचक्र दैत्य का मेघनाद ने सिर काट लिया। उसके मरने पर सब दैत्यो ने मेघनाद की आधीनता स्वीकार कर उसकी पूजा की।

इस प्रकार सब भांति कृतमनोरथ हो मेघनाद दिव्य विभूतियो से विभूषित हुआ तब नन्दी ने कहा—"हे रावणि, भगवान् भूतनाथ देवाधिदेव रुद्र की तुझपर कृपा है। उनके प्रसाद से तू विश्वपति बन गया; अब तो तू अपने पिता त्रैलोक्यपति रावण को भी जय कर सकता है। फिर अब विलम्ब का क्या प्रयोजन है? जा, और लंका मे अपना ऐन्द्राभिषेक कर, इन्द्रमोचन कर, और पृथ्वी के सब भोगो को भोग।"

नन्दी के ये वचन सुन मेघनाद ने कैलाश की ओर मुख करके कैलाश-पति रुद्र को भूमिपर गिर प्रणिपात किया। फिर शिव-किंकर नन्दी की अभिवन्दना कर कामचारी महापद्म विमान पर चढ़ लंका की ओर उड़ चला—मन की गति से।

मेघनाद का लंका में भव्य स्वागत हुआ। देवाधिदेव का प्रसाद रावण को भा गया। उसने तत्क्षण पुत्र मेघनाद के ऐन्द्राभिषेक की घोषणा कर दी। देश-देशान्तरो मे दूत भेज, बन्धु-बान्धव, नर, नाग, देव, दैत्य, दानव सभी को बुला भेजा। महि-

देव, जगज्जयी रक्षपति का संदेश पा भू-मण्डल के नृवंश नर-पति अपने-अपने दलबल लेकर लंका में आने लगे। भीड़-भाड़ और धूम-धाम ऐसी बढ़ी कि रात-दिन में भेद न रहा। लंका के राक्षस अतिथि-सत्कार करके सब आगत-समागतों को प्रसन्न करने लगे। महिदेव रावण ने सभी की सुख-सुविधा का पूरा विचार रखा। वाद्यों की तुमुल ध्वनि से दिशाएँ व्याप्त हो उठीं। सुगन्ध द्रव्यों के हवन से सौ योजन का वायु-मण्डल सुरभित हो उठा। अनेक प्रकार के भक्ष्य, भोज्य, लेह्य, चूष्य, पानक तैयार करने में सहस्रों सूदक जुट गए। विविध प्रकार के लाव, तित्तिर, कपोत, सूकर, मृग, महिष, अज, मार-मार कर स्वादिष्ट पाक तैयार होने लगे। सुगन्धित मदिराओं की नदी लंका में बहने लगी। इस समारोह में प्रथम बार ही लंका में देव, दैत्य, नाग, असुर, यक्ष, गन्धर्व, आर्य, व्रात्य, नर, सभी जातियों के मूर्धण्य पुरुष एकत्रित हुए। किसी को किसी भांति की असुविधा न हो, इसका पूरा ध्यान रखा गया। इसी अवसर पर पृथ्वीभर में सार्वभौम महातेज वाण भी लंका में महाप्रतिष्ठ हुआ।

समारोह का नेतृत्व किया रावण ने। महिदेव की प्रतिष्ठा-भूमि से आगत-समागत भू-मण्डल के देव, दैत्य, नाग, दानव, मानवों के प्रतिनिधियों ने अपना दासभाव प्रकट करने के लिए समारोह में सेवाएँ प्रदान कीं। बारहों आदित्यों के प्रतिनिधियों के बीच देवराट् इन्द्र ने सप्त-समुद्रों, सप्त-तीर्थों, सप्त-महाकूपों का जल मणि-कलश में भर मेघनाद की मूर्धा पर अभिषेक किया। सप्तद्वीप-पतियों ने उसकी पीठ के पीछे खड़े होकर उसके मस्तक पर छत्र लगाया। नृवंश के सात सौ नरपतियों ने अतिरथी मेघनाद के रथ के अश्वों की वल्गु पकड़ रथ हांका। इसके बाद लोक-लोक के आगत-समागत लक्ष-लक्ष नृवंश के प्रतिनिधियों ने महिदेव, सप्त-द्वीपपति, सर्वजयी रावण और इन्द्रदमन करने वाले अतिरथ

मेघनाद मृत्युञ्जय का जयघोष किया। उस जयघोष से पृथ्वी की दिशाएँ कम्पित हो गईं। भूलोक चलायमान हो गया।

समारोह की समाप्ति पर महिदेव ने अपनी सारी ही संपदा याचकों को लुटा दी। रावण ने ऐसा दान दिया कि किसी त्रिलोक-पति ने नहीं दिया होगा। स्वर्ण, रत्न, मणि, माणिक, मुक्ता, कस्तूरी, अम्बर, केशर, कौपीतक, कौपेय, हर्म्य, सौध सभी कुछ महिदेव ने याचकों को दिया। फिर महातेज महाप्रतिष्ठ पिता-पुत्र ने सब भांति सत्कृत कर सब सम्मान्य अतिथियों को विदा किया। सबके बाद सहस्र-भार रत्न, आभरण, सहस्र दिव्य हाथी और सहस्र कुमारिकाएँ, दासियां देकर देवराट इन्द्र को बन्धनमुक्त कर देवोंसहित लंका से विदा किया।

मेघरहित क्षणप्रभा विद्युत-सी, कुमुदबन्धु चन्द्ररहित ज्योत्स्ना-सी, मन्मथरहित रति-सी थी वह सुलोचना, सुलक्षणा दानवनन्दिनी—मेघनाद-प्रियतमा। जैसे विधाता ने संसार की सब रचनाओं से अपने हस्तकौशल को परिष्कृत कर एक आदर्श-रम्य मूर्ति रची थी, जो वसन्त की फुलवारी-सी प्रतीत होती थी। निर्दोष शुक्र नक्षत्र की भांति समुज्ज्वल दृष्टि, मनोज्ञ-निर्वाच्य वदनकमल, जितवीणा क्वणित वाणी, प्रस्फुट शरीरविन्यास, शोभनीय अवयव सश्लेष, पीन पयोधर, सुशोभन गमन, शरदिन्दु-सा गात्रसमुच्चय, अभिनन्दित चरण युगल, अति विपुल जघन—जैसे काम ने सकाम हो, शरीरी हो, उसे रचा हो, जैसे अनुराग ही का समूर्त्त आविर्भाव हुआ हो, जैसे तत्क्षण ही उस गात्रलता में सब सात्विक भाव अंकुरित हुए हों। अन्तर्ज्वलित मनोभव से दह्य-सी उसके गात्र से प्रस्वेद-जल प्रिय-संदेश सुनकर ही झरने लगता था। कुसुमशरजाल-पतिता-सी वह तन्वी बारबार अनिमेष दृष्टि से प्रिय को जैसे पीती थी। उस स्तब्ध-तनु, सोत्कंपा, पुलकवती, स्वेदिनी, सनिःश्वासा के साथ धूर्त स्मर यथेच्छ क्रीड़ा कर उसे विह्वल रखता था। उसके नेत्रों की स्निग्धता, राग प्रत्यायक थी। अनुराग के कारण उसकी वदनच्छवि कान्तिमती प्रतीत होती थी। वाणी और गमन में उस भीरु का जो स्खलन होता था—वह उसकी चारुता में चार चांद लगाता था। उस बाला की नवीन अनुरागावस्था में

उच्छ्वास के साथ जो कुचयुगल का उल्लसन होता था उसका सम्पन्न-मनोहारि-सौग्ध्य नेत्रों को पुलकित कर देता था। वह प्रणयभङ्गभीता-व्रीड़िता प्रिय कान्त मेघनाद को समीप पाकर भी चित्तगत मन्मथ-पीड़ा को व्यक्त नहीं कर पाती थी। इसकी चित्त-वृत्ति को जानकर विहसित सखियां व्यंग से उसके सम्मुख चार प्रकार की प्रीति को वारंवार व्याख्या करके उसे खिझाती थीं। वे कहतीं—हे दानवनन्दिनी, तू क्यों कान्त के लिए विकल है? कहीं आम्रमंजरी भी भौंरों को निमन्त्रण देती है? क्या चन्द्रिका भी कहीं चकोर की अभ्यर्थना करती है? कहीं रत्न भी पारखी को ढूंढ़ते फिरते हैं? परन्तु वह कामशरासार भिन्ना सर्वाङ्गी, अव्यक्त स्खलित अक्षर बड़ी ही कठिनाई से कहती—"अरी सखियो कुछ चातुर्य करो, कुछ यत्न करो, आक्रान्त विपन्न का विपत्ति-प्रतीकार न कर शुष्क उपदेश देने से क्या होगा? अरी, यह सुरभिमास चैत्र प्रिय होने पर भी अप्रिय सा लगता है। मृदु पवन से स्वत. शोभन है, पर विरहिणी के लिए अशोभन। अरी, हँसी तो सभी उड़ाते हैं, पर संसार में व्याकुल-मन उन्मन जन को परित्राण देने वाले थोड़े ही हैं। अब मैं किससे कहूँ, आश्वासन कहां पाऊं, किसकी शरण जाऊँ, मुझे तो यह शीतल-मन्द दक्षिण मलय-समीर बहुत ही पीड़ा दे रहा है। मुझसे तो कुछ कहा ही नहीं जाता—इसी से तो चिर-मौनव्रता-ये कोयल मुझसे वैर-निर्यातन कर रही हैं। ये क्षुद्र तिर्यग्योनि भी मेरी व्यथा बढ़ाने को प्रिय-विरह-जनित स्वर में कूक रही हैं। इन हंसों को देखो, इतरा-इतरा कर मेरी चाल का अनुकरण कर रहे हैं। और ये भौंरे मेरे उष्णोच्छ्वास से विदह्य-मान होकर भी अलक कुसुमों का लोभ संवरण नहीं कर सकते। इसी से तो कहते हैं कि विषय सभी दुष्त्याज्य हैं। अरी, मुझे तो शरीर-धारण भी भारभूत हो रहा है, और ये दुष्ट भौंरे मेरे

कर्णपूर में खुसे फूलों पर गूंज रहे हैं। इन्हें तो निवारण करो। यह हार, जो मैंने बड़े प्यार से हृदय पर धारण किया था, अब मेरे शत्रु मनोभव से मिलकर मुझे दुख दे रहा है। भला अब कुशल कहां है? उज्ज्वल, स्वेद-जल गण्ड और कपोलों से झर कर तथा कज्जलमिश्रित अश्रुजल से मिलकर ऐसा हो गया है, जैसा प्रयाग में गंगा-यमुना का संगम है। कोयल की कूक, मलय समीर, पुष्पों की सुवास, पुष्पायुध और भौंरे ये पांच अग्नि हैं। सो मैं प्रिय-परिरम्भण की लालसा से पंचाग्नितप तप रही हूँ।

इस प्रकार विरह-विदग्धा नवोढ़ा सुलोचना के निकट पहुँच जब कान्त मेघनाद ने परिरम्भण दिया तो उसके सब ताप दूर हो गए। चिर विरह के बाद सुखद मिलन हुआ। मेघनाद का आवास प्रमद-वन भूलोक का स्वर्ग था, जहां भांति-भांति के सुख-साधन देश-देश से सचित थे। वहां सभी ऋतुओं के अनुकूल जीवन-सामग्री थी। ऋतु के अनुकूल पुष्प, फल, विहंग, शीत, उष्ण, ताप को सम रखने के साधन, आहार-पान के विविध आयोजन अप्रतिम थे। वहां बारह सहस्र सुभट राक्षस इन्द्रजित मेघनाद के हर्म्य की रखवाली करते थे। और सात सौ सुन्दरियां दानव-नन्दिनी सुलोचना की परिचर्या करतीं थीं, जो कुसुम-कोमल भी थीं और वज्रसम कठोर भी। सुलोचना के लिए जो पुष्पहार भी गूंथती थीं और उसके लिए असि ग्रहण भी कर सकती थीं। इस समय वह प्रमदवन वसन्त की फुलवारी हो रहा था। सुलोचना ने इन्द्रजित् ऐन्द्राभिषेकसिक्त लोकोत्तर पृथ्वीजयी वीर पति के स्वागत की भारी तैयारी की थी। अब चिर विरह के बाद वह सुलोचना पति के सान्निध्य में आनन्दविभोर हो गई। उस उत्सुकता ने प्रेमार्द्र नेत्रों से प्रिय-दर्शन प्रिय का स्वागत किया। प्रिय के दर्शन मात्र ही

से उसकी संताप-शान्ति हो गई। इस शुभावसर पर उसने सहज भाव से अवनत शिर प्रियतम को प्रणाम किया। नैसर्गिक प्रीति, अप्रतिबन्ध विलास, रतिरसायनत्रय तारुण्य, इन सब ने मिलकर दोनों को एकीभूत कर दिया। 'सदृशजन समाश्रय: काम:।' स्नेह के अतिरेक ने दोनों को धृष्ट बना दिया। वे सौकुमार्य का उल्लंघन कर निर्दय वामाचरण करने लगे, बारबार अभिलाप करने पर भी उनकी तृप्ति नहीं हुई। लज्जाभाव भी विगलित हो गया। वर्द्धमान राग के कारण हृदय के एकीभूत होने से—वस्त्राभरण, भूषा-सज्जा सभी कुछ अस्त-व्यस्त हो गए। ऐसा उनका सुरतोत्सव हुआ। यथोचित रूप हो, यत्तथा अनुराग हो, अमन्द मन्मथ हो, अभिराम यौवन हो, तो जीवन का यथार्थ प्रामव्य मिले ही मिले और मन्मथ का अमन्द वेग भी अद्भुत प्रभाव रखता है। जहां अविनय ही शोभनीय माना जाता है। अश्लीलाचरण ही सम्मान समझा जाता है। निश्शंकता ही जहां सोष्ठव और चांचल्य ही जहां गौरवाधान बन जाता है। जहां अंग का अभेद हो जाता है। स्वदेह में परदेह का विलय करने की इच्छा कभी कम ही नहीं होती। परिरम्भण परम सुखदाता होता है। लज्जा जहां अवगुण कहाता है। विवेक जहां मूर्खतापूर्ण बन जाता है। जो कामाग्नि आरम्भ ही में धक्-धक् जलती है, उसकी प्रवृद्धावस्था का वर्णन कैसे किया जाय। यहां न पाण्डित्य काम देता है, न चातुर्य। सुरत रस में निमग्न पुरुष समाधि से भी परा गति को प्राप्त होता है। उसका वर्णन अकथ्य है। वहां हास-विलास, चाटु भाव सभी समाप्त हो जाते हैं। यहां तो भगवान् कुसुमायुध रतिपति ही का अबाध शासन चलता है। कैसा चमत्कार है यह, मृदुगात्र लता-कोमलकान्त बाला, दृढ़ पुरुष द्वारा आक्रान्त होने पर भी व्यथित नहीं होती—हर्षित होती है। निस्संदेह

यह मनोज-मनोरथ का ही प्रभाव है। सुरतयोग में तो जैसे दोनों का देह सायुज्य रूप अद्वैत हो जाता है। इस हृदयाद्वैत भाव ही से दोनों रमणी और रमण—भिन्न लिङ्ग और भिन्न शरीर सम्पत्ति तथा भिन्न गुण होने पर भी तृष्णातिशय से-एक्याभिलाष से परस्पर अनुप्रवेश करते हैं। तब कौन रमण है, कौन रमणी है ? यह भेद अभेद हो जाता है। यह मेरा अंग-अवयव है, यह पराया—यह भेद-बोध नष्ट हो जाता है। निर्व्याज रूपेण प्रिय के अंक में अर्पित्त वपुषा, कामिनी की मिलन-रात्रि जैसे क्षण भर ही में व्यतीत हो जाती है।

रति-तृप्त प्रेम-विभोर हो युगल मिथुन सुलोचना और इन्द्र-जयी मेघनाद ने जैसे अपने को जाना—दोनों ने प्रिय कान्त भाव से एक दूसरे को देखा। मेघनाद ने कहा—"प्रिये, प्रियतमे, मैंने देवाधिदेव का चरम सान्निध्य प्राप्त किया, इन्द्र को दुर्धर्ष शक्ति से बन्धन में बांधा। कठिन दुरारोह, दुराचार, गुह्य विद्याएँ और सिद्धि प्राप्त कीं। जिससे सम्पन्न होकर आज यह तुम्हारा दास मेघनाद पृथ्वी पर अजेय, अजर, अमर हो गया है। परन्तु यह सारी ऋद्धि-सिद्धि-सम्पदा-श्री जो मैंने अर्जित की और यह मेरा अमोघ व्यक्तित्त्व सभी तो तेरे सान्निध्य-सुख के सामने एक तिनके के समान नगण्य, तुच्छ, अपदार्थ हो गया। अरी प्राणवल्लभे, आज तुझे अपना यह देहभार अर्पण कर जैसे मैं कृतकृत्य हो गया। कह, इस तेरे अनुग्रह के बदले तुझे क्या दू ? अथवा कौन-सा तेरा प्रिय करूं ? मुझ इन्द्र-दमन के लिए कुछ भी तो दुर्लभ नहीं है। कुछ भी तो अदेय नहीं है। अथवा अधिक प्रलाप से क्या ? तू कहे तो मैं अपना प्राण ही तुझे अर्पण करूँ।"

प्रिय पति के ये कोमलकान्त वचन सुन अश्रुमती सुलोचना ने कहा—"हे प्राणवल्लभ, अब मेरे लिए विश्व में मांगने को और

क्या रह गया, जब मैंने अपने अंक में तुम्हें पा लिया। अरे प्राण, तुमने तो मेरे रक्त के प्रत्येक कण को एक नया प्राण दे मेरे जीवन के प्रत्येक क्षण को प्राणों से आपूर्यमाण कर दिया। तुम्हारे एक क्षण के सान्निध्य का मूल्य तो मेरा यह सारा जीवन भी नहीं है। तुमने जो मुझ दासी को सब भांति आज कृतार्थ किया—सो उसका वर्णन क्या वाणी से हो सकता है? पर मैं तो इसी भय से मरी जाती हूँ कि कहीं अंतरिक्ष के देवता-पितर मेरे सुख से ईर्षा न करने लगें। हे कान्त, अब तो यह मुझसे कदापि न सहा जायगा। हमारे हृदय एक हैं, प्राण एक हैं, पर शरीर भिन्न हैं। क्या कोई ऐसा उपाय है कि मैं अपने इस शरीर को तुम्हारे अंग में लय करके अपना अस्तित्व खो दूं? अरे, अब मैं तेरा-मेरा तो सहन ही नहीं कर सकती। हे जगज्जयी, तूने मुझे भी जय कर लिया, अब मुझे इतना दूर क्यों रखा है, अपने में समा ले।"

सुलोचना के ऐसे आवेश और प्रेमोन्माद भरे वचन सुन मेघनाद ने हंसते-हंसते उसे अंक में उठाकर वक्ष से लगा लिया। उसने कहा—"प्राणसखी, अब भला हम तुम दो कहां हैं? यह मेरा अंग तेरा और तेरा अंग मेरा है। हमारा हृदय एक है, प्राण एक है, केवल शरीर दो हैं, सो इसीलिए कि हम इनके द्वारा एक दूसरे को सहवास सुख से आप्यायित करते रहें। फिर मेरी तेरी आंखें हैं, इसलिए कि मैं तुझे देखूं तू मुझे। मेरे तेरे कान हैं, जिससे मैं तेरी वीणा-झंकृत वाणी सुनूँ तू मेरा वचन सुने। मेरे तेरे अन्य अंग-उपाङ्ग हैं कि जिनका लय-विलय कर हम योगानन्द का चरम सुख अनुभव करें। अरी भोरी, यह अंग ही तो सुखोपभोग का साधन है—यन्त्र है। यह न तेरा पृथक् अंग है न यह मेरा पृथक्। हमारा दोनों का अंग अपूर्ण

है। दोनों दोनों के पूरक हैं। जब दोनों एक होते हैं, हमारे प्राणों को चरम सुख देते हैं।"

सुलोचना ने नयन मूंद लिए। वह प्रियतम के वक्ष पर झूल गई। न कुछ कहने को रहा, न सुनने को। वह सब कुछ पा चुकी थी। सब कुछ समझ चुकी थी। और विश्वजयी मेघनाद जैसे अपनी समूची अर्जित सम्पत्ति को किसी दैवी अव्यक्त प्रभाव से सजीवावस्था में अपने अंक में धारण किए अपने को और विश्व को भूल चुका था।

लंका के परकोट के बाहर चार योजन भूमि में अशोक-वन था। इस अशोक-वन में एक लाख अशोक-वृक्ष थे। इस वन में बारहों मास वसंत रहता था। अशोक के अतिरिक्त अनेक जाति के विविध वृक्ष विविध फल-फूलों से लदे थे। आम और केले की वहां अनगिनत जातियां थीं, जो सभी ऋतुओं में फल देते थे। बीच-बीच में कमनीय लताओं से आच्छादित अनेकों कुंजें थीं। अनेक वृक्ष सुनहले और रुपहले पत्तों वाले थे। उनपर बैठे पक्षी कलरव करते बड़े भले लगते थे। अनेक मोर, कोयल, शुक, सारिका, सारस, हंस, चक्रवाक पक्षियों का समूह ठौर-ठौर पर जलाशयों और सघन कुंजों में विहार करता फिरता था। वायु से झड़-झड़ कर अनेकों प्रकार के रंग-बिरंगे पुष्पों ने पृथ्वी को ढांप लिया था। उनसे पृथ्वी ऐसी मालूम होती थी, मानो रंगीन गलीचा बिछा हो। वहां स्वच्छ जल से भरे अनेक तड़ाग और पुष्करिणियां थीं, जिनमें बड़े-बड़े शतदल कमल खिले थे। उनके बीच हंस चक्रवाक निरंतर क्रीड़ा करते रहते थे।

वन में ही एक पर्वत था। उससे एक प्रपात गिर कर मनोहर छटा दिखा रहा था। प्रपात का यह प्रवाह तिरछा-टेढ़ा ऊंची-नीची भूमि पर गिरता बड़ा मनोहर प्रतीत हो रहा था। इस जल-प्रपात के कारण लताएं भूमि पर सो गई थीं, उस पर्वत के पार्श्व ही में एक बड़ा सरोवर था तथा अनेक कृत्रिम तालाब भी थे, जिनमें बढ़िया श्वेतमर्मर की सीढ़ियां बनी थीं। स्थान-स्थान पर कृत्रिम वाटिकाएं तथा छोटे-बड़े अनेक हर्म्य भी [illegible] [illegible] हुए

के नीचे सोने की वेदियां बनी थीं। बीच-बीच में खुले मैदान भी अनेक थे। सब के बीच एक बहुत प्राचीन सुनहरा अशोक-वृक्ष था जो अनेक लताओं से घिरा था, इसके चारों ओर सोने की अनेक वेदियां बनी थीं, तथा अद्भुत अग्नि के समान ज्वलन्त पादप चारों ओर थे। इन अलौकिक और दुर्लभ रमणीक वृक्षों को देख कर बड़े-बड़े देव, दैत्य चकित रह जाते थे। ऐसा विराट् और मनोरम वन पृथ्वी पर उस समय दूसरा न था। सरोवर के चारों ओर जो चम्पा, चमेली, चन्दन के वृक्षों की सघन छाया थी, उससे वहां की शीतल समीर सदैव ही सुरभित रहती थी।

अशोक-कानन में एक ऊंची और मनोरम भूमि पर एक सुन्दर, विशाल सौध था, जो कैलाश पर्वत के समान सफेद था। उसमें सहस्रों मणिजटित खम्भे लगे थे। इसकी सीढ़ियां मूंगों की और वेदियां स्वर्ण की बनी थीं। वह स्वच्छ प्रासाद अपनी आभा से देदीप्यमान था। उसकी अट्टालिकाएँ गगनचुम्बिनी थीं। इसी हर्म्य में अपहृता भगवती सीता को लाकर रावण ने रक्खा था। हर्म्य पर पांच सौ सशस्त्र राक्षसियों का पहरा था, तथा उतनी ही राक्षसियां सीता की सुश्रूषा के लिए भी नियत थीं। इसके अतिरिक्त सम्पूर्ण अशोक-वन की रखवाली दस सहस्र राक्षस सुभट कर रहे थे।

यद्यपि हर्म्य अति विशाल और भव्य तथा सुखोपभोग के सब साधनों से सुसज्जित था, परन्तु पतिवियुक्ता सीता को उन सब साज-शृंगार और सज्जा से कुछ भी प्रयोजन न था। वह हर्म्य का विलास-कक्ष छोड़, उसी विशाल अशोक वृक्ष के नीचे उदास, मलिन वेश में, अधोमुखी भूमि पर एक पर्ण-शैया पर बैठी आंसू बहाती—शोक-चिन्ता और कातर-भाव से विपन्न जीवन के कठिन क्षण व्यतीत कर रही थी। उसके सिर पर एक ही वेणी थी, जो

पृथ्वी तक लटक रही थी। उसकी दशा कुत्तों से घिरी हुई असहाया मृगी की सी हो रही थी, यद्यपि उसके चन्द्र मुख की कान्ति से अब भी दिशाएँ आलोकित हो रही थीं। उसके बिम्बा फल के समान रक्तवर्ण अधर, क्षीण कटि-भाग और कमल से बड़े-बड़े नयन तथा लाल-लाल चरण, शोभा की खान थे। वह संयमशीला तपस्विनी की भांति पृथ्वी पर बैठी राम के ध्यान में मग्न रहती। शोकातुर होने के कारण उसकी शोभा मन्द पड़ गई थी, और आभूषण-विहीन उसकी देहश्री फीकी हो गई थी। जो भी आभूषण वह इस समय अंग पर धारण किए थी, वे भी सब मैले हो गए थे। उसे न अपने अंग-संस्कार का विचार था, न वस्त्रों का। फिर भी इस विपन्नावस्था में उसका माधुर्य अपूर्व दीख रहा था। वह किसी भांति अपने शरीर को धारण किए हुई थी।

जब सीता को अशोक-वन में रहते कुछ समय व्यतीत हो गया, तो एक दिन भोर ही में रावण अपनी स्त्री-परिकर के सहित अशोक-वन में पहुँचा। वह स्वर्ण-किरीट मस्तक पर धारण किए, स्वर्ण-रथ पर; रथ की समस्त घंटियों को किंकिरित करता हुआ अपने हर्म्य से निकला। उसके पीछे सौ दासियों के हाथों में उसके सुख-द्रव्य थे। किसी के हाथ में ताड़ के पंखे थे, कोई सोने की झारी लिए सुखपाल में बैठी थी। एक स्त्री सोने के डंडेवाला प्रकाशमान छत्र लेकर रावण के पीछे हाथी पर बैठी थी। कुछ स्त्रियां, जलते हुए गन्ध-द्रव्य लिए, विविध वाहनों पर सवार चल रही थीं। सवारी के आगे दुन्दुभी बजती जाती थी। रक्षेन्द्र की शरीर-रक्षिका सेवा-दासियां गंध-माल्य-विभूषण हाथों में ले झुरमुट बना रक्षेन्द्र के रथ को घेर पांवप्यादा ही चल रही थीं। इस प्रकार जैसे नक्षत्रों से घिरा चन्द्रमा सुशोभित होता है, उस प्रकार रक्षेन्द्र रावण इन रूपसी सुन्दरियों के झुरमुट में दुन्दुभी, नक्कारे बजाता हुआ अशोक-वन पहुंचा। अशोक-वन में पहुंचते ही भेरी और तूर्य बज उठे।

सब चेरियां-प्रहरी गुल्म-पति यथास्थान चैतन्य हो गए। सभी ने जान लिया कि महाबली पृथ्वीजयी रक्षेन्द्र रावण का अशोक-वन में आगमन हो रहा है। सौध हर्म्य में आकर रावण की सवारी महल की पौर में प्रविष्ट हुई।

परंतप रक्षेन्द्र को आता देख सीता वायुवेग से कम्पित केले के पत्ते के समान कांपने लगी। उसने अपने अंगों को अपने ही में समेट लिया, और अत्यन्त संकुचित हो, भय और शोकातिरेक से अभिभूत हो पृथ्वी पर बैठी रह गई।

रावण ने देखा—सीता के सब अंग मलिन हो रहे हैं। वह बहुत ही दुर्बल हो गई है। निरन्तर रोते रहने से उसके नेत्र सूज कर लाल हो गए हैं। वह मूर्तिमती दुःख की प्रतिमा-सी दीख रही है। उसने सोचा—अहो यह श्रेष्ठ कुल की महिला है, पर दुःख और शोक से निकृष्ट कुलोत्पन्न-सी दीख रही है। वह नष्टप्राय यश, निरादृत श्रद्धा, टूटी हुई आशा, तिरस्कृत आशा, तथा अन्धकाराच्छन्न प्रभा, विधि-रहित पूजा और जलरहित नदी के समान हो रही है। निरन्तर उपवास, शोक और भय के कारण वह अति कृश हो गई है। वह नाममात्र का आहार करती है, तप ही इसका जीवन है। दुःख ही इसका धन है।

रावण ने उसके सम्मुख पहुंचकर कहा—

"प्रसीदतु। प्रसीदतु। भगवति सीते! इतना शोक न कर; अतीत की चिन्ता से क्या लाभ होगा अब? मैं तेरा अनुगत रक्षपति रावण तेरी प्रसन्नता और अनुकूलता चाहता हूं। पर तू इस तरह अपने अंगों को समेटे क्यों बैठी है? क्या तू अपने को नष्ट कर देना चाहती है? हे जनकनन्दिनी, मैं भी तेरे ही समान वरिष्ट कुल का हूं। तुझे वैरी की पत्नी जानकर भी मैंने तुझपर बलात्कार नहीं किया। मैं तुझे अपने पर प्रसन्न देखा चाहता हूं। तनिक नेत्र उघाड़कर देख—यह स्वर्णलंका, इसका सब वैभव और

का का पति रावण, जिसके नाम से सब देव, दैत्य, नाग, यक्ष
हैं, तेरी कृपा-कोर का भिक्षुक यहां उपस्थित है। अब उस
री राम से तेरा क्या प्रयोजन है? वह राज्यभ्रष्ट तो प्रथम ही
चुका। अब विनष्टग्रह हतभाग्य मारा-मारा वन में फिरता
। फिर तुझे भय क्या है? वैरियों की पराई स्त्रियों को हरण
लाना और उनके सहवास का सुख भोगना हम राक्षसों की
पाटी है। पर तेरे साथ मैं बलात्कार तो दूर, तेरा अंग-स्पर्श
तेरी अनुमति बिना नहीं करूंगा। इसलिए शोक त्याग दे,
झ पर प्रसन्न हो और यहां लंका में सब देव-दुर्लभ भोगों को
भोगती हुई, मेरे सम्पूर्ण अवरोध की शीर्षस्थानीय होकर रह।
लोक-लोकान्तर से जो दुर्लभ रत्न मैंने प्राप्त किए हैं; वे सब, और
यह लंका का राज्य मैं तुझे ही सौंपता हूं। मेरे अधिकार से परे
इस पृथ्वी पर जितने भी नगर हैं, उन सबको अपने पराक्रम से
जीतकर मैं तेरे पिता जनक को दे दूंगा। हे सुन्दरी, मेरे समान
योद्धा अब पृथ्वी पर कौन है? देव, गन्धर्व, यक्ष, नाग, दैत्य, मानु
कोई भी तो मेरे सम्मुख खड़े रहने में समर्थ नहीं है। इसलि
उस एक चीर धारण करनेवाले, राज्यभ्रष्ट तपसी राम को
भूल जा। अब उसके तुझे दर्शन भी नहीं हो सकते। मेरे भवन
तीनों लोकों की उत्तम स्त्रियां हैं, वे सब तेरी सेवा करेंगी। स्वर्ग
में, नरलोक में, और पृथ्वी पर जहां जितना धन-रत्न है, जि
ऐश्वर्य है, उन सबका तू मेरे साथ रहकर भोग कर। वह वन
भिखारी राम न तो बल में, न धन में, न पराक्रम में मेरी स
कर सकता है, इसलिए तू यह जान कर—कि यह यौवन क्षण
है इसका उपभोग मेरे साथ कर और जीवन के लोकोत्तर

आपकी जय हो। आप त्रिलोकी के स्वामी और सब विद्याओं के भंडार हैं। आपको ज्ञात है कि मैं वरिष्ठ कुल की कन्या और वधू हूं। उच्च कुल में मेरा जन्म हुआ है और उच्च कुल में ही मैं ब्याही गई हूं। मैं आर्य कुलवधू हूं। फिर भला मैं लोकनिन्दित आचरण कैसे कर सकती हू? आप सद्धर्म का विचार कीजिए और सज्जनों के मार्ग का अनुसरण कीजिए। आप रक्षपति हैं। "वयं रक्षाम:"—आपका व्रत है। आपको स्त्रियों की सर्वप्रथम रक्षा करनी चाहिए। आपके अवरोध में त्रैलोक्य से आई हुई बहुत सुन्दरियां हैं, आपको उन्हीं पर सतुष्ट रहना चाहिए। हे रथीन्द्र, जिन पुरुषो का मन चचल रहता है उनका अपमान-पराभव भी उसी के द्वारा होता है। क्या आपको सत्परामर्श देने वाले सत्पुरुष मन्त्रीगण नहीं हैं, अथवा आपकी विपरीत-बुद्धि ही उनका सत्परामर्श नहीं ग्रहण करती? कहीं ऐसा न हो, कि आपके ही अपराध से यह धनधान्य से परिपूर्ण लकापुरी नष्ट हो जाय। हे रक्षेन्द्र, जैसे सूर्य से उसकी प्रभा भिन्न नहीं है, उसी प्रकार मैं भी राम से भिन्न नहीं हूं। मैं उन्हीं की भार्या हूं, आपके सर्वथा अयोग्य हूं। आपका श्रेय इसी में है कि आप मुझे उनके पास पहुंचा दें, और उनकी मित्रता-लाभ कर लें—शत्रुता से मित्रता अधिक लाभदायक है।"

सीता के ये वचन सुनकर रावण ने कहा—

"भद्रे, सीते, मैंने तेरे साथ कोई अधर्माचरण नहीं किया है। राक्षस-धर्म की मर्यादा के अनुसार ही तेरा हरण किया है, क्योंकि तेरा पति मेरा वैरी है। उसने अकारण मेरी बहिन सूर्पनखा का अंग-भंग किया और उसकी रतियाचना की अवज्ञा की। इससे मैंने उसकी स्त्री का हरण कर लिया। इसमें दोष कहां है? फिर, मैं तो तुझ पर अधिक सदय हूं। मैंने तुझसे बलात्कार नहीं किया, तुझसे दासीकर्म नहीं कराया, तुझे वध भी नहीं किया, न तुझे

विक्रय किया, अपितु इस महाहर्म्य में सादर-सयत्न रानी की भांति
रखा है, और स्वयं विजयी मैं रावण तुझ से प्रणय-याचना करता
हूं। क्या तू यह भी नहीं सोचती ?"

सीता ने कहा—"क्या आपने मेरे पति को युद्ध में जीत कर
मेरा हरण किया है ? आपने तो छल करके, भिक्षुक बनकर, चोर की
भांति मुझे चुराया है। आपने पुरुष-सिंह राम और लक्ष्मण की
अनुपस्थिति में मेरा हरण किया, आपका यह कार्य कितना कलंकित
था। आपका यह कार्य न धर्म-सम्मत है, न वीरोचित। फिर मैं तो
आपको स्वीकार करती नहीं। मेरे यशस्वी पति राज्य-भ्रष्ट नहीं
हैं। उन्होंने तो स्वेच्छा से राज्य त्यागा है, अभी भी वे ही अवध
के स्वामी हैं। अभी भी वे सात अक्षोहिणी सेना के अधिनायक
हैं। परन्तु इससे भी क्या ? आर्यपुत्र का बल उनकी सेना में नहीं;
उनकी भुजा में है। दण्डकारण्य में आपकी बहिन ने वह भुजबल
देखा है, और अब रक्षेन्द्र, यदि आपकी सुमति न जगी तो आप
देखेंगे—शत्रु संहारी मेरे पति मेरे लिये लंका में अवश्य आएंगे।
तब आप भले ही कुबेर की अलका में जाकर छिपें, चाहे और कहीं;
कोई भी देव, दैत्य, नाग, यक्ष आपको उनके हाथों से बचा न
सकेगा। आपकी निश्चय ही मृत्यु होगी।"

भगवती सीता के ऐसे कठोर वचन सुन, रथीन्द्र रावण क्रुद्ध
हो गया। उसके नेत्र लाल हो गए, नथुनों से बैल की भांति गर्म
निःश्वास छोड़ते हुए उसने कहा—"भद्रे-सीते, तू शत्रु-भार्या है,
मेरी हरण की हुई सम्पत्ति है, तूने मेरा ही तिरस्कार किया है।
मैंने जो तुझ एक स्त्री को इतना मान दिया, इस पर तूने विचार
नहीं किया। इस अपराध में तेरा तुरन्त वध होना चाहिए। परन्तु
मैं तुझे एक वर्ष की अवधि देता हूं। इस बीच यदि तू अपना हठ
त्याग मेरे आधीन न होगी तो मेरे रसोइए मेरे कलेवे के [illegible]
तेरा वध करेंगे।" इतना कह और लाल-लाल आंखों से [illegible]

देखता हुआ रावण अपने मणि-हर्म्य में जा देव, गन्धर्व, दानव और यक्ष-कुमारियों के बीच बैठ मद्यपान और विलास करने लगा।

रावण के संकेत से राक्षसकुमारियो ने सीता को बहुत समझाया, प्रलोभन दिए। धान्यमालिनी एक मुखरा तरुणी थी, वह आंख नचाकर बोली—"कल्याणी सीते, मैं तेरे ही भले के लिए कहती हूँ, महात्मा रावण कुल मे वरिष्ठ हैं। महर्षि पुलस्त्य छै प्रजापतियों मे चौथे थे, उनके पुत्र विश्रवा मुनि भी प्रजापति तुल्य ही हैं, रक्षेन्द्र रावण उन्हीं के पुत्र हैं। उनकी भार्या बनने से बढ़कर सौभाग्य पृथ्वी की किस स्त्री को हो सकता है। त्रैलोक्य के अधिपतियों ने अपनी-अपनी पुत्रियां उन्हें दे अपने को धन्य माना है। फिर रक्षेन्द्र तुझपर तो अधिक प्रसन्न है, अब तेरा उस तपस्वी राम से क्या प्रयोजन रहा ?"

हरिजटा ने कहा—"समय को देखकर ही अनुराग-विराग होता है। फिर जिसके अनुराग की याचना देव-दैत्य-विजयी रक्षेन्द्र स्वयं करते हैं, उस स्त्री के सौभाग्य की तुलना क्या है? अरे, इन्द्र को जिसने बन्दी किया, तथा जो हजारो देव-दैत्य-दुर्लभ रमणियों से भरे अन्तःपुर को छोड़ तेरे पास आता है तो फिर तेरी समता पृथ्वी पर कौन स्त्री कर सकती है।"

दुर्मुखी ने कहा—"अरी, जिसके प्रताप के आगे सूर्य भी अपना तपना त्याग देता है, उसी रक्षेन्द्र का तू तिरस्कार करती है? तू सौभाग्य को लात मार दुर्भाग्य का वरण करती है! यह भला तेरी कैसी बुद्धि है?"

एकजटा ने कहा—"संसार का ऐसा कौन-सा सुख-साधन है जो रावण के हर्म्य में नहीं। अरे, वह तो त्रिलोकपति है, उसके ऐश्वर्य की तुलना पृथ्वी पर भला कौन कर सकता है? तू भिक्षुक राम के पुराने अनुराग का विचार कर राक्षस-राज का तिरस्कार कर रही

है। अरी, राम तो स्वयं ही दुःखी है। वह तुझे कैसे सुखी रखेगा? और अब तो उसकी आशा ही छोड़। त्रैलोक्य में आज ऐसा कौन है, जो दुर्लंघ्य समुद्र-मेखला को लांघ कर यहां आकर तेरी सुध ले।"

एक राक्षसी ने कहा—"मैं तो यही नहीं समझ सकती कि उस कृपण राम के साथ रहकर तू क्या करेगी। फिर वह यहां समुद्र पार आने का साहस भी भला कैसे करेगा?"

चण्डोदरी ने कहा—"अरी, क्यों इस कुरूपा के साथ माथा खपाती हो, ऐसी स्त्रियों का तो अंत में वध ही होता है, इसके शरीर का मध्य भाग मुझे ही मिलेगा।"

"और कलेजा मुझे।"

"तो जाओ, एक भाण्ड मद्य उठा लाओ, हम इसे काट-कूट कर खा जायँ और मद्य पीकर आनन्द करें।"

"अभी नहीं, रक्षेन्द्र ने इसे अवधि दी है। उसे पूरा होने दो, फिर तो हमीं इसका स्वादिष्ट मांस खाएँगी।"

सीता ने इस पर नेत्रों में जल भर कर कहा—"सखियो, अवधि की इसमें क्या बात है, तुम अनुग्रह करके अभी क्यों न मेरा भक्षण करके इस दुःख से मेरा परित्राण कर दो। हाय, मैं बड़ी ही अनार्या और असती हूँ। मुझे धिक्कार है जो मैं आर्यपुत्र से पृथक् होकर भी अभी तक जीवित हूँ। जाओ-जाओ, रक्षेन्द्र को तो मैं अपने बाएं पैर के अंगूठे से भी नहीं छू सकती। और समुद्र से घिरी होने ही से क्या? आर्यपुत्र क्या मेरी टोह लगाने यहां तक न पहुंचेंगे? क्या गृद्धराज जटायु ने उन्हें मेरी सूचना न दी होगी? क्या वह वीर सूचना देने से पूर्व ही गतप्राण हो गया होगा? यदि आर्यपुत्र को मेरे यहां रहने का पता लग गया तो वे समुद्र को भस्म कर देंगे। संसार को राक्षसों से विहीन कर देंगे। आज जैसे मैं क्रन्दन करती हूं, इसी प्रकार लंका में एक दिन घर-

घर यही करुण क्रन्दन सुन पड़ेगा। लंका में रक्त की धारा बह जायगी, तथा यह पुरी श्मशान बन जायगी। आज तुम सब यहां विजयोत्सव मना रही हो, पर वह दिन भी आयगा जब इस नगरी की श्री विधवा के समान हो जायगी, और जो मेरे शोक में उन्होंने प्राण ही दे दिए हो, तो फिर अब मुझे जीवन से क्या प्रयोजन है। हाय, वे वीतरागी जन ही धन्य हैं, जिनका संसार की किसी भी वस्तु पर मोह नहीं है, जिनका कोई प्रिय-अप्रिय नहीं है। मैं अपने प्रियतम से बिछुड़ गई हूँ और लंकापति रक्षेन्द्र के पल्ले फंस गई हूँ। सो अब मेरे जीवन से क्या? मैं तो अब प्राण ही दूंगी।"

सीता के ऐसे पतिप्रेमपगे वचन सुनकर त्रिजटा राक्षसी ने कहा—"यह तो अत्यन्त आश्चर्यजनक और अद्भुत बात मैं देख रही हूं, जो यह स्त्री एक पुरुष पर ऐसा उत्कट मोह और आसक्ति प्रकट कर रही है। ऐसी तो देव, दैत्य, मानुष, आर्य, राक्षस कहीं भी मर्यादा नहीं है। दैत्य, दानव, देव, नाग और मरुतों में तो पति-परंपरा ही कुछ ऐसी नहीं है। स्त्री स्वतन्त्र है, आत्मोन्मुखी है, पति से उसका क्या प्रयोजन है, वह तो उससे तनिक भी अनुबन्धित नहीं है, वह जिस भी प्रिय पुरुष को चाहे, उसे ही अपने लिए वर सकती है। ऐसा ही कुछ हम राक्षसों में, गन्धर्वों में, और यक्षों में भी है। हम लोग पति-पत्नी में सम सखाभाव मानते हैं सही, परन्तु ऐसा नहीं—जैसा यह स्त्री एक पुरुष के लिए ऐसी उन्मुख है। फिर आर्यों में तो स्त्री दासी है, अवरोधिता है। अनुगता-अनुगामिनी है। पुरुष उसका स्वामी है फिर भी यह आर्या किस प्रकार उस स्वामी को इस प्रकार चाहती है। जो हो, इसका प्रेम तो स्तुत्य है, क्यों न एक स्त्री एक पुरुष को ही प्यार करे? क्यों न एक स्त्री और एक पुरुष एकीभूत हो कर रहें? क्यों न दोनो का प्राणों से प्राणों का विलयन हो। अहा—"समापो हृदयाणि नौ:," मुझे

यही प्रिय है। इस मानुषी की मैं अभ्यर्थना करती हूं, वन्दना करती हूँ, इसका पुरुष-प्रेम धन्य है, श्लाघ्य है। हमें इसपर क्रोध, विराग न करना चाहिए। हम इसकी रक्षिकाएँ हैं, इसे डराने-धमकाने से हमारा क्या प्रयोजन है ? रक्षेन्द्र से मैं निवेदन करूंगी। और इस स्त्री से भी मैं कहती हूँ—"आर्ये, तू निश्चिन्त रह, अपनी शक्ति भर हम सब तेरा प्रिय करेंगी, तेरा कल्याण हो। तू अपना प्रिय हमसे कह।"

त्रिजटा राक्षसी के ये वचन सुन सीता आश्वस्त हुई। उसने कहा—"भद्रे, मैं तेरा अनुग्रह स्वीकार करती हूं। इस रक्षपुरी में तू ही मेरी प्राणसखी है। मैं आज विपन्न हूँ—परन्तु दैव-विधि से यदि सम्पन्न हुई तो मैं तेरे इन शब्दों को याद रखूंगी।" इतना कह सीता नीचे मुख कर मौन हो बैठी।



८७

हा सीते !

मारीचि को मार जब राम पीछे लौटे तो उनके सम्मुख आ एक सियार ने मुंह उठा कर विकट रोदन किया। इस अपशकुन से आतंकित-आशंकित हो, राम जल्दी-जल्दी आश्रम की ओर आने लगे। राह में उन्हें भगवान् अगस्त के आश्रम से लौटते हुए लक्ष्मण मिले। उन्होंने कहा—"आर्य, आप भगवती सीता को अकेली छोड़ इधर कहाँ से आ रहे हैं ?"

राम ने कहा—"मैं एक राक्षस के माया-जाल में फंस गया था। देखो, वह सियार ऊपर मुह उठा कर कैसा विकट शब्द कर रहा है। जल्दी चलो लक्ष्मण, कहीं कुछ अमगल न हो गया हो।"

दोनों भाई द्रुत गति से लौट चले। आश्रम के निकट आने पर उन्होंने जटायु के आश्रम में बहुत से तपसियों की भीड़ देखी। तपस्वीजनों ने उन्हें सीता-हरण का दारुण सम्वाद कह सुनाया। राम ने रक्त में सने हुए जटायु को देखा। जटायु ने ऊर्ध्व श्वास लेते हुए और मुख से रक्त-वमन करते हुए क्षीण स्वर से कहा—"आयुष्मन्, तेरी सीता और मेरे प्राणों को एक बलवान तस्कर राक्षस हर ले गया। मैंने शक्ति भर विरोध किया, पर मेरा पुराना पुरुषार्थ काम न आया। परन्तु मैंने अपने मित्र दशरथ का सख्य पालन किया। मेरा उस राक्षस से घनघोर युद्ध हुआ। वह देखो, उसका छत्र, धनुष, टूटा पड़ा है, पर मैं निश्शस्त्र था। जब मैंने भगवती सीता का चीत्कार सुना—मैं सो रहा था। चीत्कार सुनते ही मैं भागा। शस्त्र लेने का मुझे

अवकाश न मिला। उस पतित दुरात्मा ने मुझ निरस्त्र की यह दुर्दशा कर दी। मैं कुछ भी न कर सका। वह—'हा दाशरथि, हा आर्यपुत्र,हा सौमित्र' करती हुई स्नुपा सीता को बलात् रथ में बैठा कर इसी दक्षिण दिशा को गया है। हे राम, उसके पास वायु-वेगी अश्वतरी का रथ है, उसमें आठ अश्वतरी जुड़ी हैं। तुम कैसे एकाकी पांवप्यादे उसे पा सकोगे। मैं तो अब उस लोक को चला, रामभद्र, तेरा कल्याण हो।"

इतना कहकर जटायु ने रक्त-वमन कर प्राण त्याग दिए। जटायु के ये मर्मवेधी वचन सुन और जटायु का गतप्राण शरीर देख राम आंसू बहाते हुए जटायु से लिपट गए। लक्ष्मण सहित वे रो पड़े। वे लक्ष्मण और सब तपस्वियों से कहने लगे —"मैं ऐसा पापी हूं, जिसके कारण कौशल का राज्य नष्ट हुआ,पिता का स्वर्गवास हुआ, सीता का हरण हुआ, और अब महाबली गृद्ध-राज जटायु के भी प्राणों का गाहक मैं ही बना। आज यदि मैं समुद्र में तैरने की चेष्टा करूं, तो समुद्र भी सूख जायगा। मेरे समान भाग्यहीन पृथ्वी पर और कौन होगा, जिसके कारण मेरे पितातुल्य आर्य जटायु मृतक होकर भूमि पर पड़े हैं।" इसके बाद वे जटायु के शरीर को अंक में भर कर आर्तनाद-सा करते हुए बारंबार कहने लगे—"हे तात, मेरी सीता कहां है?" फिर वे दुःख से हतचेत हो भूमि पर गिर पड़े।

कुछ काल बाद उन्होंने चेत में आकर कहा—"हे लक्ष्मण, कैसे संताप की बात है कि आर्य जटायु सीता की रक्षा करते हुए हतप्राण हुए। सज्जनों का संसार में कहीं अभाव नहीं है। मुझे इस समय सीताहरण का उतना दुःख नहीं, जितना जटायु-मरण का है। जाओ भाई, अब तुम विलम्ब न करो। लकड़ी एकत्र करो, मैं तब तक अग्नि निकालता हूं। मैं विधिपूर्वक बान्धवों की भांति जटायु का दाह करूंगा।"

उन्होंने विधिवत् जटायु का दाह-संस्कार किया। फिर मृगों को मार, पृथ्वी पर कुश बिछा, मृग-मांस कोमल घास पर रख, उससे गृद्ध-राज का श्राद्ध-तर्पण किया। फिर गोदावरी-तट पर जा उसे जलाञ्जलि दी। इस प्रकार वृद्ध जटायु का ऋषि के समान सत्कार कर राम बोले—"हे भाई, अब उस शून्यागार में जाने से हमारा क्या प्रयोजन है। अब तो हमें सीता का अन्वेषण कर उसका उद्धार करना है।" फिर उन्होंने कहा—"हे भगवति गोदावरी, कहो, क्या तुमने सीता को देखा है ? क्यों भाई, यह गोदावरी तो कुछ भी जवाब नहीं देती। कहो, अब मैं राजा जनक से मिलने पर, जब वे जानकी का कुशल पूछेंगे—तो क्या जबाब दूंगा ? अरे, मेरे साथ राज्यहीन होकर, वन में जगली फल-मूल खाकर,जो मेरे दु ख के समय मेरे सब दु.खों को हरती थी, वह जनक-दुलारी अब कहां चली गई ? बन्धु-बान्धवों से तो मेरा वियोग हो ही गया था—अब सीता से भी मुझे वचित होना पड़ा। चलो भाई, मन्दाकिनी-तट, जनस्थान और प्रश्रवण पर्वत पर चलकर खोज करें। कहां ले गया वह राक्षस उसे ? ये वन के मृग मेरी ओर आंखें उठाए क्या देख रहे हैं ? क्या ये कुछ मुझसे कहना चाहते हैं ? क्या ये सीता का कुछ पता जानते हैं ?"

लक्ष्मण ने कहा—"आर्य, तात जटायु ने दक्षिण ही की ओर सकेत किया था। हम दक्षिण ही की ओर चलें तो ठीक होगा।"

उन्होंने तब भूमि पर गिरे हुए उन पुष्पों को देखा—जो सीता के केशों में से झड़ गए थे। राम ने कहा—"लक्ष्मण, इन फूलों को मैं पहचान गया। ये पुष्प आज प्रात मैंने ही उसे दिए थे। मेरे ही सामने उसने इन्हें चोटी में गूथा था।" फिर वे पर्वतों की ओर मुख करके जोर-जोर से कहने लगे—"अरे पर्वतो कहो—सीता कहां है ? नहीं बोलोगे तो अपने अग्नि-बाणों से तुम्हें भस्म कर दूंगा। गोदावरी का जल भी सुखा डालूंगा।"

इसी समय लक्ष्मण ने कुछ घुंघरू पृथ्वी से उठा कर कहा—"यह देखिए आर्य, यहां ये घुंघरू टूटे पड़े हैं। और ये फूल-मालाएँ दली-मली पड़ी हैं। इधर-उधर भूमि पर रक्त भी बहुत पड़ा है। कहीं वह दुर्दान्त राक्षस आर्या को खा तो नहीं गया ? परन्तु यह टूटा हुआ विशाल धनुष किसका है ? और ये बड़े-बड़े मोती, टूटा हुआ स्वर्ण-कवच ? अहा, यहीं तो तात जटायु का उस राक्षस से युद्ध हुआ है। यह देखिए, स्वर्ण-पंख-विभूषित बाण भी यहां टूटे पड़े हैं। अवश्य ही वह राक्षस कोई सम्पन्न और बली प्रतीत होता है। वह अवश्य ही खर-दूषण की प्रतिक्रिया करने आया होगा। महाराज, हमने तो समझा था, अब जन-स्थान से राक्षसों का पातक ही कट गया। परन्तु यह तो महापातक उठ खड़ा हुआ।"

राम ने कहा—"हे लक्ष्मण, सीता हरी गई, मारी गई या खा ली गई, जो कुछ भी हो, अब तो राक्षसों से मेरा वैर सौ गुना बढ़ गया। मैं पृथ्वी से राक्षसों के वंश को ही अब निर्मूल करूँगा। अरे, देव, दैत्य, गन्धर्व, असुर, किन्नर, राक्षस जो भी वह तस्कर हो, जीवित न रहेगा। मैंने उसे देखा है, वह धूर्त तपस्वी का वेष धर कर मेरा अर्घ्यपाद्य ग्रहण कर गया। उस वंचक ने मुझे ठग लिया। मैं वृक्षों को उखाड़ कर समुद्र को पाट दूंगा। जो सीता न मिली तो त्रैलोक्य को नष्ट कर डालूंगा। सीता हरी गई या मारी गई, जो कुछ भी हो, मैं त्रैलोक्य में उसे खोज निकालूंगा।" इतना कहकर राम ने अपनी जटा खोल कर चारों ओर छितरा दी।

इस समय तक बहुत से जनस्थानवासी ऋषि, मुनि, तापस वहां एकत्र हो गए थे। महामुनि अगस्त्य ने जब राम को क्रोध और शोक में इस प्रकार अभिभूत देखा; तो उन्होंने आगे बढ़ कर कहा—"रामभद्र, आप तो सदा ही सब की कल्याण-कामना करते हैं; फिर आप इस समय कैसे क्रोध और शोक से अधीर नहीं जानते, यह अपराधी तस्कर कौन है। [illegible]

पड़ा है। यहां अधिक पुरुषों के चरण-चिन्ह भी नहीं हैं। देव और गन्धर्वों में कौन आपका अहित चाहता है ? भगवती सीता अवश्य ही किसी एक पुरुष ने हरण की है। अब आप उन्हें ढूंढ़िए। भला सोचिए तो, जब आप ही अपने ऊपर आए हुए इस दु:ख को धैर्य-पूर्वक नहीं सहन करेंगे, तो फिर भला दूसरे प्राणियों की क्या सामर्थ हो सकती है। आपत्तियां तो प्राणियों पर आती ही हैं। वे अग्नि के समान एक क्षण में स्पर्श करतीं और दूसरे क्षण दूर हो जाती हैं। यही तो संसार का स्वभाव है। भगवती सीता चाहे जीवित हो वा पृथ्वी को त्याग चुकी हो, आप दु:ख न कीजिए। हे महाप्रज्ञ, सारा संसार आपका प्रशंसक है, इसलिए आप धैर्य धारण कीजिए, और शत्रु के विनाश का प्रयत्न कीजिए।" इस प्रकार समझा-बुझा कर सब तपस्वियों ने अत्यन्त दु:खित हो राम-लक्ष्मण को बिदा किया। बहुत जन दूर तक उनके साथ चले।

इस प्रकार राम-लक्ष्मण दक्षिण दिशा में आगे बढ़ कर क्रौंच वन में पहुँचे। यह वन बड़ा विशाल और रमणीय था। परन्तु यह वन अत्यन्त सघन था, और इसमें अनेक हिंस्र जन्तु रहते थे। यहां एक अत्यन्त गहरी गिरि-गुहा थी। इस गुहा में एक अति भयानक राक्षस रहता था। वह बड़ा बलवान था। इस वन का वही स्वामी था। उसके विकट बल और अतुल सामर्थ्य से दूर-दूर तक लोग आतंकित रहते थे। चलते-चलते एकाएक वह भयानक राक्षस—दोनों हाथ फैलाए इन दोनों भाइयों के सम्मुख आ खड़ा हुआ और कहने लगा—"धनुष-बाण धारण करनेवाले तुम दोनों कौन हो, और बिना मेरी अनुमति मेरे इस वन में तुम कैसे आए हो ? तुम सुन्दर हो, तुम्हारे कन्धे बैल के समान हैं, तुम अवश्य ही मानुष प्रतीत होते हो। मैं मानुषों को मार शिश्न-देव की बलि देकर नर-बलि का मांस खाता हूँ। सो तुम भले

मिले। आज मैं तुम्हारी बलि दे तुम्हारा ही स्वादिष्ट मांस खाऊंगा।"

उस कदरूप और विकट राक्षस को देख शोक-जर्जरित और भूख-थकान से क्लान्त राम-लक्ष्मण अत्यन्त भयभीत हो गए। परन्तु लक्ष्मण ने साहस करके खड्ग का प्रहार उसकी फैली हुई भुजाओं पर किया। प्रहार से उसकी एक भुजा कट कर दूर जा गिरी। उस प्रहार से विकल होकर वह लक्ष्मण को पकड़ने दौड़ा। तब अवसर पाकर राम ने उसे सात बाणों से बींध डाला। फिर जब वह पीड़ा से व्याकुल हो राम की ओर मुड़ा तो राम ने फुर्ती से पांच बाण उसके खुले मुख में ठूंस दिए, जो उसके तालू को फोड़ कर निकल गए, जिससे वह कराहता हुआ भूमि पर गिर गया, और दीन भाव से बोला—"हे वीर, तुम कौन हो?"

राम-लक्ष्मण ने जब अपना संक्षिप्त परिचय दिया; तो वह कहने लगा—"मैंने तुम्हारा प्रताप और नाम जन-स्थान में सुना था। मैं दनु दानव हूं, तथा देवराट् इन्द्र के वज्र-प्रहार से पंगु होकर यहां वन में रहता था। सो आज तुम्हारे हाथ से मेरा अन्त हुआ। किन्तु अब वैर-भाव से क्या प्रयोजन है। कहो, तुम्हारा मैं क्या प्रिय करूं।"

राक्षस के ये वचन सुन कर राम ने कहा—"मेरी भार्या को कोई तस्कर हर ले गया है, क्या तू उसका कुछ पता बता सकता है?"

तब राक्षस ने कहा—"हे राम, मेरी बात सुन। राजा छः प्रकार की सन्धि-विग्रह-युक्तियों से अपना मनोरथ पूरा करता है। पुरुष जब कालचक्र से आक्रान्त होता है, तब उसे बुरी दशाएं भी सहनी पड़ती हैं। इसी के फलस्वरूप तू कान्तिहीन हो गया है, सो जब तक तू किसी समर्थ पुरुष को मित्र न बनाएगा, तेरा मनोरथ पूरा न होगा। सो मेरा कहना माने तो तू सुग्रीव वानर

से मित्रता कर ले। उसके भाई बालि ने उसे घर से वहिष्कृत कर दिया है, और वह इस समय ऋष्यमूक-पर्वत पर पंपा सरोवर के निकट अपने वानरी परिजनों के साथ रहता है। ये दोनों भाई, बालि और सुग्रीव बड़े बली और तेजस्वी हैं। सुग्रीव विशेष कर पराक्रमी, मित्रता की आन रखने वाला तथा बुद्धिमान पुरुष है। मित्र बन कर वह तेरी भार्या को खोज निकालने में बहुत सहायक होगा। तू अग्नि जलाकर उसकी साक्षी में उसे मित्र बना ले, जिससे भविष्य मे वह तुझसे विद्रोह न कर सके। तू स्वय भी कभी सुग्रीव का अनादर न करना; क्योंकि वह कृतज्ञ है, तथा इस समय वह स्वय एक सहायक ढूंढ रहा है। सो तुम दोनों भाई पहिले उसका अभीष्ट कार्य पूरा कर देना, जिससे वह कृतज्ञता के भार से उऋण होने को तुम्हारा कार्य अवश्य करेगा। उसके वानर पृथ्वी के सब देश-देशान्तरों को जानते हैं। उनके द्वारा वह दुर्गम वन, पर्वत, नद, नदी, द्वीप, सभी जगह जहां से भी सभव होगा, तेरी पत्नी को ढूंढ लाएगा। मेरु, पाताल कहीं भी उसके चरों के लिए अगम्य नहीं है। सो हे राम, तू मेरी मृत्यु तक यहां ठहर कर मेरी और्ध्वदैहिक क्रिया कर। फिर यहां से पच्छिम की ओर जा। वह मार्ग, वृक्ष-वनस्पतियों से सुशोभित और सुगम है, वहां ऋष्यमूक पर्वत के अचल में तू पम्पा सरोवर पर पहुँचेगा। वहां की भूमि कंकरीली नहीं है, घाट समतल है, उस सरोवर में नील कमल बहुत हैं। उस सरोवर में विचरनेवाले कुरंढ, हस, कुरर और क्रौंच आदि पक्षी निरन्तर मधुर शब्द करते हैं। वहीं वानरों के यूथ तू देखेगा। वे प्रकृत वीर हैं। उनमें सिंह-विक्रम है। वहीं निकट तेजस्वी मतङ्ग ऋषि का आश्रम है। मतङ्ग ऋषि अब जीवित नहीं हैं, परन्तु उनकी सेविका तपस्विनी शवरी वहां आश्रम की स्वामिनी हैं। वहां का वन मतङ्ग नाम से ही प्रसिद्ध है। उस वन में बड़े-बड़े हाथी हैं, जिनका मदगन्ध

योजन-योजन विस्तार में सुरभित रहता है। पंपा के शीर्ष स्थल पर ही ऋष्यमूक है। जहां की चढ़ाई बड़ी विकट है। वहां स्पर्श मणि तथा दिव्यौषधियां बहुत हैं। इस समय इसी पर्वत की गुहाओं में विपद्ग्रस्त धर्मात्मा सुग्रीव रहता है।"

इस प्रकार हितकारी वचन कह कर दनु ने ब्रह्मरन्ध्र द्वारा अपने प्राण त्याग दिए। राम-लक्ष्मण ने विधिवत् उसकी ऊर्ध्व-दैहिक क्रिया की, फिर वे सुग्रीव से मिलने को ऋष्यमूक की ओर चले। राह में विकट वन पर्वत-उपत्यकाएँ पारकर अत्यन्त धैर्य-पूर्वक वे ऋष्यमूक के निकट मतङ्ग ऋषि के आश्रम में आ पहुँचे। वहां शबरी ने उनका विधिवत् आतिथ्य कर उन्हें आश्रम में ठहरा कर उनका श्रम दूर किया।

ये मतङ्ग ऋषि अन्त्यज जाति के थे। शबरी भी उन्हीं की जाति की थी। परन्तु दोनों ही का धर्म-प्रभाव दूर-दूर तक व्याप्त था। मतङ्ग ऋषि की बहुत ख्याति थी। वे वेदर्षि थे। राम ने शबरी से कहा—"माता, दनु से तेरे आश्रम की महिमा सुन चुका हूं। अब उसे प्रत्यक्ष देखने की अभिलाषा रखता हूं।"

शबरी ने कहा—"हे राम, मेरे गुरुपद के नाम पर इस वन का नाम ही मातङ्ग वन है। मतङ्ग ऋषि ने यहां बहुत यज्ञ किया, तथा सप्त-तीर्थ बनवाए। यहीं पर उन्होंने देवराट् का प्रत्यक्ष सत्कार किया था तथा देवराट् इन्द्र स्वयं यहां आकर ऋषिवर को देव-लोक ले गए थे। अब मेरा भी समय आ उपस्थित हुआ है। राम, तुम्हें देख कर और तुम्हारा आतिथ्य करके मैं कृत-कृत्य हो गई, अब मेरी इच्छा अग्नि-प्रवेश कर अपना शरीर त्यागने की है।" इतना कह कर शबरी ने सब तापसजनों को एकत्र कर अग्न्याधान किया और विधिवत् हवन कर सब के देखते-देखते अग्नि-प्रवेश किया।

राम-लक्ष्मण ने शबरी की ऊर्ध्वदैहिक

तथा सप्त-तीर्थों में स्नान कर पितरों का तर्पण किया, और फिर ऋष्यमूक की ओर चले। शीघ्र ही वे पम्पा सरोवर के तट पर जा पहुचे। यहां वन की शोभा अकथनीय थी। वृक्ष जैसे फल-फूलों का वर्षा कर रहे थे। वायु के साथ-साथ भ्रमरावलियां गूंज रही थीं। पवन चन्दन के वृक्षों से शीतल और सुरभित थी। पक्षी मस्त हो चहक रहे थे। सर्वत्र ऋतुराज का राज्य था। राम वहां के मनोरम वातावरण को देख विरह-दु ख से दु खित कहने लगे—"देखो, इस मधुर ऋतु में सीता के बिना मेरी कैसी दशा है, सीता के बिना यह सब सुखद वातावरण मुझे कितना कष्टकर प्रतीत हो रहा है, अब न जाने वह साध्वी कहां होगी।"

राम के इस प्रकार विलाप को सुन कर लक्ष्मण ने कहा—"आर्य, आप धैर्य धारण कीजिए। वह चोर चाहे भू-लोक में हो या पाताल में, हम उन्हें ढूंढ निकालेंगे। अब हमें सरोवर में स्नान कर ऋष्यमूक पर पहुँचना चाहिए। किंकर्तव्य-विमूढ़ होकर शोक-संतप्त होने से भला क्या लाभ है।"

इस प्रकार पंपा सरोवर में स्नान कर जब राम ऋष्यमूक पर्वत पर पहुँचे, तो दो नवीन शस्त्र-धारी पुरुषों को देख सुग्रीव के मन्त्री चौकन्ने हो गए। उन्होंने सुग्रीव को इसकी सूचना दी। सभव हो सकता है, इन पुरुषों को बालि ने ही हमें मारने को भेजा हो, इस विचार से उसने सोच-विचार कर अपने पार्षद हनुमान को राम के पास सच्चे समाचार जानने के लिए भेजा। हनुमान ने ऋषिवेष बना राम के पास आ, उनका नाम-धाम-गोत्र तथा उनके उधर आने का कारण पूछा। उसने कहा—"तपस्वी का वेष धारण करने वाले, तथा धनुष-बाण लिए वन में विचरण करने वाले आप कौन हैं? क्या आप कोई राज्याधिकारी हैं, या देव-पुरुष हैं? सो कृपा कर कहिए। इस स्थान पर अपने भाई बालि

न कर। मैं दुरात्मा वालि को वध कर तेरी पत्नी और राज्य तुझे दिलाऊंगा।'

सुग्रीव ने कहा—"मित्र, मैं भी जैसे—जहां से बन पड़ेगा, सीता का पता लगा कर सीता आपको ला दूंगा।"

इस प्रकार दोनों वचनबद्ध हो आगे की योजनाएँ बनाने लगे। तब अकस्मात् स्मरण करके हनुमान गुफा में जाकर वे वस्त्र और आभूषण ले आए जो सीता ने हरण के समय जाते हुए वहां फेंके थे। आभूषण और वस्त्र देख राम व्याकुल हो गए। उन्होंने लक्ष्मण से कहा—"देखो सौमित्र, ये कुण्डल, ये नुपूर, क्या सीता ही के हैं?"

सौमित्र ने कहा—"आर्य, मैं इन कुण्डलों को नहीं जानता, क्योंकि मैंने कभी आर्या के मुख की ओर नहीं देखा, मैं तो इन नूपुरों को पहिचानता हूं। जब मैं नित्य आर्या की पद-वन्दना करता था, तब इन्हें देखता था।" तदनन्तर सुग्रीव ने सारी घटना कह सुनाई।

राम ने कहा—'मित्र सुग्रीव, क्या तुम अनुमान कर सकते हो कि यह दुष्ट चोर कौन है?"

'नहीं कह सकता, न मैं उसका स्थान जानता हूं। परन्तु वह कहीं निकट नहीं रहता है, ऐसा मेरा अनुमान है। फिर भी मैं शीघ्र ही उसका पता लगा लूंगा। आप चिन्ता न करें। शोक त्याग दें। महात्माओं का दु:खी होना उचित नहीं है। मुझे भी पत्नी-वियोग है, परन्तु मैं शोक नहीं करता। आप भी इस संकट-काल में धैर्य धारण कीजिए। शोक से व्याकुल होकर जो धैर्य को छोड़ देता है, वह मूर्ख है। शोक से मनुष्य बुद्धि-हीन होकर संशय में पड़ जाता है। इसलिए आप शोक त्याग पुरुषार्थ दिखाइए।"

सुग्रीव के ये सारगर्भित वाक्य सुन कर राम ने कहा—

"मित्र, तूने सच्चे मित्र की भांति बात कही है। निस्सन्देह तेरे जैसा मित्र मिलना दुर्लभ है। तू विश्वास रख कि मैंने जो वचन दिया है, वह पूरा करूंगा।"

बालि-वध

सुग्रीव ने कहा—आप जैसा सर्वगुणसम्पन्न मित्र पाकर अब मेरे लिए कुछ भी अलभ्य नहीं रहा। आपके प्रताप से मैं पूजनीय हो गया। दुरात्मा बालि ने मेरी पत्नी को छीन मुझे राज्य से निकाल दिया है, और सदैव मेरे वध के उपाय करता रहता है। ये हनुमान सहित चार वानर ही मेरी सेवा में हैं। यह बालि मेरा काल है, उसका अन्त होने पर मेरा दु:ख दूर होगा।"

राम ने कहा—"मित्र, तेरे इस भ्रातृ-विग्रह का कारण क्या है ? क्या बालि तेरा सगा ज्येष्ठ है ?"

"नहीं, उसका पिता इन्द्र है। माता उसे गोद में लेकर पिता की सेवा में आई थी।"

"किन्तु ज्येष्ठ तो है ही।"

"इसी से पिता की मृत्यु होने पर मन्त्रियों ने उसी को अभिषिक्त कर दिया था, तथा वानर-राज्य की श्रेष्ठ सुन्दरी तारा भी उसे दे दी गई थी। राज्य और रमणी का आनन्द वह भोगने लगा और मैं द्वेषरहित अनुज की भांति उसकी सेवा करने लगा।"

"यह उचित ही था।"

"फिर एक बार उसका पुराना बैरी मायावी दैत्य कहीं से आकर वानर-राज्य मे उत्पात करने लगा। तिस पर बालि मुझे संग ले उससे युद्ध करने निकला। परन्तु वह दैत्य विकट वन में छिपकर युद्ध करता रहा। जिससे बालि मुझसे बिछुड़ गया। मैं एक वर्ष तक वन में बालि को खोजता रहा। फिर मैं निराश हो तथा यह समझ कर, कि बालि को मायावी ने मार डाला है, राजधानी

में लौट आया।"

"स्वाभाविक ही था।"

"तब मन्त्रियों ने मेरा राज्याभिषेक कर दिया क्योंकि राज्य विना राजा के नहीं रह सकता था।"

"यथार्थ है।"

"तब तारा भी अपने पुत्र अंगद को लेकर मेरी सेवा में आ गई। मैंने उसे अपनी महिषी स्वीकार कर लिया और अंगद को, जो वालि का पुत्र था, अपना ही पुत्र मान लिया।"

"ऐसा भी होता है।"

"परन्तु कुछ काल बाद वालि अकस्मात् राजसभा में आ उपस्थित हुआ, और मुझे सिंहासन पर आसीन देख दुर्वचन कहने लगा। मैंने उसे प्रसन्नतापूर्वक छत्र-ग्रहण करने की प्रार्थना की, तथा सत्य बात भी कह दी। पर वालि का क्रोध शान्त नहीं हुआ। उसने छत्र-ग्रहण कर एक वस्त्र मुझे दे राज्य से निकाल दिया, और तारा को भी मुझ से छीन लिया। निरुपाय मैं यहां असहाय-विपन्न रहता हूं।"

"किन्तु वालि का पराक्रम-शौर्य कैसा है?"

"वह बड़ा बली है। वह सूर्योदय से पूर्व ही उठकर समुद्र-तट तक जाता है। बड़े-बड़े शिला-खम्भों को भुजाओं में उठा लेता है। उसने अनेक दैत्य-दानवों और राक्षसों का दलन किया है। उसका बल अपरिसीम है। केवल मातंग ऋषि की आन मान यहां नहीं आता है। इसी से मैंने यहाँ आकर शरण ली है।"

"तो मित्र, तू निश्चिन्त रह। मैं वालि-वध कर तेरी राह का कंटक दूर करूंगा।"

"किन्तु मित्र, आप मेरी बात को अपना निरादर न समझें। मैं वालि के बल को तो जानता हूँ किन्तु [illegible] [illegible] से अज्ञात हूं।"

राम ने हँसकर कहा—"तो मित्र, तू मेरी परीक्षा कर।"

"मित्र, ये सम्मुख सात ताड एक ही वृत्त में हैं। वालि इन सातों को एक साथ ही हिला सकता है। बाण से एक-एक को वेध सकता है। क्या आप भी बाण से इनमें से किसी एक को फाड़ सकते हैं ?"

राम ने होठों को दांतो में दबा कर धनुप पर बाण-संधान किया और एक ही बाण से सातों ताड़ो को बींध दिया। राम का यह हस्तलाघव और चमत्कार देख सुग्रीव हर्ष से उल्लसित होकर बोला—"हे मित्र, आप तो एक ही बाण से वज्रपाणि देवराट् का भी वध कर सकते हैं। अब मैं निर्भय हुआ। मैंने जान लिया कि आप मेरे शत्रु का वध कर मुझ अकिंचन को निष्कटक करेंगे।"

राम ने सुग्रीव को गले लगा कर कहा—"मित्र, चिन्ता न करो चलो, अब किष्किन्धा चलें। विलम्ब की क्या आवश्यकता है।"

किष्किन्धा पहुँच सुग्रीव ने बालि को मल्लयुद्ध के लिए ललकारा। सुग्रीव की ललकार सुन बालि अखाड़े मे आ उपस्थित हुआ। दोनों का मल्ल युद्ध राम-लक्ष्मण छिपकर देखने लगे। देखते ही देखते बालि ने सुग्रीव को पीटपाट कर भगा दिया, और स्वयं हंसता हुआ राजधानी मे लौट गया। युद्ध मे पिट कर सुग्रीव ने खीभकर राम को उलाहना दिया—"आपने मुझे व्यर्थ ही पिटवाया और देखते रहे। इससे क्या लाभ हुआ ?"

राम ने कहा—"एक भूल हो गई थी मित्र, तेरा कोई चिन्ह न था। तुम दोनो एक जैसे ही थे। कल तू पुष्प-माला पहिन कर युद्ध कर।"

दूसरे दिन सुग्रीव बालि के राजद्वार पर जा फिर सिंह-गर्जन करने लगा। उसकी गर्जना सुन अपशब्द बकता हुआ बालि बाहर निकला। उसके नेत्र क्रोध से लाल हो रहे थे। तारा ने उसे रोकते हुए कहा—"आज तुम युद्ध मत करो, सुग्रीव की गर्जना

में अहंकार-ध्वनि है। कहीं उसे कोई सहायता न मिल गई हो। मैंने अंगद से सुना है कि दो धनुषधारी मानवों से उसने मित्रता की है। वे उसके साथ हैं।"

परन्तु वालि ने कहा—"क्या मैं शत्रु की गर्जना सुन कर घर मे बैठा रह सकता हूँ ? और आज तो मैं उसे मार ही डालूंगा। मैंने तो केवल अनुकम्पा से ही उसके प्राण बचा दिए थे।"

थोड़ी ही देर मे दोनो में मल्ल-युद्ध छिड़ गया। सुग्रीव भी आज प्राणप्रण से जुट गया। जब दोनों वीर परस्पर गुथे थे, तभी राम ने एक अग्निबाण तान कर छोड़ा, जो वालि के कण्ठ-देश को फोड़ता हुआ उसकी उरो गुहा मे धँस गया। वालि तत्क्षण मुख से खून फेंकता हुआ पृथ्वी पर गिर कर छटपटाने लगा। यह देख बहुत से वानर मन्त्री और अन्य पुरुष भी वहां जुट गए। राम लक्ष्मण उसके निकट जा पहुँचे।

राम का परिचय वालि को सुग्रीव ने दिया। राम के बाण ही से उसका पराभव हुआ है यह भी कहा। सुनकर दुःखी वालि ने कहा—

"हे धनुषधारी, तूने दूसरे से युद्ध करते हुए मुझको छिपकर मारा है। तू पराक्रमी और चरित्रवान् नहीं है, विश्वासघाती है। तू तृण से ढके हुए कुएँ के समान है। मैं तो कभी तेरे राज्य में गया नहीं, कभी तेरा कुछ अनिष्ट किया नहीं। तेरा रूप-वेश मुनिजन जैसा है, धज क्षत्रियोचित है, परन्तु तुझे धर्म का ज्ञान नहीं है। मुझ निरापराधी की हत्या करके तू अब कैसे सभ्य समाज में मुंह दिखाएगा ? अरे, महात्मा दशरथ का बहुत प्रताप मैंने अपने पिता देवराट् इन्द्र से सुना है। उस महात्मा के तेरे जैसा विश्वासघाती पुत्र कैसे उत्पन्न हुआ ? अरे, तूने सुग्रीव के हित के लिए मेरा वध किया। तू यदि अपना अभिप्राय मुझसे कहता तो मैं तेरी अभिलाषा तुरन्त पूरी करता।"

वालि के यह वचन सुन राम ने कहा—"अरे वालि, तुझे धर्म-अर्थ का यथार्थ ज्ञान नहीं है। जान रख कि इस पृथ्वी पर इक्ष्वाकु-वंशियों का अबाध शासन है। तूने अपने विनीत छोटे भाई के प्रति अन्यायाचरण किया—इसी से मैंने तुझे दण्ड दिया। तेरे जैसे अपराधी का वध छिपकर करने में दोष नहीं। हम आर्यजन ओट में होकर ही पशुओं का आखेट करते हैं। तू निर्बुद्धि भी पशु ही है।"

इसी समय अंगद का हाथ थामे तारा आकर विलाप करती हुई धड़ाम से वालि के ऊपर गिर पड़ी और बोली—"हे वीर, उठो! भूमि पर क्यों पड़े हो। अपने अनुकूल पर्यंक पर शयन करो। अरे! तुमने तो धर्मराज स्थापित कर इस किष्किंधा को सम्पन्न किया था। अब इसकी श्री कहां रहेगी? हाय, अब मैं कैसे इस दु:सह दु:ख को सहन करूंगी। अजी, तुम्हारा यह पुत्र अंगद तुम्हें पुकार रहा है। तनिक इसकी ओर तो देखो। अरे, तुम इस अपने प्राणाधिक पुत्र को छोड़ कहां जा रहे हो?"

तब हनुमान ने आगे बढ़ कर कहा—"हे रानी, अब इस प्रकार शोक करने से क्या लाभ है? जो मनुष्य स्वयं अपने दु:ख से दु:खी है, वह दूसरे पर क्या दया करेगा? तुम्हारा पुत्र अंगद तुम्हारे पास है, तुम शोक त्याग, इसका पालन करो, और भविष्य में जिससे तुम्हारा कल्याण हो वही काम करो। यह जीवन-मरण तो कर्म के साथ लगा ही है। महाराज सुग्रीव सहित, हम सब वानर और तुम्हारा पुत्र अंगद तुम्हारी सेवा में उपस्थित हैं। फिर तुम अनाथ कहां हुई? अब इस पृथ्वी का पालन अंगद करेगा। अत: राजा वालि का सत्कार कर अंगद का राजतिलक करो।"

तारा ने यह सुनकर कहा—"अरे हनुमान, यह जो पुण्य पुरुष भूमि में पड़ा है, इसके सामने सौ अंगद भी न्योछावर हैं। अब अंगद इस वानर-राज्य का स्वामी नहीं बनेगा। राज्य के स्वामी

तो अब सुग्रीव ही हैं, जो सब बातों में पारंगत हैं। अब वही राज्य संचालित करें, जिसके लिए उन्होंने भाई का वध किया। और मेरे लिए तो अब यही स्थान श्रेष्ठ है, जहां वानरराज रक्त से भरे हुए लेटे हुए हैं।"

तारा के ये करुण वचन सुन वालि बड़े कष्ट से श्वास लेता हुआ बोला—"सुग्रीव, जो होना था, वह हुआ। अब मैं इस लोक से जा रहा हूँ। पर मेरे इन अंतिम शब्दों को याद रखना। यह अंगद मेरे प्राणों का प्यारा है, इसका ध्यान रखना। अब द्वेष-भाव से क्या। तुम मेरे प्रिय भ्राता हो—यह रत्नमाला लो, जिसमें विजयलक्ष्मी निहित है। तथा तारा का ध्यान रखना, यह दिव्य दृष्टि रखती है और भावी घटनाओं के चिन्हों को जानने में पारंगत है।" फिर अंगद की ओर देख कर कहा—"पुत्र, परिस्थिति को देखते हुए दुःख-सुख सहन करते हुए, अपने चाचा सुग्रीव की आज्ञा के आधीन रहना।"

इतना कह वालि ने प्राण त्याग दिए। तारा मर्मस्पर्शी आर्तनाद करती हुई वालि के मुख को देखकर कहने लगी—"हे वानरराज, कुछ मेरा भी विचार किया? मालूम होता है यह भूमि आपको मुझसे भी अधिक प्रिय है। अरे, जिस शैया पर तुम सदा शत्रु को सुलाते थे, उसी पर आज स्वयं सो रहे हो। आज तो मैं विधवा हो गई। अब पुत्रवती होने ही से क्या? अरे, आज तुम अपने ही रक्त पर लेटे हो। अंगद, पिता को प्रणाम तो कर पुत्र!" इतना कह अंगद सहित तारा वालि के चरणों में लोट गई।

सीता की खोज में

किष्किन्धा में सुग्रीव का राज्य हो गया, और राम प्रश्रवण गिरिशृङ्ग पर रहने लगे। वर्षाऋतु आ गई थी। इसलिए अभी कुछ भी नहीं हो सकता था। प्रश्रवण पर्वत बड़ा ही मनोरम था। पर्वत पर सफेद और काले पत्थरों की चट्टानें थीं। अनेक प्रकार की खनिज धातुएँ भी बहुत थीं। सरोवरों में बड़े-बड़े कमल खिले थे। वनविहग ठौर-ठौर चहचहाते थे। निर्मल जल के अनेक झरने झर रहे थे। इस समय प्रश्रवण पर अनेक तपस्वीजनों के आश्रम-ग्राम थे। यहां चन्दन के बहुत वृक्ष थे। उस मलय-मारुत से वह स्थान निरन्तर सुरभित रहता था। किष्किन्धा यहां से निकट ही थी।

वर्षाऋतु बीत गई। शारदीय शोभा ने दिशाओं को उज्ज्वल कर दिया। राम ने लक्ष्मण से कहा—"लक्ष्मण, सुग्रीव तो राज्य और स्त्री पाकर उन्हीं में रम रहा है तथा मेरे कार्य को भूल गया है। मैं राज्य से भी निकाला गया, और मेरी स्त्री का भी अपहरण हुआ। मार्ग दुर्गम है। न जाने कौन दुष्ट चोर वैदेही को चुरा ले गया है। वह जीवित भी है या नहीं। अब मेरा धैर्य जवाब दे रहा है। मैं कब तक प्रतीक्षा करूं? मेरे अयोध्या जाने पर जन-समुदाय उमड़ पड़ेगा। तो सीता के न रहने से मैं उन्हें क्या जवाब दूंगा? ये वर्षा के चार मास मुझे सौ वर्ष के समान व्यतीत हुए हैं। मुझ राज्यभ्रष्ट को, जिसकी पत्नी हर ली गई है, सुग्रीव ने भी अनाथ की भांति भुला दिया। यह उसका विश्वासघात है। अपना काम बनाकर वह मूर्ख रनवास में

आनन्द कर रहा है। क्या उसने अपना ही काम सिद्ध करने के लिए मुझसे मित्रता की थी ? उसने तो वर्षा समाप्त होते ही सीता की खोज का वचन दिया था। परन्तु ऐसा प्रतीत होता है कि वह कामान्ध अब वह बात भूल गया है। वह मंत्रियों सहित भयानक काम कर रहा है। तुम जाकर उसे उसके कर्त्तव्य का स्मरण करा दो, और कह दो कि कहीं उसकी भी वालि जैसी दशा न हो।"

लक्ष्मण ने किष्किन्धा में पहुंचकर अपने आने की सूचना सुग्रीव को भेजी। परन्तु सुग्रीव को अन्त:पुर में सूचना पहुँचाई ही नहीं गई। तब लक्ष्मण ने धनुष पर बाण चढ़ाकर क्रोधपूर्वक अंगद से कहा—"अरे अंगद, जाकर अपने राजा सुग्रीव से कह—कि लक्ष्मण सौमित्र राजद्वार पर उपस्थित है, इच्छा हो तो बाहर आकर भेंट करे, या फिर मैं दूसरा उपाय करूं।"

लक्ष्मण के ये क्रोधपूर्ण वचन सुनकर अंगद स्वयं सुग्रीव को सूचना देने गया। पर वह मद पीकर बेहोश पड़ा था। तब अंगद ने अपनी माता तारा से लक्ष्मण के क्रुद्ध होने तथा द्वार पर उपस्थित होने की बात कही।

किष्किन्धा नगरी बड़ी भव्य थी। उसमें सुग्रीव का राज-भवन पर्वत जैसा ऊंचा था। उसमें बहुत से गवाक्ष और द्वार थे। जिनमें स्वच्छन्द पवन प्रवाहित हो रहा था। लक्ष्मण धड़धड़ाते हुए महल में घुस गए। उन्हें इस प्रकार आते देख अन्त:पुर की स्त्रियां घबड़ाकर भागने लगीं। इसी समय तारा ने सन्मुख आकर लक्ष्मण को प्रणाम किया। मद्यपान से तथा रात्रि-जागरण से उसके नेत्र घूर्णित थे। तारा को देखते ही लक्ष्मण ने धनुष नीचे कर लिया। तारा ने नम्र शब्दों में कहा—"राजकुमार, आप क्रोध को त्याग दें। सुग्रीव आपका मित्र है—हितैषी है। उसके अपराध को क्षमा, [illegible]। आपके

उपकार को वह भूल नहीं सकता। परन्तु आपको जानना चाहिए कि कामातुर आदमी धर्म, अर्थ की बात नहीं विचार सकता। इतने दिन दुःख पाने पर वह अब कामरत हो गया है, इसलिए आप उसे क्षमा कीजिए और मेरे साथ रनवास में पधारिए।"

रनवास में जाकर स्वर्ण-शैया पर सोए हुए तथा दासियों, परिचारिकाओं से सेवित सुग्रीव को मद्य के नशे में मस्त देख, लक्ष्मण ने कहा—"हे राजन्, जो राजा बली, दयालु, जितेन्द्रिय और सत्यवादी होते हैं, उन्हीं का यश संसार में फैलता है। उपकारी मित्रों से झूठी प्रतिज्ञा करनेवाले के समान अधर्म और दूसरा कोई नहीं है। सो राजन्, तुम झूठे, कृतघ्न और अनार्य हो। अपना काम करा लेने पर भी तुम अपना प्रण भूल गए। आर्य ने यह नहीं समझा था कि वे एक दुरात्मा को राज दे रहे हैं। अब तुम कहो कि तुम अपना वचन पूरा करते हो या रामचन्द्र अपना बाण धनुष पर चढाएँ।"

लक्ष्मण के ये वचन सुनकर भी सुग्रीव के मुंह से बात न फूटी। तब तारा ही ने कहा—"राजकुमार, वानरेन्द्र सुग्रीव न कपटी हैं, न विश्वासघाती। आप ऐसे कठोर वचन क्यों कहते हैं? न वह आपलोगों का उपकार ही भूला है। परन्तु, हां वह काम-पीड़ित है। उसने बहुत कष्ट भोगे हैं, अतः कामोपभोग में उसे समय का ध्यान नहीं रहा। विश्वामित्र ने घृताची के प्रेम में दश वर्ष बीतने पर एक ही की गणना की थी। वही दशा सुग्रीव की है। रूपा और मैं आपही की कृपा से उसे प्राप्त हुई हैं। वह आपके लिए राजपाट और मुझे तथा अंगद को भी त्याग सकता है। फिर, आप भी इस समय विपन्नावस्था में हैं। आपको मित्रों की सहायता की बहुत आवश्यकता है। आपका काम बिना सुग्रीव की सहायता के नहीं हो सकता। सो सुग्रीव आपकी सहायता के लिए उपस्थित है।"

इस बीच सुग्रीव को भी चैतन्य-लाभ हुआ। वह पलंग से उठ कूद कर खड़ा हो गया। लक्ष्मण और तारा की सब बातें उसने सुन लीं। कामदेव की प्रतीक पुष्पमाला तोड़ कर फेंक दी। फिर उसने कहा—"राजकुमार, श्रीराम ने मेरी गई हुई राज्यश्री मुझे लौटाई है। मैं भला कैसे उनका उपकार भूल सकता हूं।" उसने उसी समय हनुमान को बुलाकर आज्ञा दी—कि सब राज्यों-उपराज्यों के वानर और ऋक्षपति अपने-अपने यूथों सहित दस दिन के भीतर यहां राजधानी में आ उपस्थित हों। इस आज्ञा का जो उल्लंघन करेगा उसका प्राण-वध होगा। इसके बाद वह मन्त्रियों और लक्ष्मण सहित पालकियों में बैठ शङ्खध्वनि के बीच तथा वन्दीजनों द्वारा गुणगान सुनता हुआ राम की सेवा में चला।

देखते ही देखते चारों ओर से दल-बादल वानरों के यूथ प्रश्रवण पर आ आकर एकत्रित होने लगे। सुग्रीव ने सेनापति विनत को पूर्व दिशा में, हनुमान और अंगद को दक्षिण में, और अपने श्वसुर सुषेण को पश्चिम में भेजा तथा शतबलि को उत्तर दिशा में रवाना किया। सबके साथ हजारों वानरों के यूथ भी गए। इस प्रकार सारी ही पृथ्वी पर सीता की खोज होने लगी।

सीता के मिलने की अधिक संभावना दक्षिण दिशा में ही थी। इसलिए दक्षिण में जो दल युवराज अंगद की अध्यक्षता में भेजा गया, उसमें महापराक्रमी हनुमान, नील, अग्निमुख जाम्बवान, सुहोत्र, शरारित, शरगुल्म, गज, गवाक्ष, गवय, वृषभ, द्विविद, उल्कामुख, अंगद तथा अन्य और वानर थे। वे अधोमुख मलय पर्वत होते हुए ताम्रपर्णी नदी को पारकर समुद्र-तट पर पहुंचे। वहां से वे महेन्द्र पर्वत पर चढ़े। वहां से वे पुष्पितक द्वीप में गए। फिर सूर्यवान, वैद्युत और कुंजर

को पार किया। अन्त में वे नागों की राजधानी भोगपुरी में पहुँचे। उन्होंने बहुत विधि सीता की खोज की, परन्तु सीता का कुछ भी पता न लगा। सभी वानर बहुत हताश हुए। सुग्रीव ने जो अवधि दी थी—वह भी बीत चली।

अंगद ने कहा—"सुग्रीव का कार्य बिना किए लौट जाने से हमारे प्राण नहीं बचेंगे। हमारे पितृव्य सुग्रीव का स्वभाव बहुत ही कठोर है। वह अपराधी को कभी क्षमा नहीं करता। फिर मेरा तो वह प्रथम ही से विरोधी है। श्रीराम के आग्रह ही से उसने मुझे युवराज का पद दिया है। वह सबसे प्रथम मेरे ही प्राण लेगा।"

हनुमान ने कहा—"युवराज, तुम तो अपने पिता के समान ही वीर हो और वानरराज्य के अधिपति भी हो। परन्तु इस समय हम सब सुग्रीव ही के अनुगत हैं। सुग्रीव हमपर दयालु भी हैं, वे धर्मज्ञ भी हैं। इसलिए हमें यत्न से, जिस कार्य के लिए हम आए हैं, उसे करना चाहिए।"

अंगद ने कहा—"सुग्रीव कहां का धर्मात्मा है भला? जिसने अपने बड़े भाई की स्त्री को घर में डाल लिया, भाई का वध करवाया, और अपना काम राम से कराकर भी प्रमाद किया—उसे ही तुम धर्मात्मा कहते हो? मैं तो कभी उस कुटिल के सामने न जाऊंगा। वह तो निश्चय ही मेरा और तुम्हारा भी सबका वध करेगा। और मैं तो प्रथम ही से हताश हूं। मैं किष्किन्धा कदापि नहीं जाऊंगा, यहां अनशन करके प्राण त्यागूंगा। आप सुग्रीव से मेरा प्रणाम कहना, और माता रूमा तथा तारा से भी कुशल-प्रणाम कहना। माता तारा को धैर्य बंधाना। वह बेचारी तो मेरे बिना जीवित ही न रहेगी। जो हो, मैंने तो अब प्राण त्यागने का प्रण कर लिया है।" यह कह अंगद कुशा बिछा भूमि पर मौन होकर बैठ गया। वानरों का एक भी

अनुनय-विनय उसने नहीं माना। तब दुःखी हो सभी वानर हनुमान सहित अंगद के साथ प्राण देने के विचार से कुशा बिछा-बिछा कर भूमि पर बैठ गए।

वानर इस प्रकार मरण की ठान ठान भूमि पर कुशा बिछा कर बैठे ही थे कि उन्होंने देखा—एक विशालकाय वृद्ध धीरे-धीरे पर्वत से उतर रहा है। वानरों को वहां इस प्रकार बैठे तथा मरण ठान ठानते सुन वह प्रसन्न हुआ। उसने कहा—"बहुत उत्तम सुयोग है, जो-जो व्यक्ति मरता जायगा, उसका भक्षण मैं करता जाऊंगा। बहुत दिन तक भोजन की चिन्ता मिटी।"

उसे देख वानरों ने कहा—"हाय, हाय, यह कौन कृतान्त हम जीतों ही का प्राण लेने यहां आ उपस्थित हुआ। हम न सीता का ही पता लगा सके, न स्वामी ही की आज्ञा का पालन कर सके। हमसे तो अधिक भाग्यवान् गृद्धराज जटायु ही हैं, जिन्होंने सीता की प्राणरक्षा के लिए राक्षस के हाथ से प्राण दिए।"

वानरों की यह कातरोक्ति सुन कर उस पुरुष ने कहा—"अरे, यह किसने मेरे भाई जटायु का नाम लिया? और किसने मेरे भाई वीर जटायु का हनन किया? कहो, मैं जटायु का बड़ा भाई सम्पाति हूं। मैं बहुत वृद्ध हूं। सूर्य से युद्ध करते हुए वृत्रघ्न देवासुर-संग्राम में मेरे दोनों हाथ नष्ट हो गए थे। मैं हाथों से रहित, वृद्धावस्था से जर्जर, अपंग, अशक्त यहां अपने पुत्र पार्श्व के आश्रम में रहता हूं। अब तुम कहो, कौन हो, और किस अभिप्राय से यहां प्राण त्यागने का व्रत ठान बैठे हो। तुम मेरे छोटे भाई जटायु के सम्बन्ध में कुछ कह रहे थे। अब मेरे भाई का प्रिय-अप्रिय जैसा भी संदेश हो, कहो। किसने मेरे भाई जटायु के मरण की बात कही है। उसे सुनकर तो मेरे प्राण ही कांप गए हैं। दीर्घकाल से मैंने अपने भाई का समाचार ही नहीं सुना है। भाई जटायु

गुणज्ञ और पराक्रमी था। वह प्रसिद्ध पुरुष था, उसका नाम सुनकर मुझे प्रसन्नता हुई है। परन्तु तुमने कहा कि—जनस्थान में किसी दुष्ट ने उसका नाश कर डाला है। यह दारुण घटना कैसे हुई—इसका सविस्तार वर्णन मुझसे मित्र की भांति करो।"

सम्पाति के ये वचन सुन वानरों का भय दूर हुआ। उन्होंने सम्पाति को पर्वत से उतार कर पास बैठाया। तब युवराज अंगद ने कहा—"हे गृध्रराज, वानरों के राजा अत्यन्त प्रतापी ऋक्षराज मेरे पितामह थे। उनके दो पुत्र बालि और सुग्रीव हुए। मैं परम तेजस्वी राजा बालि का पुत्र अंगद हूँ। कुछ वर्ष पूर्व परम वीर दशरथात्मज श्रीराम अपने पिता के आदेश से धर्ममार्ग का आश्रय ले दण्डकारण्य में आए। उनके साथ उनके छोटे भाई लक्ष्मण और पत्नी सीता भी थी। जनस्थान से कोई दुर्दान्त राक्षस उनकी पत्नी को बलपूर्वक हरण कर ले गया है। उस आततायी को महात्मा दशरथ के मित्र आपके भ्राता जटायु ने रोका था। उन्होंने निशस्त्र ही उस दुष्ट को रोक, उसका रथ नष्ट-भ्रष्ट कर दिया और सीता को भूमि पर लाकर सुरक्षित रख दिया। परन्तु वृद्ध जटायु निरस्त्र होने के कारण उस पतित के हाथों मारे गए। तब लौटकर और सब वृत्तान्त जानकर श्रीराम ने अपने हाथों से आर्य जटायु का संस्कार-तर्पण ऋषिवत् किया। तदनन्तर उन्होंने महाराज सुग्रीव से मित्रता की तथा मेरे पिता बालि को मार सुग्रीव को वानरों का राजा बनाया। अब श्रीराम के सहायतार्थ हम सब वानर देश-देशान्तरों में सीता की खोज में भटक रहे हैं। परन्तु अभी कुछ भी खोज नहीं पायी है। खोज की अवधि भी समाप्त हो चुकी है। अब हम निराश हो प्राण देने पर सन्नद्ध हैं, क्योंकि वहां जाने पर भी हमारे प्राण नहीं बचेंगे। इसी से हमने मरण-यज्ञ करने का विचार किया है और उपवास-व्रत ले यहां समुद्रतट पर बैठे हैं।"

वानरों के ऐसे शोकपूर्ण वचन सुन सम्पाति अश्रुलोचन हो कहने लगे—"वत्स अंगद, उस चोर को मैं जानता हूँ। और मेरे भाई का वध करने के कारण अब वह मेरा भी वैरी है। परन्तु वह दुष्ट चोर साधारण पुरुष नहीं है। मै दुःखित, वृद्ध तथा अपंग हूं। अशक्त हूं। इस अभियान मे मैं तुम्हारी अधिक सहायता करने मे असमर्थ हूं। हां, तुम्हें उस चोर का पता बता सकता हूं। सुनो, मैं वरुणलोक से परिचित हूँ। पहिले वहीं हमारा निवास था। बलिबन्धन और वृत्रवध मेरे सम्मुख ही हुआ था। देवासुर-युद्ध मे हम दोनो भाई—मैं और जटायु युद्ध करते हुए सूर्यदेव के निकट पहुँच गए थे। तब सूर्य के आक्रमण से भाई जटायु की रक्षा करते हुए मेरे दोनों हाथ टूट गए थे। तभी से मैं अपने पुत्र के आश्रय में रहता हू। अब मै तुम्हें एक घटना सुनाता हूं।"

"एक दिन मैं बहुत भूखा था। मेरा पुत्र मेरे लिए आखेट ढूंढने गया था। प्रातःकाल से सायकाल तक मैं बाट देखता रहा—परन्तु वह नहीं लौटा। और जब लौटा तो खाली हाथों। उसको इस प्रकार देख, मैं भूख और क्रोध से व्याकुल हो—खाली हाथ लौटने का कारण पूछने लगा। तब उसने मुझे बताया कि मैं आपके लिए आहार पाने के विचार से महेन्द्र पर्वत के मार्ग को रोक कर बैठ गया था। मैं समुद्र के जीवों को रोकने की चेष्टा में सिर नीचा किए बैठा था कि मैंने देखा—एक कृष्णवर्णी पुरुष एक सुन्दरी बाला को दबाव लिए जा रहा है। मैंने उन दोनों को आपके आहार के लिए पकड़ लाने का निश्चय किया। किन्तु वह कृष्णवर्णी पुरुष मेरे मार्ग रोकने पर हाथ जोड़ कर कहने लगा—"गृद्धपति, मैं मुनि-कुमार हूं। तुम कृपाकर मेरी राह छोड़ दो।" उसकी प्रार्थना पर, मैंने उसे मार्ग दे दिया, क्योंकि विनय करने वाले पुरुष को मैं नहीं मारता। इसके बाद वह पुरुष अपने

तेज से आकाश-मार्ग को प्रकाशित करता हुआ चला गया। यह चमत्कार मैं देखता ही रह गया। वह स्त्री अलंकार-विहीना, पीत वस्त्रधारिणी, अति व्याकुल हो—हा राघव, हा दाशरथि राम, हा सौमित्र—कह-कह कर विलख रही थी। उसके केश खुले थे, और वह भय से पीली पड़ रही थी। फिर भी उसके सौन्दर्य से दिशाएँ भासित हो रही थीं।"

"पुत्र से यह सदेश सुन मैंने कहा—यदि वह स्त्री दाशरथिराम को पुकार रही थी—तो अवश्य ही वह हमारे मित्र दशरथ की कुल-स्त्री होगी—तूने उस हरणकर्त्ता को पकड़ा क्यों नहीं ?" पुत्र ने कहा–"हन्त, मैं नृपेन्द्र दशरथ की मैत्री की बात नहीं जानता था। इसी कारण मेरी इनमें रुचि नहीं हुई। सो अब मैं भलीभांति समझ गया कि तुम उसी स्त्री की खोज मे निकले हो। और उस पतित चोर को भी मैं भलीभाति जानता हू। उसका पता मुझे आकाशचारियों और सिद्धो से पीछे लगा, जिन्होंने उसे हरण की हुई उस स्त्री को ले जाते हुए मेरे पुत्र की भांति देखा था।"

सम्पाति के ये वचन सुन कर अगद ने कहा—"आर्य, अधिक का प्रयोजन नहीं है। आप केवल हमें उस चोर का पता बता दीजिए। फिर हम उससे निबट लेंगे।"

सम्पाति ने कहा—"सुनो, तुम्हारा वह चोर, और मेरे भाई का हत्यारा पुरुष विश्रवा मुनि का पुत्र पौलस्त्य रावण है। वह धनपति कुवेर का भाई और सप्तद्वीपों का स्वामी है। उसका बल-वीर्य अपार है, और त्रैलोक्य को जय करके वह अब महिदेव बन गया है। उसने रक्ष संस्कृति स्थापित की है। वह जैसा महारथी अजेय योद्धा है, वैसा ही विश्रुत वेदज्ञ है। वह धर्म, नीति, विज्ञान, कला और अर्थ-शास्त्र का महाज्ञाता है। यहां से सौ योजन की दूरी पर समुद्र मे एक द्वीप है। जिसमें त्रिकूट-शिखर पर स्वर्ण-लकापुरी बसी है। उस नगरी

के द्वार, चतुष्पद, दीवार, भवन स्वर्णमण्डित हैं, जो सूर्य के प्रकाश में सूर्य के ही समान देदीप्यमान रहते हैं। ऐसा प्रतीत होता है जैसे शतसहस्र सूर्य वहां उदय हो रहे हैं। वह राक्षस-पुरी लंका दुर्लंघ्य, दुर्धर्ष, दुर्गम्य और दुष्प्रवेश है। एक लाख राक्षस योद्धा रात-दिन नगर-द्वारों पर पहरा देते हैं, उनका बल अमोघ है। अभी तो रावण ने देवराट् इन्द्र को बन्दी किया था। उसने उससे दास्य कर्म कराकर मुक्त किया है। अरे, जिन देवों को पृथ्वी का नृवंश पूजता है, वे उसकी ड्योढ़ी पर दासभाव से रहते हैं। उसका भाई कुम्भकर्ण पर्वतशृंग के समान विशालकाय, महाभक्ष, महोदर, महाप्राण है। उसके सम्मुख काल भी नहीं ठहर सकता है। फिर उसका पुत्र इन्द्रजित मेघनाद है—जिसके सम्बन्ध में सुना है कि उसे सब दिव्य माया-शक्तियां प्राप्त हैं। यह परिवार भूतपावन भगवान् रुद्र द्वारा रक्षित है। फिर उसकी सेवा में अनगिनत राक्षस भट हैं। सो हे वानरो, तुम कैसे इस विकट शत्रु से पार पाओगे।"

सम्पाति के ये वचन सुन सब वानर सन्न रह गए। तब अंगद ने धीर वाणी से कहा—"आर्य, ऐसे धीर, वीर, प्रतापी, विद्वान् महिदेव और सप्तद्वीपाधिपति ने कैसे यह निन्दनीय चौर-कर्म किया ? यह तो बड़े ही आश्चर्य की बात है। परन्तु जो हो, हम प्राण देकर भी लंका जाएंगे और प्रभु-कार्य करेंगे। आप हमें वहां जाने का उपाय बताइए।"

"बताता हूं। ध्यान से सुनो। प्रथम आकाश-मार्ग है। आकाश-मार्ग के सात स्तर हैं। प्रथम स्तर पर गौरैया, कबूतर आदि अन्नभक्षी पक्षी उड़ते हैं। इसके ऊपर दूसरा स्तर है, जहां वृक्षों के फल खानेवाले तोता, कौआ आदि पक्षी उड़ते हैं। उससे ऊपर तीसरे स्तर पर चील, क्रौंच, कुरर उड़ते हैं। बाज, गृद्ध क्रमशः चौथे और पांचवें स्तर तक पहुंचते हैं। अत्यन्त सुन्दर

पक्षी हंस उनसे भी ऊपर छठे स्तर पर उड़ता है। परन्तु सब से ऊंची और वेगशाली गति गरुड़ों की है जो सातवें स्तर पर आकाश गमन करते हैं। मेरा जन्म भी गरुड़-कुल में हुआ है और हम मांस-भुक् जाति के पुरुष हैं। हमारी दृष्टि सौ योजन तक जाती है। यदि मैं आज साधनसम्पन्न होता तो आकाश-मार्ग से जाकर अनायस ही तुम्हें लंका का संदेश ला देता। परन्तु अब तो यह दुस्तर है। फिर भी रावण से मुझे अपने भाई का वैर लेना है। सो यदि तुम में से कोई वानर भट विकट साहसिक हो तो मैं उसे समुद्र-उल्लंघन करने की सहज विधि बता दूंगा। समुद्र पार होने पर लंका में जा वह सुभट कृतकृत्य हो सकता है।"

अंगद ने कहा—"आर्य सम्पाति, आप हमें वह विधि बताइए जिससे यह दुर्लंघ्य सागर पार कर हम लंका में पहुंच सकें।"

सम्पाति ने कहा—"अच्छा, यह रहस्य लंकाधिपति रावण भी नहीं जानता है। वह मैं तुम्हें बताता हूं। देखो—समुद्रतट से धनुष्कोटि के अन्तर पर गृध्रकूट गिरिशृंखला त्रिकूट तक समुद्र-गर्भ में जलमग्न चली गई है। स्थान-स्थान पर वहां विश्राम करने की सुविधा है। जो कोई साहसी वीर सौ योजन समुद्र को इस भांति तैर कर उल्लंघन करने की शक्ति रखता हो उसे इस गिरि-शृंखला से बहुत सहारा मिलेगा और वह अवश्य ही अपने विक्रम से समुद्र के पार पहुंच जायगा।"

सम्पाति के ये गूढ वचन सुन सब वानर उसे प्रणाम कर समुद्रतट की ओर सीता की खोज के लिए उत्साहित हो चल